महाकविकालिदासविरचितम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

[उपयोगी भूमिका, संस्कृत टीका, छात्रहितैषिणी टिप्पणी अन्वयादि सहित]

—डॉ॰ राममूर्ति शर्मा

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

[संस्कृतटीका, हिंदी अनुवाद, छात्रहितैषिणी टिप्पणी, अन्वय एवं उपयोगी भूमिका सहित]

सम्पादक :

डा० राममूर्ति शर्मा 'शास्त्री'

एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच. डी., डी. लिट

संस्कृत, हिन्दी विभाग,

के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद।

प्रकाशक :

साहित्य भण्डार, मेरठ।

* निवेदन *

अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रस्तुत संस्करण बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। लेखक आगरा विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग का अत्यन्त कृतज्ञ है कि उसने इस संस्करण को बी० ए० प्रथमवर्ष के परीक्षार्थियों के लिए संस्तुत किया है।

इस संस्करण के अन्तर्गत विशेष रूप से निर्णय सागर-संस्करण, काले के संस्करण, बंगाला-संस्करण और श्री गुरु प्रसाद शास्त्री के संस्करण का आश्रय लिया गया है। इन संस्करणों के रचयिताओं के प्रति लेखक द्वारा आभार-प्रदर्शन स्वाभाविक ही है।

वर्तमान संस्करण के अन्तर्गत संस्कृत मूल पाठ के साथ-साथ प्राकृत को भी स्थान दिया गया है। श्लोकों एवं गद्य का हिन्दी अर्थ उसी के सामने दिया गया है, जिससे कि विद्यार्थियों को ढूंढने में कठिनाई न हो। श्लोकों का अन्वय भी श्लोकों के साथ ही दिया गया है। इसके अतिरिक्त मूल पाठ एवं हिन्दी अर्थ के नीचे जो टिप्पणी दी गई है, उसमें छन्द-सम्बन्धी, अलङ्कार-सम्बन्धी, व्याकरण-सम्बन्धी एवं नाट्यकला सम्बन्धी विशेषताओं का निरूपण किया गया है। यत्र-तत्र पाठभेद का निरूपण भी इस टिप्पणी के अन्तर्गत किया गया है। पुस्तक के आरम्भ में कुछ परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं, पुस्तक परीक्षोपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन परिशिष्टों में पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण एवं सूक्तियों की व्याख्या आदि प्रस्तुत की गई है।

भूमिका किसी भी कृति का प्राण होती है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में एक विस्तृत भूमिका जोड़कर लेखक ने परीक्षा की दृष्टि से सम्भावित प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अन्य शाकुन्तलाओं की अपेक्षा यह इस ग्रन्थ की पूर्णता है, यह कहने का अधिकार प्रस्तुत लेखक को नहीं है, इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही कर सकेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ को तैयार करते समय आचार्य पद्मनारायण त्रिपाठी, डॉ० हरिदत्त शास्त्री, डॉ० सत्यनारायण पाण्डेय, प्रो० बाबूराम पाण्डेय, प्रो० एल०

सी० कौशिक एवं प्रो० निरूपण विद्यालंकार से जो परामर्श एवं प्रेरणा मिली है, उसके लिये लेखक इन आदरणीय विद्वानों का अत्यन्त कृतज्ञ है। एम० ए० प्रथम वर्ष के छात्रों—वेदप्रकाश एवं लेखराम विद्यालंकार से भी लेखक को लिपि-कार्य आदि का सहयोग मिला है। इसके लिये लेखक इन अन्तेवासियों के प्रत्येक साफल्य की कामना करता है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री रतिराम जी शास्त्री अब संस्कृत जगत् में नये नहीं हैं। उन्होंने बड़े यथेष्ट प्रयत्न से पुस्तक को सुसंस्कृत ढङ्ग से प्रकाशित करने का कार्य संभाला है। फिर भी प्रूफ-संशोधन-सम्बन्धी त्रुटियों का पाया जाना असम्भव नहीं है। अतः यह लेखक प्रूफ-सम्बन्धी एवं अन्य त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी है। जो पाठक प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में अपने सुझाव देने की कृपा करेंगे, लेखक विशेष रूप से कृतज्ञ रहेगा।

शिव-त्रयोदशी,
शिव–निवास
के० जी० के० कालिज,
मुरादाबाद।

—राममूर्ति शर्मा

भारतीय संस्कृति के पोषक, महामानव एवं

शील-सौम्यता की उदात्त मूर्त्ति

स्व० प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री

को

पुण्य-स्मृति

में

नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो धाराओं को लेकर विचार विमर्श हुआ है। एक पौराणिक दृष्टि से दूसरे बौद्धिक तर्कना से। पौराणिक दृष्टि से तो सम्भवतः एक आचार्य भरत का ही मत प्राप्त है। परन्तु आज आलोचना का युग है हर विषय की तरह इस विषय पर भी आलोचक विद्वानों ने यथाशक्ति परिश्रम करके अपनी-अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर, पिशेल, कीथ, विन्ट्रनिट्ज, प्रो० ल्यूडर स्कैंटे, ओल्डन बर्ग, डा० हरप्रसाद शास्त्री और डा० सी० वी० गुप्ता आदि के मत विचारणीय हैं। पहिले आचार्य भरत का नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत आया हुआ मत देकर इन विद्वानों के तर्कप्रतिष्ठित मतों का उल्लेख करेंगे।

आचार्य भरत का दृष्टिकोण—

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा कही है कि एक बार अनध्याय के दिन आचार्य भरत जब सन्ध्यादि से निवृत होकर अपने शिष्यों के साथ बैठे हुए थे तो आत्रेयादि कुछ मुनि उनके निकट पहुँचे और उन्होंने आचार्य से पूछा—

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन् उत्पन्नः कस्य वा कृते।
कत्यङ्गः किं प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः॥

अर्थात् हे गुरुदेव ! इस नाट्यवेद की उत्पत्ति किस प्रकार और किस लिये हुई है। इसके कितने अंग हैं, क्या प्रमाण और इसका प्रयोग किस प्रकार का है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भरत ने कहा कि नाट्यवेद की उत्पत्ति पिता ब्रह्मा से हुई है। सतयुग के स्वायम्भुव मन्वन्तर के बीत जाने पर त्रेता युग का वैवस्वत मन्वन्तर प्रारम्भ हुआ। जन साधारण की प्रवृत्ति भी सतोगुणोन्मुखी न होकर रजोगुणोन्मुखी हो गई। इसी समय इन्द्रादि देवता ब्रह्मा जी के पास पहुंचे और प्रार्थना की महाराज ! ऐसा 'क्रीडनीयक' चाहते हैं जो द्रष्टव्य भी हो एवं नाट्य भी। साथ ही जिसकी उपयोगिता शूद्रों के लिये भी हो। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण नाट्यवेद को पंचम वेद कहा गया है। ब्रह्मा जी ने देवताओं की यह प्रार्थना सुन ली और वेद चतुष्टय का स्मरण करते हुए पंचम वेद की रचना की।

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ ना० ॥१॥ /१७

अर्थात् ऋग्वेद से पाठ्य, समावेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर इस पंचम वेद की रचना की।

नाट्यवेद की इस प्रकार सृष्टि करके ब्रह्मा जी ने इन्द्र से कहा कि वे इस पंचम वेद का रहस्य अन्य देवों को समझा दें। इस पर इन्द्र ने उत्तर दिया—

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तमः।
अशक्ता भगवन् देवाः अयोग्याः नाट्यकर्मणि ॥

अर्थात् हे भगवन् ! देवता इस नाटक के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में असमर्थ हैं और नाट्यकर्म में अयोग्य हैं। इन्द्र ने यह कहा कि महाराज वेद के रहस्य को जानने वाले व्रती मुनि लोग ही इसके उपदेश के अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार सोच-विचार कर उन्होंने यह कार्य महर्षि भरत को सौंप दिया। तदनुसार भरत ने नाट्यवेद के सब अंगों का वितरण अपने शत पुत्रों में कर दिया। आचार्य ने पहले भारती, सात्वती और आरभटी नामक ३ वृत्तियां ही अपने अभिनय के लिये रची थीं। फिर बृहस्पति जी के अनुरोध से उन्होंने कौशिकी वृत्ति की रचना भी कर डाली। कौशिकी वृत्ति के निर्वाह के लिये अभिनेत्रियों की आवश्यकता पड़ी और उन्होंने इस समस्या को ब्रह्मा जी के समक्ष रखा। इसके लिये ब्रह्मा जी ने आचार्य भरत को मंजुकेशी, सुकेशी आदि कई अप्सराएं दीं। इसके अतिरिक्त वाद्य-यन्त्र भी उन्होंने भेजे। नारद तथा कुछ गन्धर्वों को भी नाट्यवेद की सफलता के लिये नियुक्त किया गया। इसी बीच में इन्द्रध्वज महोत्सव आ पहुँचा। नाट्यवेद के जन्मदाता ब्रह्मा ने इस उत्सव को अभिनय के लिये सुअवसर समझकर 'दैत्य-मानव' नाटक खेलने का प्रस्ताव रखा और देवताओं ने प्रसन्न होकर नाटक के अभिनय को सफल बनाने के लिये वचन दिया। इन्द्र ने अभिनय की सफलता के लिये ध्वज, ब्रह्मा के कमण्डलु, वरुण ने शृङ्गार, सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने व्यंजन, विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा माता सरस्वती ने श्रवण-योग्यता प्रदान की। रस, भाव, रूप और क्रिया आदि का भार भरत के पुत्रों को सौंपा गया। नाटक का प्रारम्भ होते ही दैत्य लोग क्रुद्ध हो गये। क्रुद्ध होकर उन्होंने माया बल से अभिनय में बाधा डाली। जिसके फलस्वरूप नर्तकों की वाणी, उनकी नृत्य-क्रिया और पाठ सब अकस्मात् रुक गया। इस विघ्न को देखकर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपने ध्वज से दैत्यों को जर्जरित कर दिया। उसी दिन से इन्द्रवज्र का नाम 'जर्जर' पड़ गया। यह अभिनय तो किसी प्रकार सफल हो गया। परन्तु इसके पश्चात् भी भरत मुनि जब कभी अभिनय का यत्न करते तो दैत्य लोग उसमें अनेक विघ्न डालते। एक दिन आचार्य दुखित होकर ब्रह्मा जी के पास पहुंचे और बोले कि दैत्यों ने नाटक को उखाड़ने का निश्चय किया है, अतः इसकी रक्षा-विधि बतलाइये। इस पर ब्रह्मा जी ने विश्वकर्मा से एक सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्यशाला बनाने को कहा। विश्वकर्मा ने अचिरकाल में ही नाट्य-मण्डप बनाकर खड़ा कर दिया। नाट्यशाला का निर्माण हो जाने पर ब्रह्मा जी देवताओं के साथ उसे देखने गये। देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समस्त देवताओं को उसकी रक्षा का भार सौंप दिया। मण्डप की

रक्षा का भार देव चन्द्रमा को, चारों दिशाओं की रक्षा का भार लोकपालों को और विदिशाओं की रक्षा का भार मरुत देव पर सौंपा। नेपथ्यभूमि की रक्षार्थ वरुण नियुक्त किये गये। अग्नि देवता का कार्य वेदी की रक्षा करना नियुक्त किया गया। वाद्यों की रक्षा का भार अन्य देवताओं को दिया गया। चारों वर्णों के अधिष्ठाता चारों स्तम्भों पर निर्धारित कर दिये गये। १२ आदित्य और ११ रुद्र स्तम्भों के मध्य में स्थित किये गये। शालाओं में अप्सरायें रख दी गईं। साथ ही उनकी रक्षा के लिये रक्षिणियों की भी नियुक्ति की गई। भूमि के पीछे सागरों का निर्माण किया गया। द्वारशाला पर स्वयं ब्रह्मा जी की स्थापना की गई। द्वार के दोनों ओर महाकाल तक्षक और वासुकि नागराज की नियुक्ति की गई। देहली पर यमदण्ड की स्थापना की गई। रंगपीठ के समीप स्वयं महेन्द्र शोभायमान हुए। रंगपीठ के ऊपर मत्त वारुणी में दैत्यों का विनाश करने वाली शक्ति की स्थापना की गई।

इसके अतिरिक्त यक्ष, पिशाच और गुह्यक आदि नियुक्त किये गये। दैत्यों को जर्जरित करने वाला इन्द्रवज्र भी स्थापित किया गया। उस वज्र के पहिले पोर में ब्रह्मा, दूसरे में शङ्कर, तीसरे में विष्णु, चौथे में स्कन्द, पांचवें में शेषनाग, वासुकि और तक्षक विशालनाग नियुक्त किये गये। रंगपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्मा जी प्रतिष्ठित हो गये। इसीलिये रंगपीठ के मध्य में फूल चढ़ाने की प्रथा है।

कुछ ऐसे पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् हैं जो भारतीय नाटक की उत्पत्ति वेद कालीन धार्मिक वातावरण के द्वारा सिद्ध करते हैं। यहां उन विद्वानों की विचार-चर्चा करके इस विषय पर विवेचन करेंगे।

Maxmullar (मैक्समूलर) का मत

मैक्समूलर महोदय भारतीय नाटक की उत्पत्ति ऋग्वेद के संवादों से मानते हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिये उन्होंने ऋग्वेद के कुछ संवादों को उद्धृत किया है। जिनमें से पुरुरवा और उर्वशी, अगस्त्य और लोपमुद्रा और उनके पुत्र के संवाद उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र, इन्द्राणी और सरमा और पणि के वादविवाद भी नाटक की उत्पत्ति का कुछ संकेत देते हैं, इन्होंने ऋग्वेद के १·१६५ (SBEXXX-11, 182) के आधार पर यह भी सिद्ध किया है कि बलिदान के अवसर पर मरुत-देवता के लिये संवादों की पुनरावृत्ति होती थी। पुनरावृत्ति का कारण भावावेश के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं है। फिर यदि भावावेश में वीर, शृङ्गार और करुण के अनुरूप यदि ऐसे अवसर पर तत्तद्भावों की जागृति हो जाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। इस आधार पर नाटक की उत्पत्ति इन संवादों से मानना मिथ्या कल्पना नहीं की जा सकती। दशरूपककार ने लिखा है :—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् (दशरूपक १/७)"

अर्थात् अवस्थाओं का अनुकरण ही नाटक है। इस उपर्युक्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट ही है कि उत्सवों के अवसरों पर कौतूहलपूर्ण संवाद होते थे और उन संवादों में वास्तविक मानविक मनोवृत्ति के अनुसार उत्तेजनायें भी रहती थीं। इन्हीं वास्तविक उत्सवों से आकृष्ट होकर यदा-कदा किसी छोटी-मोटी कथा का सोमविक्रयोत्सव की तरह आयोजन किया जाता होगा और फिर इसी तरह ये आयोजन समय-समय पर प्रोत्साहित होते रहे होंगे। इन्हीं संवादों में फिर गीत और नृत्य का मिश्रण भी कर लिया होगा। यह भी सिद्ध ही है कि वैदिक काल में गायन-कला का भी विकास हो चला था। सामवेद के कितने ही स्थल इस बात के प्रतीक हैं। संगीत ही नहीं वैदिक काल में नृत्य-कला का भी पूर्ण प्रचलन था। स्त्रियां भी इन कलाओं में पारंगत थीं। ऋग्वेद ही नहीं अथर्ववेद में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं।

"Le Theatre Indi n Paris" नामक ग्रन्थ में Hexi महोदय ने भी इस बात का संकेत किया है कि वैदिक कालीन संस्कृति में गायन और नृत्यकला का समावेश था। उस समय भी ये कलायें पूर्णतया संवर्द्धित थीं। इस सम्बन्ध में इतना और कह दें कि लेवी महोदय की वेदों में संगीत-कला और नृत्य-कला की खोज मैक्समूलर महोदय की खोजपूर्ण दृष्टि का भाजन न बन सकी थी, इसका श्रेय लेवी महोदय को ही देना ठीक होगा।

इस उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वैदिक काल के संगीत, नृत्य, सोमपान, संवाद और स्वागत-कथन के वातावरण में भारतीय नाटक का विकास हो चुका था। उसके संवर्धनशील शरीर की रूपरेखा में अपेक्षित परिवर्तन होते रहे।

प्रो० हर्टेल ने भी कुछ मतभेद के साथ उपर्युक्त विद्वानों के ही मत का समर्थन किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के ही संवाद बहुत कुछ रहस्यात्मक नाटकों की तरह होते थे। जब वे विविध लोगों द्वारा गाये जाते थे तो उनमें नाटकीयता आ जाती थी। इस प्रकार रहस्यात्मक ढंग से नाटकों का अस्तित्व ऋगवेद में प्राप्त है। इसके उदाहरण में उन्होंने सुपर्णाख्यान का उल्लेख किया है। उनका यह भी कहना है कि ऋगवेद में संवाद सदैव नृत्य के साथ प्रदर्शित किये जाते थे। किन्तु उनकी इस बात का कुछ प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त मत का समर्थन विन्दिश एवं ओल्डन बर्ग आदि विद्वानों ने भी किया है। इन विद्वानों का कथन है कि वैदिक पद्यात्मक सूत्रों के साथ गद्यांश भी जुड़े हुये थे जो अब प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक संहिताओं में अथवा ऋग्वेद में ही नाटकों का पूर्णरूपेण विकास हो चुका था।

विद्वानों के एक वर्ग ने नाटक की उत्पत्ति स्वांगों से सिद्ध करने का भी यत्न किया है और इस कोटि के विद्वानों में हिलेब्रां और स्टेनकोनो नामक विद्वान् आते

है। इन विद्वानों ने Pantomimic Plays के आधार पर भारतीय नाटक का विकास स्वांग प्रथाओं के आधार पर सिद्ध किया है उन्होंने कहा है कि लौकिक स्वांगों से धार्मिक नाटकों का विकास हुआ और फिर धार्मिक नाटकों से ही आज के नाटकों की परम्परा चल पड़ी। कुछ विद्वान् शैलूष शब्द का अर्थ लगाकर यह सिद्ध करते हैं कि वेदों में नाटक की उत्पत्ति के संकेत मिलते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह है कि वेद में इस शब्द का प्रयोग नाटक के अर्थ में नहीं हुआ है। ऐसा कहना केवल एक भ्रांत धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण कि वेद में इस शब्द का प्रयोग केवल गायक अथवा संगीतज्ञ के अर्थ में किया गया है। हां, इस सम्बन्ध में यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति नहीं है कि बाद के युग में शैलूष शब्द का अर्थ नट खुले रूप से अंगीकार कर लिया गया।

नाटकों का सूत्रपात महाकाव्यों से कैसे हुआ ?

कुछ अन्वेषक विद्वान् जिनमें से Olden Burg (ओल्डन बर्ग) प्रमुख हैं, का कथन है कि नाटकों का विकास महाकाव्यों की गेयता के आधार पर सिद्ध किया गया है। Keith ने उनके इस मत का और अधिक विस्तार किया है। कीथ महोदय का कथन है कि महाभारत और रामायण में जहां कहीं भी नट अथवा नाटक शब्द आया है वहां उसका अर्थ नर्तक किया गया है। दूसरी शती के हरिवंश पुराण में रामायण का नाटक रूप में संकेत मिलता है अपने मत की पुष्टि के रूप में कीथ ने सांची के स्तूप की ओर संकेत किया है। जहां पर कुछ कत्थक नृत्य करते हुए, गाते हुए, तथा किसी काव्य का पाठ करते हुए चित्रित किये गये हैं। उनका दूसरा तर्क यह है कि भरत शब्द का प्रयोग हास्यात्मक अभिनेता के लिये ही प्रयुक्त होता था। आगे चलकर भरत शब्द का प्रयोग सामान्य अभिनेता के लिये प्रयुक्त होने लगा और क्रमशः नाटकों का विकास हुआ।

कीथ महोदय का इस सम्बन्ध में दूसरा कथन यह है कि भरत शब्द का अपभ्रंश ही भाट शब्द है। जिनका कार्य आज वही है जो वैदिक काल में भरतों का था। इस प्रकार कीथ महोदय अपने इन तर्कों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाटकों का विकास क्रमशः महाकाव्यों में प्राप्त नृत्य एवं संगीतात्मक पारायणों के सहारे हुआ। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने रामायण के कुशीलव शब्द को भी लिया है। उनका कहना है कि रामायण में कुश और लव बाल्मीकि द्वारा रचित रामवृत का संगीतात्मक पाठ करते हुए दिखाये गये हैं। उसी तरह रामायण के अभिनयात्मक पाठ करने वालों को 'कुशीलव'' कहा जाने लगा। परन्तु बाद में यही शब्द निम्न कोटि के स्वांग आदि करने वाले अभिनेताओं के रूप में अपकर्ष को प्राप्त हुआ। अपने मत के समर्थन में कीथ ने पाणिनि, पतंजलि आदि के उद्धरणों का

उल्लेख किया है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में दो नट सूत्रों (नाट्य-शास्त्रों) का निर्देश किया है। एक के निर्माता शिलाशिन् थे एवं दूसरे के कृशाश्व (पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः (अष्टा० ४/३/११०) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (अष्टा० ४/३/१११) इसी तरह महर्षि पतंजलि विरचित महाभाष्य में कंस-वध नाटक का संकेत मिलता है, इससे यह प्रकट होता है कि नाटक का उदय हमारे यहां बहुत पहिले हो चुका था।

अभी हमने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार किया उसमें धार्मिक आधार पर ही भारतीय नाटक की उत्पत्ति और उसकी विकासावस्था पर प्रकाश पड़ा। इसके अतिरिक्त कुछ लौकिक आधारों पर भी नाटक की उत्पत्ति खोजी जा सकती है। तदर्थ इस दिशा में विद्वानों ने पर्याप्त अनुसंधान एवं अन्वेषण भी किये हैं। अभी ऊपर प्रो० स्टेनकोनो और हिलेब्रां के मत का उल्लेख किया जा चुका है। इन दोनों विद्वानों ने सबसे पहिले स्वांग-प्रथाओं एवं Ritral Dramas के आधार पर लौकिक स्थितियों के सहारे नाटक की उत्पत्ति बतलाई थी। उनका कहना है कि हो सकता है कि नाटकों की उत्पत्ति में कई का हाथ रहा हो। परन्तु उस समय भी लौकिक स्वांग (Panto Mimic Plays) वर्तमान थे। हिलेब्रां साहब का कथन है कि प्रहसन नाटक मनुष्य की स्वाभाविक उपज है। मनुष्य में जो सुखोपभोग की आदिम प्रवृत्ति है। उसमें उसका विकास होता है। नाटकों की लौकिक उत्पत्ति सम्बन्धी मतों को पुष्ट करते हुए उन्होंने दूसरा तर्क यह दिया कि भारतीय नाटकों की सरलता अथवा आडम्बर-विहीनता, विदूषक का लौकिक रूप तथा विविध प्रकृतियों का प्रयोग आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त उनका तीसरा तर्क यह है कि नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार और नटों की सत्ता भी लौकिक उत्पत्ति का समर्थन करते हैं।

पिशेल का कठपुतली वाला मत :—

पिशेल महोदय ने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के लौकिक प्रदर्शन से हुआ। उनका कहना है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में कई स्थल पर कठपुतलियों के खेल की चर्चा की गई है, उदाहरण के तौर पर बाल-रामायण और महाभारत लिये जा सकते हैं। इनसे प्रकट हो जाता है कि खेल से ही लोगों को अभिनय करने की प्रेरणा मिली होगी। उनका दूसरा तर्क यह है कि संस्कृत नाटकों में जो सूत्रधार शब्द पाया जाता है उसका उदय कठपुतलियों के खेल से ही हुआ है। जिस प्रकार कठपुतलियों के खेल में उनका अभिनय कराने वाला सूत्र धारण कराता है। उसी प्रकार नाटकों के व्यवस्थापक को भी सूत्रधार कहा जाने लगा।

प्रो० ल्यूडर का मत :—

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रो० ल्यूडर का मत भी अन्वेषण जनित प्रतीत होता है। उनका कथन है कि प्राचीन भारत में छाया नाटक खेले जाते थे। उत्तर रामचरित में भी एक स्थल पर सीता की छाया की ओर संकेत किया गया है। प्रो० रिजवे का कथन है कि मृतक वीर पूजा के आधार पर नाटकों की उत्पत्ति हुई है। इनके अनुसार वीर पूजा की प्रवृत्ति मानव में पुरातन है। आदिम काल से ही मानव की यह प्रवृत्ति रही है कि वह पूर्व पुरुषों की समाधि पर, उनकी जन्म-तिथि पर, उनके क्रिया-कलापों का अभिनयात्मक वर्णन करता रहा है। इन्हीं समाधि संकीर्तनों से आगे चलकर नाटकों का विकास हुआ।

'कालिदास का समय'

संस्कृत काव्य-जगत् के सम्राट् कवि कालिदास के काल-निर्णय के सम्बन्ध में जो संदिग्धा बनी आ रही है, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। इसका प्रमुख कारण यही है कि प्राचीन काल के कवि एवं समालोचक आज के कवियों एवं समालोचकों की तरह लोकेषणा के इतनी बुरी तरह शिकार नहीं होते थे, जो कि कृति-प्रणयन के पूर्व ही अपना जीवन-चरित प्रकाशित करवा देते हैं। इसी लिये कालिदास ने अपने ग्रन्थों में समयादि की चर्चा नहीं की है।

कालिदास के काल-निर्णय के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख मत विशेष रूप से विचारणीय हैं। इन मतों में गुप्त-काल वाला मत (चतुर्थ शताब्दी का मत), छठी शताब्दी का मत, ज्योतिष पर आधारित मत, अश्वघोष के प्रभाव पर आधारित मत एवं प्रथम शताब्दी ई० पूर्व का मत विशेष रूप से विचार योग्य है। यहाँ इन तीनों मतों के सम्बन्ध में समीक्षा की जायेगी।

गुप्त-काल वाला मत :—(चतुर्थ शताब्दी का मत)

संस्कृत साहित्य के महान् समीक्षक विद्वान् कीथ इसी मत के समर्थक हैं। उन्होंने कालिदास का समय ४०० ई० के लगभग मानते हुए लिखा है—

"Kalidas then lived before A. D. 472, and probably at a considerabe distance, so that to place him about A. D. 400 seems completely justified."

कीथ महोदय का विचार है कि शकों को भारत से निकालने वाले एवं विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्ववर्ती मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से प्रचलित करने वाले द्वितीय गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५-

४१३) विक्रमादित्य थे। गुप्तकाल वाले मत अर्थात् चतुर्थ शताब्दी के मत के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो युक्तियां दी हैं वे इस प्रकार हैं :—

१–कालिदास द्वारा की गई कुमारसम्भव की रचना का आधार चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त का जन्म है।

२–कालिदास द्वारा गुप् धातु का प्रयोग अनेक बार किया गया है (देखिये रघुवंश १/५५, २/२४, ४/२०, ४/२६)

३–चतुर्थ शताब्दी ई० की हरिषेण कृत प्रशस्ति में प्राप्त समुद्रगुप्त (३३६–३७५) के विजय वर्णन में एवं रघुवंश में प्राप्त रघु के दिग्विजय-वर्णन में घटनाओं का अत्यन्त साम्य है।

४–कालिदास के ग्रन्थों में जिस सुख-समृद्धि एवं वैभव, का उल्लेख मिलता है, वह गुप्तकाल से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है।

५–कालिदास द्वारा इन्दुमती के स्वयम्बर का वर्णन करते समय जो चन्द्रमा एवं इन्दु शब्द का प्रयोग किया गया है, वह चन्द्रगुप्त का सूचक है।

(ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रि, इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै)

६–कालिदास रचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक राजा रुद्रसेन और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती के विवाह के अवसर पर लिखा एवं खेला गया होगा। इस नाटक में जिस अश्वमेध यज्ञ का वर्णन मिलता है, वह भी समुद्रगुप्त द्वारा सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का ही परिचायक प्रतीत होता है।

७–कतिपय विद्वानों का मत है कि गुप्त-काल में ही संस्कृत भाषा का विकास हुआ है। गुप्त वंश के राजा संस्कृत कवियों के आश्रयदाता थे। इस आधार पर कालिदास को गुप्तकालीन स्वीकार करना चाहिये।

८–'विक्रमोर्वशीय' में जो 'विक्रम' शब्द का प्रयोग मिलता है, वह महाराज विक्रमादित्य का सूचक है।

९–कालिदास ने रघुवंश के अन्तर्गत हूणों का उल्लेख किया है। (रघुवंश ४/६७–६८) कालिदास ने उक्त स्थल पर हूणों का निवास-स्थान वङ्क्षु नदी माना है। ४५० ई० के आस-पास हूण वहां पर रहते थे। इसी समय हूणों ने कुमारगुप्त के राज्य-काल में भारत पर आक्रमण किया था। अत: कालिदास का समय ४५० ई० के पश्चात् ही मानना उचित होगा।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर विद्वानों ने कालिदास को गुप्तकालीन माना है परन्तु नीचे दिये गये तर्कों के द्वारा गुप्तकाल वाला मत पूर्णतया खण्डित हो जाता है। ये प्रमुख युक्तियां इस प्रकार हैं।

१—इस विचार में कुछ औचित्य दिखायी नहीं पड़ता कि चन्द्रगुप्त जैसे नरेश ने स्वयं अपना संवत् न चलाकर पूर्ववर्ती मालव संवत् को अपने नाम से प्रचारित किया हो। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'गुप्त संवत्' चलाया था। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अलग संवत् चलाने की नीचता ठीक नहीं जंचती। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा चलाये गये विक्रम संवत् का उनके बाद की शताब्दियों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। नवीं शताब्दी से पूर्व विक्रम् संवत् का कहीं संकेत नहीं है इसलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नए संवत् के चलाने की बात का समन्वय ऐतिहासिक तथ्यों से नहीं होता। इस प्रकार कालिदास के काल-निर्णय के गुप्तकाल वाले मत का मूल आधार ही नष्ट हो जाता है।

२—कालिदास ने कुमार शब्द का जो प्रयोग किया है वह पुत्र, सुतादि के साधारण अर्थ में ही किया है। अतः कुमारसम्भव शब्द से कुमारगुप्त का आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए।

३—मालविकाग्निमित्र के अन्तर्गत जो अश्वमेध तथा यवनों की पराजय का वर्णन मिलता है, उसका सम्बन्ध शुङ्गवंश के प्रवर्तक से है। उसका चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती और राजा रुद्रसेन के विवाहोत्सव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

४—कालिदास द्वारा किया गया रघु का दिग्विजय वर्णन ऐतिहासिक होते हुए भी कवित्वपूर्ण अधिक है। वह अपनी शैली में पौराणिक अधिक है। कालिदास की ही रचनाओं में जिन स्थलों पर चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा समुद्रगुप्त के काल का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है उसके अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं।

५—किसी गुप्तवंशीय सम्राट का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त की उपाधि विक्रमादित्य थी। इस प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त से पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई शासक अवश्य निश्चित् रूप से हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे, न ही उनके काल में कालिदास की स्थिति ही स्वीकार की जा सकती है।

फर्गुसन का छठी शताब्दी का मत :—

इस मत के विशेष समर्थक फर्गुसन महोदय हैं इस मत के अनुसार उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने ५४४ ई० में शकों को पराजित करके विक्रम संवत् का प्रचार किया था। इस संवत् को प्राचीन सिद्ध करने के लिये उसने उसका प्रारम्भ ५७ ई० पूर्व से माना। अतः इस मत के अनुसार कालिदास का समय छठी शताब्दी सिद्ध होता है। इस मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, हूण आदि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर

हमला किया था। इसीलिये हूणों का उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इसके बाद ही हो सकता है। यह मत असंगत है। इसकी असङ्गति के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

(क) फर्गुसन महोदय के पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है कि हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा चलाये गये संवत् का प्रारम्भ ६०० साल से पूर्व ही से क्यों माना गया ? साथ ही ५४४ ई० से पूर्व मालव संवत् ५२८ और विक्रमी संवत् ४३० का प्रयोग मिलता है इस प्रकार फर्गुसन महोदय का मत पूर्णतया अनुचित है।

(ख) रघुवंश में हूणों आदि का वर्णन विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं मिलता। इतिहासकारों ने यह पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि ईसवी पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर भाग में आ चुके थे।

(ग)४७३ ई० की मन्दसोर वाली वत्सभट्टि द्वारा रचित प्रशस्ति में ऋतु-संहार और मेघदूत के श्लोकों की स्पष्ट छाया उपलब्ध होती है। अतः कालिदास का समय छटी शताब्दी ईसवी में मानना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

ज्योतिष पर आधारित मत—कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास के ग्रन्थों में ज्योतिष के शब्दों का उल्लेख मिलता है। (कुमारसम्भव ७/१, रघुवंश ३/१३) इस आधार पर विद्वानों का कहना है कि भारतीयों ने कुषाण काल के बाद ज्योतिष-ज्ञान यूनान और रोम से प्राप्त किया था। अतः कालिदास का समय इसके पश्चात् ही मानना चाहिये। साथ ही कालिदास और महान् ज्योतिष शास्त्री वराह-मिहिर (५०५-५८७ ई०) के ग्रन्थों से पर्याप्त साम्य मिलता है, परन्तु यह मत औचित्य-पूर्ण प्रतीत नहीं होता। भारतीयों द्वारा यूनान एवं रोम से ज्योतिष-ज्ञान सीखने की बात पूर्णतया विद्वानों द्वारा पक्षपात मात्र है, इस सम्बन्ध में यह तर्क विचारणीय है कि यूनानियों ने ईसा से कई शताब्दियों पूर्व बैबीलोनिया के विद्वानों से ज्योतिष-विद्या सीखी थी। भारत जो चतुर्थ, पंचम शताब्दी में फारस के सम्पर्क में आ चुका था, बैबीलोनिया के विद्वानों के साक्षात् से ज्योतिष सीख सकता था। अतः उक्त मत पूर्णतया असङ्गत कहा जायेगा।

कालिदास पर अश्वघोष के प्रभाव पर आधारित मतः—कुछ समालोचकों का कहना है कि अश्वघोष एवं कालिदास की कृतियों के अनेक स्थलों में पर्याप्त साम्य मिलता है। (मिलाइये रघुवंश का ७/५ और बुद्धचरित ३/१३) समालोचकों का विचार है कि कालिदास की काव्य-शैली अश्वघोष की अपेक्षा कहीं उन्नत है। अतः कालिदास का समय अश्वघोष के बाद ही मानना उचित होगा। अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ई० होगा। अतः कालिदास का समय अश्व घोष के पश्चात् ही मानना

चाहिये। विद्वानों का यह मत भी न्यायसंगत नहीं है। वस्तुत: कालिदास का ही अनुसरण अश्वघोष ने किया है। इस सम्बन्ध में हमारा तर्क है कि पहिले बौद्ध साहित्य का माध्यम पाली प्राकृत थी, कुछ काल के पश्चात् बौद्धों ने संस्कृत को प्रभावशालिता के कारण अपने साहित्य, धर्म एवं दर्शन का माध्यम बनाया। इस प्रकार संस्कृत काव्य शैली के प्रचलित एवं विकसित होने पर ही बौद्धों नें उसका अनुसरण किया। अत: अश्वघोष का काल कालिदास के बाद ही मानना चाहिये।

प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व का मत :- इस मत के अनुसार कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पूर्व विक्रमादित्य का समय है। विक्रमादित्य कालिदास के आश्रयदाता थे।

नीचे दिये गये तर्कों के द्वारा विक्रमादित्य का प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व का समय निश्चित होता है।

(क) सोमदेव द्वारा रचित 'कथासरित्सागर' के अन्तर्गत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का वर्णन मिलता है। कथसरित्सागर, बृहत्कथा गुणाढ्य ७८ ई० कृत पर आधारित है। गुणाढ्य के प्रथम शताब्दी में होने के कारण विक्रमादित्य के विषय में उनका (गुणाढ्य का) एवं उस पर आधारित कथासरित्सागर का विक्रमादित्य सम्बन्धी वर्णन प्रामाणिक कहा जायेगा। तदनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के परमारवंशी महेन्द्रादित्य का पुत्र था। इसने शकों का समूल विनाश करके जो 'मालव-गण स्थिति' नामक संवत् चलाया था वही बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। विक्रमादित्य ने उज्जैन के महाकाल मन्दिर का निर्माण करवाया था। विक्रमादित्य ही नहीं महेन्द्रादित्य भी शैव थे।

(ख) हाल ने गाथासप्तशती में विक्रमादित्य का निर्देश किया है। हाल का समय प्रथम शताब्दी है।

(ग) विक्रमादित्य उज्जयिनी का शासक था और कालिदास उसका आश्रित कवि था।

ऊपर हमने कालिदास को विक्रमादित्य का आश्रित कवि कहा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं :—

१—जैसा कि कहा जा चुका है उज्जयिनी के राजा शिवभक्त थे। कुमार-सम्भव, अभिज्ञानशाकुन्तल एवं रघुवंश के मङ्गलाचरणों से कालिदास की शिवभक्ति पूर्णतया स्पष्ट है। अत: कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित प्रतीत होते हैं।

२—उज्जयिनी के राजा सूर्यवंशी कहलाते थे। कालिदास ने रघुवंश में सूर्य-वंशी राजाओं का ही वर्णन किया है।

३—कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के अन्तर्गत दो विक्रमों का उल्लेख किया है, वह विक्रमादित्य के स्मरण के लिये हैं। इसी नाटक में इन्द्र शब्द के लिये जो महेन्द्र शब्द का प्रयोग किया है, महेन्द्रादित्य के स्मरण के लिये किया गया है। इस नाटक में कालिदास ने शताधिक बार महेन्द्र शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय विक्रमादित्य के राज्याभिषेक के समय खेला गया था।

४—विक्रमादित्य के संस्कृत के पोषक एवं प्रेमी होने के कारण उसका कालिदास का आश्रयदाता होना स्वाभाविक है।

५—कालिदास ने रघुवंश (८/३२) में अवन्ति राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। एवं उनके प्रति महान् आदरभाव प्रकट किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पूर्व ही तर्क सङ्गत प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल की संक्षिप्त कथा

प्रथम अंक

सर्वप्रथम हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त चितकबरे मृग का पीछा करते हुए रंगमंच पर प्रवेश करता है। मृग तीव्र गति से दौड़ता है, राजा दुष्यन्त जैसे ही मृग को मारने के लिये धनुष को प्रत्यञ्चा-युक्त करता है, उसी क्षण तीन तपस्वी प्रवेश करते हैं तथा बताते हैं कि यह मृग आश्रम का है, अतः नहीं मारा जाना चाहिये। तपस्वी राजा से कहते हैं कि आप हमारे अतिथि हैं अतः आश्रम में प्रवेश कीजिये, वहां महर्षि कण्व की पुत्री शकुन्तला हैं जो आपका सत्कार करेंगी। राजा रथ को आश्रम के सीमा भाग के समीप रोक कर शुभ शकुनों के साथ प्रवेश करता है। इतने में ही नेपथ्य में सखियों व शकुन्तला का वार्तालाप सुनाई पड़ता है जो कि आश्रम के वृक्षों को सींचने आती हैं। उन लोगों को देखकर राजा दुष्यन्त एक वृक्ष के पीछे छिप जाता है तथा वहां से अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला की रूप माधुरी का निर्निमेष नयनों से पान करता है। शकुन्तला कभी केसर वृक्ष के द्वारा बुलाई जाती है तो कभी वनज्योत्स्ना के समीप खिंची चली जाती है। सखियों के हंसी मजाक के मध्य ही एक भौंरा शकुन्तला को तंग करता है। जब शकुन्तला रक्षा के लिये पुकारती है तो दोनों सखियां कहती हैं कि राजा दुष्यन्त को पुकारो, हमें क्यों पुकारती है। इसी बीच राजा दुष्यन्त अपने को प्रकट कर देता है तथा भ्रमर से भयभीत शकुन्तला की रक्षा करता है। सखियां एक अपरिचित को सम्मुख देखकर अतिथि-सत्कार के पश्चात् राजा से परिचय प्राप्त करती हैं। राजा के पूछने पर अनुसूया शकुन्तला को

बताती है कि यह कण्व की पुत्री हैं। तब राजा शकुन्तला के जन्म-वृतान्त को सुनने की इच्छा प्रकट करता है। अनसूया कहती है कि एक बार कौशिक गोत्र वाले महर्षि तपस्या कर रहे थे तभी देवताओं ने उनकी तपस्या को भंग करने के लिये मेनका को भेजा। उन दोनों की पुत्री ही शकुन्तला है पर कण्व के द्वारा पालन-पोषण किये जाने के कारण ही इनकी पुत्री है। राजा के पूछने पर कि यह (शकुन्तला) विवाह करेंगी अथवा नहीं; प्रियंवदा कहती है कि महर्षि कण्व का अनुरूप वर पाकर इसका विवाह करने का विचार है। इस पर शकुन्तला क्रोधित होकर चलने को उद्यत हो जाती है। प्रियंवदा के रोकने पर राजा अंगूठी देकर ऋण रहित करना चाहता है।

नेपथ्य में सुनाई पड़ता है कि सावधान हो जाओ। राजा दुष्यन्त आखेट के लिये आया है। यह हाथी भयभीत होकर इधर ही आ रहा है। शकुन्तला सखियों सहित राजा से पुनः दर्शन देने की प्रार्थना करके चली जाती है। राजा भी खिन्न मन से अपने पड़ाव की ओर जाता है।

द्वितीय अंक

विदूषक बहुत दुःखी है। वह राजा के निरन्तर आखेट में व्यस्त रहने के कारण अत्यन्त परेशान है। सोचता है क्यों न किसी प्रकार राजा से आज का अवकाश ग्रहण कर लिया जाय। इतने में ही राजा आता है। विदूषक राजा से आखेट के लिये मना करता है, राजा भी इस बात से सहमत हो जाता है तथा सेनापति से कहता है—जंगली पशुओं को एकत्रित करने के लिये जो सेवक वर्ग गया है, उसे लौटने का आदेश दे दो।

राजा विदूषक को लेकर एक ओर जाता है तथा दोनों वृक्ष की छाया में बैठ जाते हैं। राजा विदूषक से कहता है तुमने नेत्रों का फल प्राप्त नहीं किया। तूने ऋषिकुमारी शकुन्तला को नहीं देखा। वह अत्यन्त सुन्दर है। वह सुकर्मों के अखण्ड-फल के समान है। तब विदूषक पूछता है कि क्या उसने भी आपके प्रति प्रेम प्रकट किया अथवा नहीं। तब राजा उत्तर देता है कि न ही उसका मेरे प्रति प्रेम गुप्त रहा न ही उसने प्रकट किया। तदनन्तर दोनों आश्रम जाने का बहाना ढूंढ ही रहे हैं कि दो तपस्वी आते हैं तथा राजा को राक्षसों से रक्षा करने के लिये आश्रम में आने का निमंत्रण देते हैं। राजा अत्यन्त प्रसन्न होता है। राजा रथ को मांगता है तथा आश्रम में जाने के लिये उद्यत हो जाता है। इतने में ही नगर से करभक नामक सेवक आता है जो बताता है कि महारानी (राजा दुष्यंत की माता) की यह आज्ञा है कि आज से चौथे दिन उनका व्रत समाप्त हो रहा है, अतः राजा अवश्य ही तब तक हस्तिनापुर पहुंच जायें। राजा बड़ी चिंता में पड़ जाता है कि माता की आज्ञा

का पालन करूं अथवा आश्रम में ठहरूं। अन्त में विदूषक को अपने स्थान पर नगर भेज देता है तथा उसे यह भी विश्वास दिलाता है कि उसके हृदय में शकुन्तला के प्रति तनिक भी प्रेम नहीं है।

तृतीय अंक

आश्रम में एक तपस्वी सूचना देता है कि शकुन्तला धूप के आघात से अस्वस्थ हो गयी है तथा आश्रम की सभी क्रियायें राजा द्वारा रक्षित होते हुए निर्विघ्न समाप्त हो रही हैं। राजा दुष्यन्त भी इसको सुनता है तथा मालिनी नदी के किनारे जहां पर शकुन्तला प्रियंवदा और अनुसूया के साथ उपस्थित है, पहुंचता है। दोनों सखी यह जानने को उत्सुक हैं कि शकुन्तला काम से पीड़ित है अथवा ग्रीष्म की गर्मी से। क्योंकि जो दशा इस समय शकुन्तला की हो रही है वह तो यही बताती है कि यह उस राजा के क्षण मात्र दर्शनों से ही हुई है। दोनों सखियों के अनुरोध करने पर शकुन्तला बताती है कि उसकी यह दशा पुरुष-श्रेष्ठ दुष्यन्त को देखने से हुई है तथा वह उसको पाने की अभिलाषा करती है। प्रियंवदा प्रसन्न होती है कि उसकी सखी का प्रेम अनुरूप व्यक्ति के प्रति ही है तथा कहती है कि शकुन्तला तू दुष्यन्त को एक पत्र लिख दे। मैं देवता के प्रसाद के बहाने पुष्पों में छिपाकर ले जाऊंगी। शकुन्तला कहती है कि अवज्ञा के भय से मेरा मन आशंकित है। राजा जो एक ओर छिपा खड़ा है अत्यन्त प्रसन्न होता है और मन ही मन कहता है कि तू व्यर्थ ही भयभीत होती है मैं तो स्वयं तुझे प्राप्त करने की आशंका वाला हूं। शकुन्तला कमलिनी के पत्ते पर नाखूनों से राजा के लिये प्रेम-पत्र लिखती है। राजा एक दम प्रकट होकर उनके समीप पहुंचता है तथा शिलातल पर बैठ जाता है। प्रियंवदा राजा से शकुन्तला की रक्षा के लिये कहती है। राजा भी प्रसन्नचित्त होकर स्वीकार कर लेता है। आकाश से आवाज आती है कि राक्षसों की भयावनी छाया आश्रमवासियों को पीड़ित कर रही है। राजा सुनकर रक्षा के लिये तत्पर होकर चला जाता है।

चतुर्थ अंक

अनुसूया और प्रियंवदा बातचीत करती हैं कि शकुन्तला ने गन्धर्व विवाह कर लिया है। कहीं राजा नगर में जाकर शकुन्तला को भूल न जाये तथा पता नहीं कण्व आकर क्या कहें। शकुन्तला कुटी में बैठकर दुष्यन्त को पत्र लिख रही है तभी दुर्वासा आते हैं, अतिथि-सत्कार न होने के कारण शकुन्तला को शाप दे देते हैं। प्रियंवदा के मनाये जाने पर यह कह देते हैं कि दुष्यन्त इसको तभी पहचान पायेगा जब यह उसका कोई चिह्न उसे दिखायेगी। कण्व ऋषि सोमतीर्थ से वापिस आ जाते हैं। अनुसूया विचार करती है कि किस प्रकार गर्भ धारण करने वाली शकुन्तला

का ऋषि से निवेदन करूं। उस राजा ने तो एक भी पत्र नहीं भेजा। तभी प्रियवदा आ जाती है तथा कहती है कि ऋषि को शकुन्तला की स्थिति का पता चल गया है तथा वह प्रसन्न हैं, अनुसूया पूछती है कि किसने कण्व को इसकी सूचना दी, तब प्रियवंदा कहती है अशरीरी वाणी ने बता दिया है। महर्षि कण्व शकुन्तला को हस्तिनापुर ले जाने के लिये आदेश देते हैं। शकुन्तला की विदा-वेला में सब वृक्ष भांति-भांति की प्रसाधन सामग्री दे देते हैं। काश्यप भी शकुन्तला के जाने के विचार से बड़े दुःखी हैं। शकुन्तला को मृग-शावक प्रेमपूर्वक लिपट जाता है और उसका आंचल किसी भी प्रकार नहीं छोड़ता है। चलते समय काश्यप अपना संदेश ऋषिकुमारों को समझाते हैं और कहते हैं कि आप लोग हमारी पुत्री शकुन्तला की अच्छी प्रकार देखभाल करें तथा अपनी पत्नियों में सम्मानपूर्वक स्थान दें। तत्पश्चात् शकुन्तला को उपदेश देते हैं कि किस प्रकार बड़े जनों की सेवा करना तथा पारिवारिक वर्ग के साथ अत्यन्त उदार रहना। शकुन्तला अत्यन्त अधीर हो जाती है तब काश्यप सांत्वना देते हैं। दोनों सखियां कहती हैं कि यदि राजा तुम्हें नहीं पहचानें तब उसे उसकी दी हुई अंगूठी दिखा देना। काश्यप कहते हैं कि कुटी के द्वार पर उगी नीवार की बेल मेरा शोक किस प्रकार शांत करेगी ? तत्पश्चात् शकुन्तला, गौतमी, शार्ङ्गरव व शारद्वत के साथ चली जाती है। दोनों सखियां विलाप करती हैं तथा शकुन्तला को कुछ दूर छोड़कर आश्रम की ओर लौट आती हैं।

पंचम अंक

राजा दुष्यंत हंसपदिका के गीत को सुनकर अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है तथा विदूषक से कहता है कि हंसपदिका से कहो कि गीत अत्यन्त सुन्दर गाया। कञ्चुकी आकर महर्षि कण्व के शिष्यों के आगमन की सूचना देता है। नेपथ्य में दो चारण महाराज दुष्यंत का स्तुतिगान करते हैं। राजा दुष्यंत यज्ञशाला में शकुन्तला सहित गौतमी तथा कण्व के दोनों शिष्यों से मिलते हैं। इधर शकुन्तला की दायीं आंख फड़कने लगती है। शकुन्तला भविष्य में होने वाली आशंका से भयभीत हो जाती है। दुष्यंत पीले पत्तों के बीच नवीन कोमल पल्लव के समान शकुन्तला को देखता है, शार्ङ्गरव तथा शारद्वत से कुशलक्षेम पूछता है। तत्पश्चात् वे कण्व का संदेश राजा को सुनाते हैं कि शकुन्तला तथा आपके विवाह की अनुमति मैंने दे दी, अब आप गर्भवती शकुन्तला को स्वीकार कीजिये। इतना सुनकर राजा आश्चर्य के साथ कहता है कि मुझसे यह क्या कहा जा रहा है तथा पूछता है कि इनके साथ क्या मेरा पहले विवाह हुआ है ? गौतमी के कहने से शकुन्तला मुख पर से वस्त्रावरण हटा देती है। राजा उसको पहचानने में असमर्थ रहता है। शकुन्तला पहिचान (अंगूठी) को दिखाने का उपक्रम करती है लेकिन इससे पूर्व कि वह दुष्यंत की शंका का निवारण करे वह देखती है कि उसकी अंगुली में अंगूठी नहीं। गौतमी कहती है कि अवश्य ही

तेरी अंगूठी शक्रावतार में शचीतार्थ के जल की वन्दना करते समय गिर गई है तथा शकुन्तला मृगशावक के वृतान्त को स्मरण कराती है। पर दुष्यन्त तब भी कुछ भी स्मरण नहीं कर पाता है। शकुन्तला को ही कपट व्यवहार करने वाली स्त्री समझता है। शारद्वत राजा से यह कहकर कि आपकी पत्नी है ग्रहण करो या छोड़ो वहीं शकुन्तला को छोड़ जाता है, उसी के साथ शार्ङ्गरव तथा गौतमी भी चली गई।

शकुन्तला दु:खी होकर कहती है कि मैं कैसे कपटी व्यक्ति के द्वारा ठगी गई। राजा अनिश्चयावस्था में रहता है, तब पुरोहित कहता है कि सन्तानोत्पत्ति तक यह मेरे घर पर रहे, साधुओं ने बताया है कि आपका पहला पुत्र चक्रवर्ती होगा, इनका पुत्र यदि इन गुणों से सम्पन्न होगा तो आप इन्हें अन्त:पुर में प्रविष्ठ करा दें यदि नहीं तो पिता के पास जाना ही उचित है। शकुन्तला रोती हुई पुरोहित के पीछे जाती है।

तभी पुरोहित पुन: प्रवेश करके बताता है कि बड़े आश्चर्य की बात है जब शकुन्तला रो-चिल्ला रही थी तभी आकाश से स्त्री के आकार की एक ज्योति उतरी तथा शकुन्तला को उठाकर चली गई।

षष्ठ अंक

प्रारम्भ में नगर का रक्षाधिकारी, राजा का साला तथा सिपाही एक पुरुष को बाँधे हुए प्रवेश करते हैं। रक्षक उस पुरुष को पीटकर पूछते हैं कि राजा के नाम से चिह्नित यह अंगूठी तेरे पास कहाँ से आयी, तब वह व्यक्ति बताता है कि मैं शक्रावतार में रहने वाला धींवर हूँ, मछली पकड़कर अपना पेट पालता हूं। एक बार मैंने रोहित मछली पकड़ी, जब मैंने उस काटा तो उसके पेट से रत्नों की आभा से युक्त यह अंगूठी दिखाई दी, अब इसे बेचता हुआ मैं आपके द्वारा पकड़ा गया। राजा का साला यह सूचना राजा को देता है तथा राजा के कहने से अंगूठी के बराबर धन देकर उसे छोड़ देता है। श्याल धींवर के साथ प्रसन्न होकर मदिरा की दुकान पर जाता है।

सानुमति नाम की मेनका की सखि अप्सरा अपनी तिरस्कारिणी विद्या के सहारे अन्तर्धान होकर राजा दुष्यत के प्रमदवन में उसकी दो परिचारिकाओं का वार्तालाप सुनती है। वसन्तागमन के कारण चारों ओर सुन्दरता का साम्राज्य है। तभी कञ्चुकी आकर उन परिचारिकाओं को फूल तोड़ने का निषेध करता है और कहता है कि राजा ने वसन्तोत्सव निषेध कर दिया है क्योंकि शकुन्तला यथार्थ में राजा के द्वारा पूर्व से विवाहित थीं परन्तु स्मृति-जन्य-दोष के कारण उन्हें अस्वीकार कर दिया, इसलिए राजा अत्यन्त विचलित मन वाले हो गए है। इतने में ही राजा प्रमदवन में आते हैं तथा विदूषक को शकुन्तला का चित्र दिखाते है तथा

शकुन्तला को अंगूठी देने का पूरा वृत्तान्त सुनाते हैं। सानुमति यह सब देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होती है। राजा अनेक प्रकार से अपने को दोषी ठहराता हुआ खिन्न मन हो जाता है तथा उस अधूरे चित्र को पूरा करने की कल्पना करता हुआ आंसू बहाता है।

तभी दासी आकर कहती है कि जब वह कूचियों की पेटी लेकर आ रही थी तब रानी वसुमता ने कहा कि मैं ही इसे राजा के पास ले जाऊंगी लेकिन रानी राजा को नगर की व्यवस्था सम्बन्धी पत्र में रत देख लौट जाती है। राजा पुनः दुःखी होता है कि गर्भधारण करने वाली मेरी पत्नी मेरे द्वारा छोड़ दी गई तथा मूर्छित हो जाता है। सानुमति अप्सरा भविष्य का कार्यक्रम मन ही मन निर्धारित करता हुई लौट जाती है। तभी द्वारपालिका प्रवेश करती है तथा बताती है कि किसी राक्षस ने मेघप्रतिछन्द नामक महल की छत तोड़ दी है और माणवक को अभिभूत कर दिया है। राजा तुरन्त अपना धनुष लेकर उधर ही प्रस्थान करता है जिधर से माणवक की आवाज आ रही है परन्तु वह ना ही माणवक को देख पाता है और ना ही पिशाच को। केवल ध्वनि के सहारे ही शर-संधान करता है। तभी विदूषक को छोड़कर मातलि (इन्द्र का सारथी) प्रवेश करता है तथा राजा के प्रति निवेदन करता है, कि दुर्जय नामक राक्षसों को नष्ट करने के लिये आप इन्द्र की सहायता करें। तब राजा मातलि से पूछता है कि आपने माढव्य के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया तब इन्द्र का सारथि उत्तर देता है कि मैंने आपको अत्यन्त उद्विग्न देखा, अतः क्रोध दिलाने के कारण ही मैंने इस प्रकार का व्यवहार किया। तत्पश्चात् राजा दुष्यन्त इन्द्र की आज्ञानुसार विदुन को प्रत्यावर्तन काल तक राज्य भार सौंपकर इन्द्र के रथ पर चढ़कर चला जाता है।

सप्तम अंक

राजा मातलि से इन्द्र के गुणों की प्रशंसा करता है तथा एक वृत्तांत सुनाता है कि किस प्रकार इन्द्र ने मेरा सत्कार करते हुए मुझे मन्दारपुष्पों की माला पहनायी थी तथा वायु का मार्ग पूछता है। उसका रथ बादलों से भी ऊपर जाने लगता है, राजा रथ से भू-लोक को देखता है जो कि ऊंचाई से अत्यन्त विशाल और रमणीय प्रतीत होता है तभी रथ हेमकूट नामक पर्वत पर पहुंचता है जहां महर्षि मारीच अपनी पत्नी अदिति सहित तपस्या कर रहे हैं। राजा महर्षि की परिक्रमा के लिये उतरता है। मातलि राजा को एक वृक्ष की छाया में बिठाकर स्वयं प्रजापति के आश्रम में सूचनार्थ प्रवेश करता है शुभ शकुन की द्योतक राजा की भुजा फड़कती है। इतने में ही राजा दो तपस्विनियों द्वारा अनुकरण किये जाते हुये बालक को देखता है। बालक सिंह के दांत गिनने को उद्यत होता है। राजा उस बालक को देखकर स्नेह का अनुभव करता हुआ प्रसन्न होता है तथा सिंह के बच्चे के बदले में दूसरा खिलौना लेते हुए बच्चे का चक्रवर्ती लक्षणयुक्त हाथ देखता है। तपस्विनी

राजा को देखकर सहायता के लिये बुलाती है। राजा के द्वारा उस बालक को महर्षिपुत्र कहे जाने पर बताती है कि यह ऋषिकुमार नहीं तथा आश्चर्य प्रकट करती है कि बच्चे कि आकृति राजा दुष्यन्त से मिलती है। राजा बच्चे को प्यार करता है और उसके वंश के बारे में पूछता है। तपस्विनी के पुरुवंश कहने पर राजा के हृदय में आशा का संचार होता है। तभी दूसरी तपस्विनी मिट्टी के मोर को लेकर आती है और कहती है कि सर्वदमन इस शकुन (मोर) को देखो। तब बालक शकुन शब्द से माता का भ्रम कर कहता है कि कहां है मेरी मां ? इस बात पर दुष्यन्त आश्चर्य करता है कि क्या इसकी माता का नाम भी शकुन्तला है, लेकिन कभी-कभी नाम की समानतायें भी होती हैं। इतने में बच्चे के हाथ से गिरा हुआ रक्षार्थ बांधा हुआ यन्त्र दुष्यन्त उठाने लगता है। तपस्विनी ऐसा करने के लिये मना करती हुई बताती है कि यह यन्त्र माता-पिता के अतिरिक्त पृथ्वी पर गिरने पर और कोई उठा ले तो उसे सर्प बनकर डस लेता है पर दुष्यन्त का कुछ भी अमंगल नहीं होता तथा वह अपना मनोरथ पूर्ण होने पर प्रसन्न होता हुआ बच्चे का आलिङ्गन करता है। तपस्या के कारण कृश मुख वाली, तथा मैले वस्त्रों को धारण किये हुए शकुन्तला आती है तथा राजा को पहिचान लेती है। राजा भी अपनी विस्मृति रूपी भूल के लिये क्षमा याचना करता है शकुन्तला तुरंत क्षमा कर देती है तथा राजा की अंगुली में पहनी हुई उस अंगूठी को देखती है तभी मातलि प्रवेश करता है तथा शकुन्तला एवं पुत्र सहित दुष्यन्त मारीच के दर्शन करता है एवं यथोचित आशीर्वाद प्राप्त करता है। मारीच ऋषि ध्यान लगाकर जान लेते हैं कि दुर्वासा के शाप के कारण ही शकुन्तला दुष्यन्त के द्वारा अस्वीकृत की गई थी तथा वह शाप अंगूठी देखने से समाप्त हो गया। मारीच ऋषि दुष्यन्त-पुत्र सर्वदमन के सम्बन्ध में बताते हैं कि यह बच्चा भविष्य में सात द्वीपों वाली पृथ्वी को जीतेगा और संसार का भरण करने के कारण 'भरत' नाम से प्रसिद्ध होगा। अन्त में ऋषि मारीच महर्षि कण्व पर भी यह सूचना भेजते हैं तथा दुष्यन्त, पुत्र एवं पत्नी सहित, अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान करते हैं।

कालिदास और प्रेम

कालिदास प्रेम और सौंदर्य के भक्त हैं और नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तर्गत जब अङ्गीरस ही शृंगार है तो उसके मूल भाव प्रेम की उसमें प्रधानता क्यों न हो। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि कालिदास द्वारा चित्रित प्रेम तुच्छ कोटि का वासना मूलक प्रेम कदापि नहीं है। यद्यपि शाकुन्तल में वासना-मूलक प्रेम का चित्रण भी वर्तमान है, परन्तु वह नाटककार का आदर्श कदापि नहीं है। कालिदास द्वारा आदर्श रूप में स्वीकृत प्रेम का स्वरूप अत्यन्त उदात्त है। न उसमें हल्कापन है और न इन्द्रिय पिपासा। वह प्रेम तो शुद्ध एवं आध्यात्मिक कोटि का

का है। दूसरे शब्दों में शाकुन्तल के प्रेम में उन्माद के स्थान पर गाम्भीर्य है एवं भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता। संस्कृत साहित्य के समीक्षक डे' साहब ने भी कालिदास द्वारा शाकुन्तल में चित्रित प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है—

The Abhijnana-Sakuntla, unlike most Sanskrit plays, is not based on the mere banality of court intrigue, but has a much more serious interest in depeting the baptism of youthful love by silent suffering········ and love is no longer a light hearted passion in an elegant surrounding, near an explosive emotion ending in moaness, but a deep and steadfast enthusiasm, or rather a progressive emotional experience, which results in an abiding spiritual feeling.

यहाँ हम कालिदास द्वारा शाकुन्तल में चित्रित प्रेम के सम्बन्ध मे विशेष-विशेष पक्षों का उल्लेख करेंगे।

कालिदास प्रेम की सूक्ष्मता के पक्षपाती हैं। उनके लिए शारीरिक सौन्दर्य प्रेम का कारण नहीं है। कालिदास प्रेम का आधार संस्कारों को मानते हैं पूर्व जन्म के संस्कारों के संबन्ध में कालिदास ने स्पष्ट कहा है—

भावस्थिराणि जननान्तसौहृदानि [५/२८]

कालिदास प्रेम को जीवन का लक्ष्य मानते हैं, परन्तु वे प्रेम के लिए संयम की भी अपेक्षा स्वीकार करते हैं। उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल में स्पष्ट कहा है कि संयमी जनों का मन दूसरे की स्त्री के प्रेम से सदा विमुख रहता है। शाकुन्तल के अधोलिखित श्लोकांश के अन्तर्गत यह भाव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है—

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्ति

[अभिज्ञान शाकुन्तल ५/२८]

दाम्पत्य-प्रेम कालिदास के प्रेम की प्रधान विशेषता है। यद्यपि अभिज्ञान-शाकुन्तल के प्रथम अंक के अन्तर्गत जो प्रेम चित्रित किया गया है उसमें दाम्पत्य-प्रेम की गन्ध का अभाव है परन्तु सप्तम अंक में भरत-जननी शकुन्तला के साथ दुष्यंत का जो मिलन दिखाया गया है, वह दाम्पत्यप्रेम का पूर्ण परिचायक है। इस प्रकार कालिदास भ्रमर वृत्ति से स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक नहीं हैं।

कालिदास का उद्देश्य शारीरिक सौंदर्य पर आधारित प्रेम को सफल चित्रित करना नहीं है, वरन् उसका लक्ष्य शुद्ध प्रेम की प्रतिष्ठा है। इसीलिये नाटककार ने अभिज्ञानशाकुन्तल में बाह्य सौंदर्य एव विषयवासना पर आधारित प्रेम को असफल दिखाकर पवित्र आचरणों पर आधारित मलिन वस्त्रधारिणी एवं विरहव्रत का पालन करने वाली शकुन्तला के प्रेम को आदर्श प्रेम के रूप में प्रतिष्ठा

की है। नाटककार ने दुष्यन्त की निम्नलिखित उक्ति के द्वारा आदर्श प्रेमिका के स्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित किया है—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घविरहव्रतं बिभर्ति ॥ ७ । २१

अर्थात् यह वही शकुन्तला है जो मलिन वस्त्रों को धारण किए हुए, नियम पालन के कारण कृश मुख वाली, एक वेणी को धारण किए हुए, पवित्र आचरणों वाली होकर अति निर्दयी मुझ पति के लिए ऐसे लम्बे विरह व्रत का पालन कर रहा है।

यहां यह कहना अनावश्यक न होगा कि कालिदास ने जिस प्रेम को सूक्ष्म माना है, उसका आधार भी सौंदर्य की सूक्ष्म भावना ही है। इसीलिए कुमार सम्भव के अन्तर्गत कालिदास ने पार्वती द्वारा अपने रूप की मन ही मन निन्दा कराई है।

'निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती' (कुमार सम्भवम्)

सौन्दर्यापेक्षी होने के कारण कालिदास ने अपने चरित्रों में सौंदर्य भाव की प्राण-प्रतिष्ठा बड़ी कुशलता से की है। इस कुशलता की ओर संकेत करते हुए डे' साहब ने कहा है —

Here we see to its best effect, Kalidas's method of unfolding a character as flower unfolds its petals in rain and sun shine.........

संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल सौंदर्य की ऐसी विलक्षण साधना का साक्षात् रूप है जिसमें भौतिक एवं स्वर्गिक दोनों प्रकार के आनन्द की उपलब्धि होती है। इस सम्बन्ध में जर्मन कवि 'गेटे' की निम्नलिखित पंक्तियां अत्यन्त प्रसिद्ध हैं —

Wouldest thou the young year's blossoms
and the fruits of decline
And all by which the soul is charmed
enraptured, feasted, fed ?
Wouldest thou the earth and heaven itself
in one sole name combine ?
I name thee, O Shakuntla, and all at once is said.

कालिदास और उपमा (उपमा कालिदासस्य)

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जितने कालिदास प्रसिद्ध हैं, उतनी ही उनकी रचनाओं की विशेषता में उपमा प्रसिद्ध है। इसीलिये कालिदास की उपमागत विशिष्टता के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ॥

अर्थात् कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ-गौरव, दण्डी का पद-लालित्य या (नैषधे पदलालित्यं=नैषध का पद-लालित्य) और माघ में उक्त तीनों ही गुण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

कुछ समालोचक यहाँ उपमाकालिदासस्य का एक दूसरा ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इन समालोचक विद्वानों का कथन है कि उपमा सब अलंकारों का आधार है, अतः कालिदास की उपमा के प्रयोग में सर्वश्रेष्ठ कहने का आशय यह है कि कालिदास समस्त अलंकारों के प्रयोग में ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मेरे विचार से 'उपमा-कालिदासस्य का यह अर्थ ग्रहण करना संगत नहीं जान पड़ता। वस्तुतः 'उपमा-कालिदासस्य' अंश से कालिदास के उपमागत वैशिष्ट्य का ही तात्पर्य है।

कालिदास की उपमायें निःसन्देह संस्कृत साहित्य में बेजोड़ हैं। उनके सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने जो प्रशंसोक्तियाँ कही हैं वे एक दम व्यर्थ हैं। इस सम्बन्ध में समीक्षक कीथ का यह कथन सर्वथा सत्य है कि अर्थालंकारों में भारतीय मत के अनुसार कालिदास की उपमायें अत्यधिक उत्कृष्ट कोटि की हैं और यह प्रशंसा सर्वथा मान्य है। कीथ महोदय की निम्न पंक्तियों का यही आशय है—

Of figure of senses Kalidas exceles in Indian opinion in the simile, and the prose is just.

यहाँ हम कालिदास के उपमागत सौंदर्य को देखने का प्रयत्न करेंगे। वस्तुतः कालिदास की उपमाओं के अनेक रूप मिलते हैं। यहाँ हम प्रमुख-प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख करना उपयुक्त समझेंगे।

प्राकृतिक उपमाएं—कालिदास प्रकृति के चतुर चितेरे हैं। उनके द्वारा दी गई प्राकृतिक उपमाएं बड़ी सजीव एवं रमणीक हैं। उदाहरण में कालिदास की कविता में नन्दिनी गौ, राजा दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य उसी प्रकार सुशोभित होती है, जिस प्रकार दिन और रात्रि के बीच में पड़ने वाली संध्या सुशोभित होती है। 'दिनक्षपामध्य गतेव संध्या' रघुवंश की यह एक और प्राकृतिक उपमा दर्शनीय

है। अभिज्ञानशाकुन्तल (१-२१) के अन्तर्गत शकुन्तला को पुष्पित लता की तरह से बतलाया गया है। (विशेष देखिये, अभिज्ञान शाकुन्तल १/१९, १/३४, २/७, २/८, २/१०, २/१७, ३/७, ३/९, ३/२४, ४/४, ४/१९) इस प्रकार कालिदास की प्राकृतिक उपमायें अत्यन्त रमणीक एवं हृदयग्राह्य हैं।

यथार्थ उपमायें—कालिदास की उपमाओं की यथार्थता भी बड़ी अद्भुत है। इन्दुमती के स्वयम्बर का वर्णन करते समय कालिदास ने कहा है कि इन्दुमती जिस नृप को छोड़कर चली जाती है, उसके मुख पर नैराश्य की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी कि राजमार्ग के उन प्रासादों पर जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा पीछे छोड़ जाती है।

अमूर्त्त कल्पनाओं पर आधारित उपमायें—अमूर्त कल्पनाओं के आधार पर भी कालिदास ने जिन उपमाओं को प्रस्तुत किया है, वे बड़ी मनोहर हैं, उदाहरण के लिये मातृ-गोद को शोभायमान करने वाले भरत की उपमा कालिदास ने लक्ष्मी को सुशोभित करने वाले विनय से दी है। इस प्रकार की उपमायें कालिदास के काव्य में अनेक मिलती हैं।

व्यावहारिक उपमायें—काल्पनिक होने के साथ-साथ कालिदास की उपमायें लोक-व्यवहार से भी सम्बन्धित दिखलाई पड़ती हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तर्गत कालिदास ने दुष्यन्त को प्रदत्त शकुन्तला की उपमा सुपात्र शिष्य के लिये दी गई विद्या से दी है।

दार्शनिक उपमायें—कालिदास की उपमायें साहित्यिक तो हैं ही, परन्तु इसके अतिरिक्त वे दार्शनिक भी हैं? उदाहरण के लिये ब्रह्म सरोवर से निःसृत सरयू की उपमा कालिदास ने सांख्य दर्शन की मूल प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि तत्त्व से दी है।

इसी प्रकार नन्दिनी गौ का अनुगमन करने वाले दिलीप की धार्मिक उपमा कालिदास ने श्रुति के अर्थ का अनुसरण करने वाली स्मृति से दी है।

व्याकरणिक उपमायें—कालिदास द्वारा प्रयुक्त व्याकरणिक उपमायें भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। कालिदास ने राम के द्वारा शोभा को बढ़ाने वाले तपस्विवेश को त्याग कर राजकीय वस्त्रों को धारण करने की उपमा पुनरुक्त दोष से दी है। इसी प्रकार जिनके बाण आपस में लड़ते हैं, उन धनुर्धारियों की उपमा कालिदास ने उन वादियों से दी है जिनके शब्द परस्पर विरुद्ध होते हैं। निश्चय ही ये उपमायें बड़ी उपयुक्त और आकर्षक हैं।

भ्रमर एवं गजादि पशुओं से दी गई उपमायें—शकुन्तला के ५ वें अंक में शकुन्तला को देखने वाले किंकर्तव्यविमूढ़ दुष्यन्त की उपमा कालिदास ने भ्रमर

से दी है (५।१९) इसी प्रकार शाकुन्तल में ही दुष्यन्त की उपमा गजेन्द्र से दी गई है। (५।५)

नक्षत्रों से दी गई उपमायें :— कालिदास द्वारा दी गई नक्षत्रों से सम्बन्धित उपमायें भी बेजोड़ हैं। जैसे कि राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन की उपमा शाकुन्तल में ग्रहण के पश्चात् भावी चन्द्रमा और रोहिणी के मिलन से दी है। (७ २२) इस प्रकार कालिदास द्वारा प्रयुक्त सभी उपमायें बड़ी स्वाभाविक, आवसरिक, सजीव एवं मनोहर हैं।

कालिदास और अन्य अलंकार :—उपमा अलंकार के अतिरिक्त कालिदास द्वारा अनुप्रास, उत्प्रेक्षा एवं अर्थान्तरन्यास का भी जैसा प्रयोग किया गया है, वैसा संस्कृत साहित्य में कदाचित् ही अन्यत्र उपलब्ध हो।

अन्य अलंकारों का प्रयोग भी कालिदास द्वारा बड़ी कुशलता से किया गया है। कालिदास के शाकुन्तल में ही श्लेष (२।४, २ ७) यमक (५।५) रूपक (४।१८, ५·२५) उत्प्रेक्षा (१।८, १ १८) अतिशयोक्ति (१।३४, २ ३) स्वभावोक्ति (१।३, १।७) दृष्टांत (१।२६, १।१४) अप्रस्तुत प्रशंसा (१।१७ १।२२) तुल्ययोगिता (३।१७, ४।२) दीपक (१।१०, २।१५) विभावना (१।१८, १।२३) विशेषोक्ति (३।६, १।२१) व्यतिरेक (१।२४, २।१३) समासोक्ति (१।२४, १।४) विरोधाभास (१।९, १।२९) काव्यलिंग (१।४ १।७) अर्थापत्ति (३।१३, ५।१४) सन्देह (२।९, ६ १०) भ्रान्तिमान (१।२४, प्रतिवस्तूपमा (१।२०, ५।४) परिकर (१।१, १।१३) पर्यायोक्ति (१।२, २।१५) समुच्चय (१।३०, २।५) अनुमान (१।३०, २।७) विषम (१।१०, १।१७ पुनरुक्तवदाभास (१।११, ३।१४) परिणाम (३।३, ३।१८) यथासंख्य (४।२, ७।२९) विशेष (५।१) समाधि (५ ३) आक्षेप (५।७) सम (४।११) हेतु (४।१८) उदात्त (७ ८) और भाविक (७।३३) अलंकारों का प्रयोग बड़े उपयुक्त एवं मनोहर ढंग से किया गया है।

कालिदास की शैली

शैली साहित्य का शरीर होता है। उससे साहित्य का स्वरूप व्याख्यात होता है कालिदास के नाटकों की शैली किसी परम्परा पर आधारित न होने के कारण विलक्षण है। कालिदास नाटकों की शैलीगत विशेषता की ओर संकेत करते हुए डा० एस० के० डे० महोदय ने लिखा है :—

Judged absolutely, without reference is an historical standard Kalidas's plays impress us by their admiable combination of dramatic and poetic qualities.

निःसन्देह जैसा कि डे महोदय ने कहा है कालिदास के नाटकों में नाटकीय एवं काव्य सम्बन्धिनी विशेषताओं का प्रशंसनीय योग है। इन नाटकों में भी अभि-ज्ञानशाकुन्तल में कालिदास की कला के पूर्ण स्वरूप के दर्शन होते हैं कालिदास की इस कृति के सम्बन्ध में अपने संस्कृत ड्रामा में कीथ ने निम्नलिखित मत प्रस्तुत किया है—

The Sakuntala certainly represents the perfectims of Kalidas's art, and may justly be assumed to belong is his latest period of work,

यहां हम कालिदास की शैलीगत विशेषताओं के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करेंगे।

वस्तुतः कालिदास की कृतियों में संस्कृत शैली के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप के दर्शन होते है। उनकी साहित्य-वाटिका ऐसी शैली स सजी-धजी है कि जिसके दर्शन से संस्कृत-साहित्य का श्रांत पथिक एक अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करता है।

कालिदास की वैदर्भी शैली— साहित्यदर्पणकार ने वैदर्भी शैली की विशेषतायें बतलाते हुए कहा है कि मधुर शब्द, ललित रचना, समासों का अभाव या फिर कम होना जहां पाया जाता है, वहां वैदर्भी शैली होती है। वैदर्भी शैली के फलस्वरूप कालिदास की रचनाओं में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों का पाया जाना स्वाभाविक ही है। परन्तु इनमें भी माधुर्य एवं प्रसाद की ही प्रधानता है, ओज की नहीं।

माधुर्य गुण के अभिज्ञानशाकुन्तल में अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रथम अंक में ही कालिदास ने राजा के द्वारा शकुन्तला के निर्माण एवं मनोहर शरीर का वर्णन जिस श्लोक के अन्तर्गत कराया है (अभि० १/१७) प्रस्तुत संस्करण (इदं किलाव्याज०)

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते। साहित्य-दर्पण ९/२३

उसमें माधुर्य गुण की सुन्दर उपलब्धि होती है। प्रसाद गुण के सम्बन्ध में प्रथम अङ्क का ही वह श्लोक उद्धृत किया जा सकता है जिसमें राजा मन ही मन कहता है कि हे हृदय! तू पूर्ण मनोरथ हो। अब सन्देह का निर्णय हो गया है। जिसे तू अग्नि समझता था वह सदा स्पर्श करने योग्य रत्न है (भव हृदय! साभिलाषम्० १/२५) तीव्राघातप्रतिहततरुः (१/३०) मेदश्छेदकृशोदरं० (२/५), उसके श्लोक ओज गुण के सुन्दर उदाहरण बन पड़े हैं।

भाषा सम्बन्धी कौशल—कालिदास भाषा की सुघरता के पक्षपाती हैं। कालिदास के भावों का सुकुमार स्वरूप शब्द-जाल के अनपेक्षित भार से बोझिल

नहीं हुआ है। अर्थ के अनुरूप शब्द-योजना कालिदास की शैली की अनुपम विशेषता है। इस सम्बन्ध में 'डे' साहब का कहना है—

The result is a fine adjustment of sound and sense, judicious harmony of world and idea, is a point not often reached by other Sanskrit poets.

उनकी भाषा सरस, सरल एवं मनोहर है (देखिए अभि० १/११२,२। भाषा की सुडौलता उनकी अपनी विशेषता है (देखिए अभि० १/१८ इदं किला०)।

कालिदास की भाषा संक्षिप्त एवं ध्वन्यात्मकता लिये हुए है। कालिदास ने दुर्वासा के विचित्र एवं विस्तृत प्रसंग को केवल एक श्लोक में ही समाप्त कर दिया है। (विचिन्तयन्ती यमनन्य मानसा ४/१) इस प्रकार के अनेक उदाहरण शकुन्तला में उपलब्ध हैं। (देखिये किं शीतलैः ३/१८ शुश्रूषस्व गुरुन् ४/१८ आदि)।

चित्रात्मकता—किसी भी वस्तु या व्यापार का शब्दों द्वारा चित्र प्रस्तुत करना चित्रात्मकता कहलाती है। कालिदास अपने उपयुक्त शब्दों द्वारा किसी वस्तु का जैसा सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं, वह देखते ही बनता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तर्गत कालिदास ने तेजी से भागते हुये अश्वों (१/७), कामातुर दुष्यंत के द्वारा शकुन्तला की चेष्टाओं (२/२) और काम-पीड़ित शकुन्तला का जो सजीव वर्णन (३/६) किया है वह चित्रात्मक दृष्टि से अनुपम है। ऐसे उदाहरणों की संख्या शाकुन्तल में पर्याप्त मिलती है।

संवाद-सम्बन्धी विशेषताएं—अभिज्ञान शाकुन्तल के संवाद बड़े रोचक एवं स्वाभाविक हैं। तृतीय अङ्क के अन्तर्गत शकुन्तला का सखियों और दुष्यन्त से जो वार्तालाप होता है वह कैसा रोचक एवं स्वाभाविक है, यह देखते ही बनता है। इस प्रकार दुष्यन्त और शार्ङ्गरव (छठा अंक) राजा और विदूषक (सप्तम अंक) के संवाद भी हैं।

रस-स्थिति—शृंगार रस अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रधान रस है। शृंगार के भी संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का निरूपण शकुन्तला में उपलब्ध होता है। संयोग पक्ष के उदाहरण के अन्तर्गत दुष्यन्त हृदय से शकुन्तला को पत्नी के रूप में वरण करता है। उसे यह सह्य नहीं होता कि भौंरा शकुन्तला के अधरों का स्पर्श करे। (चलापाङ्गां दृष्टिं १/२४) इस प्रकार के स्थल शकुन्तला में भरे पड़े हैं। विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन भी नाटककार ने बड़ी कुशलता से किया है। विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत दुष्यन्त की स्थिति का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कालिदास ने कहा है कि उसके लिये (दुष्यन्त के लिये कामदेव और चांदनी अत्यन्त उद्दीपक एवं दुखद हो रही है। (नवकुसुमशरत्वं ३।३) यह तो रही अङ्गी रूप में शृंगार

की बात। इसके अतिरिक्त अङ्ग रूप में वीर रस, (नैनङ्बित्रं०) अद्भुत रस; क्षीसं केनचिद्बिन्दु ४ ५ दो हास्य रस (५६) प्रस्तुतसंस्करण भयानक रस, (तीव्राघात० १।३३ वात्सल्य रस अनेकस्यापि ७।१६) एवं शान्त रस का चित्रण भी अभिज्ञान-शाकुन्तल के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से मिलता है।

छन्दोविधान—कालिदास को आर्या छन्द सर्वाधिक प्रिय है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में इसका प्रयोग ३६ बार हुआ है। इसके अतिरिक्त वसंततिलका, अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित वंशस्थ, उपजाति, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित मन्दाक्रान्ता, हरिणी, मालभारिणी, पुष्पिताग्रा, सुन्दरी, पथ्यावक्त्र. इन्द्रवज्रा, प्रहर्षिणीस्रग्धरा, अपरवक्त्र, गीति, त्रिष्टुप्, शालिनी, रथोद्धता और वैदिक त्रिष्टुप् छंदों का प्रयोग भी कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में निश्चित रूप से मिलता है।

अलंकार विधान—कालिदास का अलंकार विधान भी सजीव एवं मार्मिक है। अपनी रचनाओं में उन्होंने प्राय: सभी प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग किया है। स्वाभाविकता उनके अलंकार प्रयोग की विशेषता है। कालिदास के सम्बन्ध में 'उपमा कालिदासस्य तो प्रसिद्ध ही है। इसकी समीक्षा पीछे की जा चुकी है।

इस प्रकार शैलीगत सौन्दर्य के कारण कालिदास के साहित्य मे अन्त: शरीर के साथ-साथ बाह्य शरीर का सौन्दर्य भी खिल उठा है।

कालिदास और प्रकृतिचित्रण

कालिदास की प्रकृति-उपासना साहित्य जगत में प्रख्यात है। उन्होंने प्रकृति-चित्रण की ऐसी मनोहर पद्धति अपनाई है कि एक ओर प्राकृतिक दृश्य अपनी मनोहारिता के कारण नाटक में अनुशीलन कर्ता को आनन्दमुग्ध करते हैं तो दूसरी ओर वे नाटक के पात्रों की भावनाओं का मूर्त रूप भी प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि कालिदास द्वारा शाकुन्तल में चित्रित प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत सजीवता एवं वर्णन विशदता आ गई है। कालिदास सौन्दर्यवादी नाटककार एवं कवि हैं। अतएव उनकी रचनाओं में प्रकृति के मनोरम, सरस एवं सहृदयता पूर्ण चित्रों के दर्शन प्राय: होते हैं। कालिदास के प्राकृतिक वर्णनों की कुछ ऐसी प्रमुख विशेषतायें हैं, जो अन्यत्र अलभ्य हैं। यहां इन विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

प्रकृति का सजीव वर्णन—कालिदास द्वारा प्रकृति के अत्यन्त सजीव वर्णन प्रस्तुत किये गए हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका शकुन्तला को आश्रम के वृक्षों से इतना गहरा प्रेम है कि कालिदास ने उसे सहोदर स्नेह (सगे भाई का प्रेम) का रूप दे दिया है। प्रथम अंक में ही शकुन्तला कहती है—

'अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु' अर्थात् मेरा भी इन वृक्षों पर सगे भाई के सदृश प्रेम है। इस प्रकार के वर्णन शाकुन्तल में अनेक हैं। एक स्थल पर कालिदास कहते हैं कि केसर के वृक्ष के समीप खड़ी हुई शकुन्तला उसकी प्रिय लता के समान सुन्दर दिखायी पड़ती है। (पृष्ठ २०)

प्रकृति के सहृदय रूप का वर्णन—

प्रकृति और मानव के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित करते हुए कालिदास ने प्रकृति में मानवस्वभावोचित सहृदयता का चित्रण किया है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर वृक्ष और वन-देवता भी सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और रेशमी वस्त्र, अलंकार एवं गहने देकर उसके प्रति स्नेह भावना को प्रकट करते हैं (२।५) प्रकृति के सहृदय रूप का वर्णन एक और स्थल पर देखने योग्य है। एक वृक्ष धूप की गर्मी को अपने सिर पर धारण करता है, परन्तु अपनी छाया से आश्रम में आये हुओं के सन्ताप को दूर करता है। (स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः ।। ५ ७)

पशु पक्षियों द्वारा सहानुभूति प्रदर्शन—

वृक्षादि के अतिरिक्त शकुन्तला की विदाई के समय पशु-पक्षी भी सहानुभूति प्रदर्शन से नहीं चूकते। यहां तक कि हरिणियों ने घास खाना छोड़ दिया है और मयूरी ने नृत्य का त्याग कर दिया है (४।१२)। शकुन्तला द्वारा पुत्र के समान पोषित मृग शकुन्तला को चलने से रोक देता है (४।१४)। इस प्रकार के अनेक स्थल शाकुन्तल में वर्तमान हैं।

प्रकृति का उपदेशक रूप में वर्णन —

कालिदासकृत प्रकृति का उपदेशक एवं शिक्षक रूप में वर्णन भी बड़ा सजीव है। कालिदास की प्राकृतिक शैली में सूर्य का निकलना और चन्द्र का अस्त होना मानव को यह शिक्षा देता है कि सुख एवं दुःख की स्थिति परिवर्तनशील है (४ २) एक स्थल पर कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य, वायु और शेषनाग सदा अपने कर्तव्य कर्म में रत रहते हैं, उसी तरह राजा को भी सदैव अपने कर्तव्य में रत रहना चाहिये: निम्नोद्धृत श्लोक में यही भाव निहित हैं—

> भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवह प्रयाति।
> शेषः सर्वदाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।।५।४।।

स्वाभाविक प्राकृतिक वर्णन —

कालिदास के प्राकृतिक वर्णन बड़े स्वाभाविक हैं। शाकुन्तल के अन्तर्गत

आश्रम का वर्णन नाटककार ने अद्‌भुत स्वाभाविकता के साथ किया है। निम्न स्थल में यह स्वाभाविकता द्रष्टव्य है—

कहीं वृक्षों के नीचे शुकों के कोटरों में स्थित उनके छोटे-छोटे बच्चों के मुख से गिरे हुए तिन्नी के चावल बिखरे हुए हैं, कहीं इंगुदी के फलों के पीसने से चिकने पत्थर दिखाई पड़ रहे हैं। कहीं मृग अत्यन्त विश्वस्त भाव से निर्भय होकर मनुष्यों के आने-जाने के शब्द को सहन करते हैं और कहीं जलाशयों के मार्ग मुनियों के वल्कल वस्त्रों के सिरे से टपकती हुई जल की रेखाओं से अंकित हो रहे हैं। १।१४। प्रस्तुत स्थल में आश्रम का ऐसा स्वाभाविक चित्रण किया है कि पाठक के सामने आश्रम का चित्र ही उपस्थित हो जाता है।

आलम्बन रूप से किया गया प्रकृति वर्णन—

काव्यशास्त्र के अनुसार आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में चित्रित प्रकृति-वर्णन पात्रों के चारित्रिक विकास में बहुत सहायक होता है। कालिदास ने भी प्रकृति-चित्रण की इस शैली से लाभ उठाया है। इस सम्बन्ध में यहाँ पंचम अंक का एक स्थल उद्‌धृत करेंगे। इस स्थल पर आकाश में गाया जाता है—

हे भ्रमर ! आप अभिनव पुष्प रस के लोभी आम्र-मञ्जरी का चुम्बन करके कमल में रहने से सुखी हो गये। इसे अब क्यों भूल गये। (५।१) इसी प्रकार के वर्णनों से शाकुन्तल भरा पड़ा है।

उद्दीपन रूप से किया गया प्रकृति-वर्णन—

उद्दीपन रूप में किया गया प्रकृति-वर्णन पात्रों की भावनाओं के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। षष्ठ अंक में राजा विदूषक से कह रहा है—

हे मित्र ! कण्वसुता शकुन्तला की स्मृति को रोकने वाले अज्ञान से मेरा मन जब मुक्त हुआ, तभी कामदेव ने मेरे ऊपर प्रहार करने की इच्छा से धनुष के ऊपर आम्र-मञ्जरी का बाण चढ़ा दिया (६।८) इस प्रकार आलम्बन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में किया गया प्रकृति-चित्रण प्रभावशाली एवं आकर्षक है।

शाकुन्तल के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

दुष्यन्त—

राजा दुष्यन्त इस नाटक का नायक है। पुराणों में इसके राजा से सम्बन्धित कुछ भी गुण या अवगुण रहे हों, हमें उनकी चर्चा यहां नहीं करनी है। महाकवि कालिदास के चित्रण के अनुसार ही यहां राजा का चरित्र द्रष्टव्य है। दुष्यन्त एक धीरोदात्त नायक है तथा नायक के सभी गुणों से समन्वित है। यहां हम दुष्यन्त के प्रमुख गुणों की ही चर्चा करेंगे। वह तीस या पैंतीस वर्ष के मध्य की अवस्था का

युवक है तथा मृगया प्रेमी है। शाकुन्तल के तृतीय तथा षष्ठ अंक में उसकी कामभावना चित्रित की गई है। 'चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते' वाक्य के द्वारा प्रथम अंक में प्रियंवदा के ऊपर उसका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। इससे स्पष्ट है कि वह युवावस्था के गुणों से सम्पन्न, सुन्दर तथा आकर्षक है।

दूसरा उल्लेखनीय गुण दुष्यन्त के मस्तिष्क की अत्यधिक उदारता है। शकुन्तला विषयक प्रेम के सम्बन्ध में ही हम प्रथम रूप से देखते हैं कि वह युवक था तथा राजा होने के कारण बहुविवाह कर सकता था। वह कठोर रूप से एक पत्नीव्रत का समर्थक भी न था। यह भी स्मरणीय है कि वह परिणाम की परवाह न करने वाला स्वच्छन्द व्यक्ति है। वह नैतिकता से सम्बद्ध नियमों का विशेष रूप से पालन करने वाला है। शकुन्तला के अत्यन्त आकर्षक यौवन पर तो उसका आकर्षित होना स्वाभाविक ही था किन्तु एक क्षत्रिय राजा होने के कारण वह यह जानना आवश्यक समझता है कि क्या शकुन्तला विवाहिता है या कहीं इसका विवाह सम्बन्ध विधिवत् हो गया है? यह सब जानने की स्थिति तक उसने अपने कामभाव को नियन्त्रित रखा तथा उसको यह पूर्ण विश्वास था कि उसका जो पवित्र हृदय शकुन्तला की ओर आकृष्ट हो रहा है तो शकुन्तला भी अवश्य ही क्षत्रिय से विवाह के योग्य है। शकुन्तला के माता-पिता आदि के विषय में पूछकर तथा यह जानकर कि वह परिणीता तो नहीं है दुष्यन्त का मन उसकी ओर प्रेमभाव से युक्त होता है। इसके साथ ही साथ दुष्यन्त का एक यह भी गुण है कि उसको ऋषियों के विशिष्ट आदर का तथा उनको विशेष एकान्त प्राप्त कराने का बहुत ध्यान रहता है। ऋषियों के जीवन में भी एक विशिष्ट आकर्षण देखा जाता है। तपोवन में पहुँचकर वहाँ के शान्त वातावरण से सभी जन ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानो वे भी उसी वातावरण में पोषित हो रहे हों। राजा दुष्यन्त भी जो चक्रवर्ती सम्राट है तपोवन में आकर स्वयं ही आदर से नत हो जाता है तथा उनकी निर्विघ्नता का पूरा ध्यान रखता है।

प्रथम अंक में ही हम देखते हैं कि तपोवन के मृग के ऊपर साधे हुये अपने बाण को वह रोक लेता है तथा उसको ज्ञात है 'विनीतवेशेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि" "तपोवनवासिनामुपरोधो मा भूत्'। अपनी माता के प्रति भी दुष्यन्त अत्यन्त आदरभाव रखता है। यही कारण है कि वह कहता है—"सादरम् किमम्बाभिः प्रेषितः" साथ स्त्री-जाति के प्रति भी उसके विचार उच्च हैं—

भवतु अनिर्वर्णनीयं परकलत्रं, अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः।
ईदृष नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति॥

राजनैतिक कर्तव्यों की दृष्टि से भी दुष्यन्त के मस्तिष्क की महानता ही परिलक्षित होती है। अपने अमात्य के प्रति भी आदरसूचक शब्दों का प्रयोग करते हुये कहता है—"वेत्रवति मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि" उसकी यह घोषणा—

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना' से प्रकट है कि प्रजा के प्रति उसका उत्कट प्रेम था तथा दुःख में प्रजा को सान्त्वना देने वाला था। वह अन्याय के द्वारा कोष को भरने के पक्ष में नहीं था, यही कारण है कि धनमित्र नामक व्यापारी के धन को वह उसकी गर्भवती पत्नी को दे देता है। शूरता की दृष्टि से भी दुष्यन्त के अनेक निदर्शन शाकुन्तल में आये हैं। वह इतना वीरता से युक्त था कि देवों के स्वामी इन्द्र ने भी उससे सहायता की याचना की। राजा दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति प्रेम यद्यपि कुछ सीमा तक वासनापूर्ण ही था किन्तु दुष्यन्त के अन्तस्तल में इस प्रेम के बीजांकुर बैठ गये थे। राजा दुष्यन्त अत्यन्त संस्कृत था क्योंकि उसके कर्म उसको उच्चासन पर ही प्रतिष्ठित कराते हैं। इसके साथ ही दुष्यन्त प्रकृति का सच्चा द्रष्टा था, कई ललित कलाओं का वह अच्छा ज्ञाता था। वह संगीत की उचित प्रशंसा कर सकता था तथा चित्रकला का भी ज्ञाता था। संक्षेप में नायक इस रूप में चित्रित किया गया है जिससे वह सदैव आदर का पात्र रहता है। उसका चित्रण इतने आकर्षक तथा संस्कृत रूप में चित्रित है जिससे कि कवि कालिदास की काव्य-गरिमा ही प्रकट होती है।

शकुन्तला—

नाटक की नायिका शकुन्तला स्त्री जाति का समुज्ज्वल चित्र है। ऋषि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका की कन्या शकुन्तला का वन में उसके माता-पिता के द्वारा परित्याग कर दिया गया था, जहां पक्षियों के द्वारा उसकी रक्षा की गई तथा इसके बाद कण्व ऋषि उसको उठाकर ले गये और पुत्री के सदृश ही उसका पालन-पोषण किया। तपोवन में ऋषि के मध्य परिवर्धित शकुन्तला ने इन विचारों को भी ग्रहण किया। व्यक्तिगत दृष्टि से यदि शकुन्तला का अध्ययन किया जाये तो हम देखते हैं कि मानवीय गुणों से उच्चतर दिव्य गुणों से सम्पन्न है जो उसे अपनी माता मेनका से प्राप्त हुये हैं। यही कारण था कि अपने अप्रतिम सौन्दर्य से राजा के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। शकुन्तला अब एक कन्या न रह कर पन्द्रह तथा अठारह वर्ष के बीच की अवस्था की युवती थी। उसका सौन्दर्य कृत्रिमता से रहित सर्वथा स्वाभाविक था। (अव्याजमनोहरं वपुः) बाह्य सौंदर्य के साथ ही उसका हृदय भी उतना ही स्वच्छता के गुणों से सुन्दर था। वह एक सौंदर्य-सम्पन्ना स्त्री जाति के गुणों से युक्त तथा दुष्यन्त के दर्शन से पूर्व तक कामभावना से अपरिचिता युवती थी। अतएव उसका मस्तिष्क स्त्री-जाति के पवित्र गुणों से सम्बन्धित था जो तपोवन का प्रभाव था तथा जो प्रभाव आजीवन उसको प्रभावित करता रहा। दुष्यन्त को देखकर काम के वशीभूत हुई वह मन ही मन सोचती है "किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता" इस भाव को तब तक वह अपनी अभिन्न हृदया सखियों के सम्मुख भी प्रकट नहीं कर पाती है जब तक कि कामसंतप्ता उसकी दशा ही उनको बताने के लिये बाध्य नहीं करती है। वह कहती है कि 'यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षि,'

तभी से वह इस दशा को प्राप्त हुई है। वह भारतीय नारी के विनय की भी पूर्ण रक्षा करती है, यही कारण है कि दुष्यन्त के तपोवन-विरोधी आचरण करने पर भी शकुन्तला कहती है कि "पौरव रक्षाविनयम्। मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि" इससे शकुन्तला का चरित्र अत्यन्त उन्नत हो उठता है। दुष्यन्त के साथ उसका गान्धर्व-विवाह होने पर भी वह अपने स्त्री जाति के कर्तव्यों को नहीं भूलती है। अपने पति के द्वारा वियुक्त होने पर भी प्रिय की स्मृतियों को हृदय में समेटे वह ऋषि-कन्या की तरह ही जीवन-यापन करती है। काश्यप के शब्दों में जो पूर्ण रूप से स्पष्ट हो रहा है 'अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान्' इत्यादि।

उसकी उदारता तथा सहानुभूति का भाव उसके तपोवन के वृक्षों के तथा पशु पक्षियों के प्रेम से स्पष्ट झलकता है। उसने सम्पूर्ण सृष्टि से प्रेम करना सीखा है। प्रथम अंक में शकुन्तला स्वयं कहती है—'न केवलं तात-नियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु, एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावेदनं संभावयामि, तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि (४।), पतिगृह जाती हुई वह पिता कण्व से कहती है—"तात लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये, तात एषोटजपर्यंन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधू"' इत्यादि। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला का पितृप्रेम भी अभीमित है। दोनों सखियों—प्रियंवदा तथा अनसूया के साथ भी शकुन्तला का सखि तथा बहिन जैसा प्रेम दर्शनीय है। कवि कालिदास द्वारा अंकित इस प्रकार शकुन्तला का चरित्र अनुपम है।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में विदूषक का चरित्र प्राचीन काल से चला आ रहा है जो कथावस्तु की अपेक्षा नाटक के आकार का सूचक होता है। यहाँ वह केवल हास्य उत्पन्न करने वाला ही न होकर इससे अधिक है। तपोवन में गये हुए दुष्यन्त राजधानी में माता के द्वारा विशेष कार्य के लिये बुलाये जाने पर जब किंकर्त्तव्यविमूढ़ होते हैं कि शकुन्तला के प्रेम को त्यागकर किस प्रकार नगर में जायें तब विदूषक ही दुष्यन्त का सहोदर जैसा कार्य सम्पन्न करता है। विदूषक इतना सरल स्वभाव का है कि राजा के शकुन्तलाविषयक गोपन स्वभाव को भी नहीं जान पाता है क्योंकि दुष्यन्त ने जाते समय विदूषक से कहा था "परमार्थेन न गृह्यतां वचः" (२/१८) किन्तु पंचम अंक में हंसपदिका के संगीत से विदूषक की सरलता लुप्त हो जाती है क्योंकि विदूषक ही राजा से गीत का लक्ष्यार्थ ग्रहण करने का संकेत करता है किन्तु षष्ठ अंक में वह मातलि के हाथ का खिलौना बन जाता है क्योंकि सहसा ही मातलि विदूषक पर आक्रमण करता है। नाटकीय दृष्टि से कथावस्तु को बढ़ाने में विदूषक विशेष रूप से सहायक होता है तथा प्रस्तुत नाटक में हास्य उत्पन्न करने में सहायक होता है।

अनुसूया तथा प्रियंवदा—

नाटक की नायिका शकुन्तला की दोनों सखियां प्रियंवदा तथा अनुसूया हैं जो शकुन्तला से निरन्तर बहिन जैसा प्रेम रखती हैं। प्रत्येक पाठक सरलता से ही इन दोनों सखि के प्रति जो पवित्र प्रेम है उससे परिचित हो जाता है। एक दूसरे से पूर्णतया विपरीत ये दोनों चरित्र ही, दोनों सखियों का अवस्था का भिन्न होना ही सूचित करते हैं। दोनों ही समान रूप से चतुर तथा अपने कार्यों में निपुण हैं। प्रियंवदा जैसा कि नाम से ही विदित है प्रियभाषिणी है जबकि अनुसूया शकुन्तला तथा प्रियंवदा से अवस्था में बड़ी होने के कारण अधिक विचारशील तथा गम्भीर स्वभाव वाली है। प्रियंवदा जबकि दृढ़ विचार वाली चित्रित की गई है तो अनुसूया अधिक परिपक्व विचार वाली है।

कण्व—

प्रस्तुत नाटक में नायिका के पोषण करने वाले पिता कण्व से भी हम परिचित होते हैं। चतुर्थ अंक में वह एक महत्वपूर्ण पात्र के रूप में चित्रित किये गये हैं जो अपनी पोषिता पुत्री के लिए अथाह वात्सल्य भाव से पूरित हैं वृद्ध ऋषि होते हुए भी पुत्री के बिछोह से इतना अधिक प्रभावित होते हैं कि अश्रुधारा में उनका वात्सल्य फूट पड़ता है। अपनी पुत्री को व्यावहारिक कुशलता का उपदेश देते हुए वह व्यावहारिक बुद्धिमता का ही परिचय देते हैं। प्रस्तुत नाटक में उनकी शक्ति अति मानवीय रूप में वर्णित है जो उनकी परिपक्व तपस्या का ही परिणाम है। कण्व के चित्रण में कालिदास ने पिता रूप में प्राचीन ऋषि का ही पूर्ण चित्र अंकित किया है।

भवभूति और कालिदास की नाट्यकला
(उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते)

समीक्षा साहित्यिक विकास की जननी एवं संवर्धन का मूल है। सही समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा साहित्यिक गतिविधियों का मूल्यांकन करने से पूर्व तद्विषयक सिद्धान्तों का आश्रय लेना अधिक आवश्यक होता है अन्यथा वह समीक्षण समीक्षण न होकर भावुक आलोचक के भावावेश का प्रतिबिम्ब बनकर रह जाता है। यहां हमें नाटककार भवभूति और कालिदास की नाटकीय कला पर दृष्टिपात अभीष्ट है। दोनों कलाकारों की नाट्यकला का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करते हुए विद्वानों ने भवभूति की नाट्यकला से प्रभावित होकर एक उक्ति कही है—

उत्तररामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते।

अर्थात् अपने नाटक उत्तररामचरित में नाटककार भवभूति कालिदास से भी आगे हैं। यह निर्णय उनकी विशेष कलाकृतियों, जिनमें अन्य कृतियों की अपेक्षा

कला का अधिक विकास और परिपाक हुआ है, के बल पर ही दिया जान पड़ता है। यहां हम विभिन्न दृष्टियों से भवभूति एवं कालिदास की नाटकीय विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

भवभूति की कला में भारतीय संस्कृति की आत्मा देदीप्यमान है, यह बात आदर्श चरित राम के चरित्र के द्वारा उत्तर रामचरित में पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। राम की आत्मा में भारतीय संस्कृति का गौरव भरा पड़ा है। वे जन-जन के हित की साकार मूर्ति हैं। भवभूति का नायक भारतीय आदर्श की चरम सत्ता है। कालिदास की श्रेष्ठतम कृति का नायक दुष्यन्त यथार्थ का नग्न स्वरूप है। दोनों नाटकों की आधार-शिला प्रेम की भूमि है।

परन्तु एक का प्रेम अनन्त, आत्मिक एवं अनिर्वचनीय है तो दूसरे का भौतिक एवं वासनावान् रूप लेकर अवतरित हुआ है। भवभूति के राम और सीता में आरम्भ से ही जिस गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं उसका कालिदास में अभाव है। इस सम्बन्ध में 'डे' साहब का कथन है—

Bhavbhuti's Ram and Sita are form the beginning man woman of more strenous and deeper experience than Dusyanta and his love.

प्रेमतत्व—

दोनों की नायिकाओं के प्रेम में भी गहरा मतभेद है। भवभूति की नायिका सीता भारतीय प्रेम की पवित्र मूर्ति है, परन्तु इसके विरुद्ध कालिदास की नायिका शकुन्तला वासनामय प्रेम की साक्षात् अभिव्यक्ति है और इसीलिये प्रायश्चित की भावना का जन्म देकर नाटककार ने भारतीय आदर्श के पालन की समस्या का हल सोचा है। शकुन्तला एक परकीया नायिका है और सीता स्वकीया। भारतीय आदर्श का पालन स्वकीया नायिका के द्वारा ही सम्भाव्य है जिसका धर्म पातिव्रत्य धर्म का पालन मुख्य होता है। यही उसका धर्म है। उसके प्रेम में गोपनीयता अथवा कपट को स्थान नहीं है। उसके प्रेम की स्पष्टता उसका गुण है। भारतीय आदर्श नारी सीता ऐसी ही नायिका है। वह अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ प्रेम का भाव प्रकट करती हुई नहीं देखी जाती। यद्यपि नारी के कई स्वरूप हैं, परन्तु यहां सीता के पत्नीत्व पर विचार करना उचित है क्योंकि आलोच्य नाटककार की इस कृति 'उत्तररामचरित' में सीता के विशेषतया पत्नीत्व के, ही दर्शन होते हैं। भारतीय आदर्श प्रेम, जिसका चित्रण आचार्य भवभूति ने अपने 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' श्लोक में किया है, के दर्शन हमें आदर्श नारी सीता में उस समय होते हैं, जब वे सुख और दुःख दोनों में ही अपने निष्ठुर पति राम को नहीं भूलतीं। वे परित्यक्तावस्था में भी अपने भाग्य को दोष देती हैं परन्तु राम को कोई दोष नहीं देतीं। सत्य तो यह है कि पति की इच्छा से इतनी मिलकर चलने वाली नारी ही भारतीय आदर्श नारी हो सकती है।

परकीया नायिका होने के कारण शकुन्तला के आदर्श इससे पूर्णतया भिन्न है। उसका प्रेम गोपनीय एवं कपट-पूर्ण है। शकुन्तला की प्रेम-भावना महर्षि कण्व के पीठ-पीछे जागती है। इसके अतिरिक्त उसका प्रेम आश्रम-व्यापार-विरोधी है। शकुन्तला जहां आनन्दोल्लास की साक्षात् प्रतिमा है वहां सीता अपने पति-प्रेम के लिए आजीवन दुःख की भागिनी बनकर रह गई है, वह अपने जीवन को पति के अर्पण करने के लिए समझती है। डॉ० भट्ट ने इस करुण-रूप-मूर्ति' का चित्रण निम्न प्रकार से किया है :—

The days of the exciting ways of the new married wife. When the parents were alive to take care of the worries of the world, proved to be short lived indeed. And the crush in burden of two separations come upon her. Tamsa describes her correctly as 'an image of pathas.'

कालिदास सौन्दर्य के कवि हैं इसीलिये उनकी नायिका शकुन्तला और नायक दुष्यन्त प्रणय के क्षणिक आवेश में ही विवाह कर लेते हैं। उनमें गाम्भीर्य का अभाव है। हम इस सांस्कृतिक हीनता का उत्तरदायित्व पूर्णतया भावुक कलाकार पर छोड़ना उचित नहीं समझते क्योंकि इसी दोष के निवारणार्थ शिवाभिलाषी कलाकार कालिदास ने अपनी उसी कृति अभिज्ञानशाकुन्तल में एक सीख भी दी है, जिसमें लिखा है :—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥५।२४

इस प्रकार उन्होंने दुष्यन्त और शकुन्तला जैसे प्रेम को वैरी बताकर आदर्श प्रेम-मर्मज्ञ भवभूति के प्रेम की आन्तरिकता एवं अनिर्वचनीयता के सहारे अपने को भारतीय संस्कृति का विरोधी होने से बचाया है। दोनों में अन्तर इतना है कि एक यथार्थ के सहारे आदर्श का उपदेश देता है तो दूसरा आदर्श की पृष्ठ-भूमि से अपनी कला का आरम्भ करता है और आदर्श के चरम लक्ष्य पर ही अपनी कृति का अवसान करता है।

प्रकृति-चित्रण :—

प्रकृति-चित्रण काव्य का महान् उपादान है। इसके बिना काव्य की पूर्णता अधूरी ही रहती है। जड़ और चेतन सभी परम एवं अद्वितीय सत्ता की सृष्टि हैं। सांख्य दर्शन ने तो जड़ और चेतन अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति की है। फिर चेतन संसार की मनोवृत्तियों का चित्रण-कर्ता साहित्यकार चेतन की प्रतिबिम्ब-दर्शिका प्रकृति का उल्लंघन कैसे कर सकता है। प्रकृति का यह चित्रण साहित्य में आलम्बन और उद्दीपन के रूप में हुआ है। हमारे आलोच्य कवियों ने भी प्रकृति-चित्रण की ओर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अपनी तूलिका चलाई है परन्तु

अपनी-अपनी शैलीकारिता के कारण दोनों का स्थान अलग-अलग है। भवभूति और कालिदास दोनों ही प्रकृति-चित्रण के मर्मज्ञ हैं। परन्तु उनकी प्रधान कृतियों उत्तर-रामचरित और अभिज्ञानशाकुन्तल के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि एक ने प्रकृति के केवल कोमल स्वरूप के दर्शन कराकर अपनी तूलिका को विराम दे दिया है तो दूसरे ने उसके सूक्ष्म और भीषण रूप का चित्रण अपनी सर्वतोभाविनी प्रतिभा के बल पर किया है। कालिदास की इस कोमलकान्त पदावली के दर्शन अभिज्ञान-शाकुन्तल के निम्न पद्य में कैसे अद्भुत होते हैं—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः।
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः शकुन्तला २।१०

इस पद्य में महाकवि कालिदास शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य की चर्चा कर रहे हैं। दुष्यन्त का कथन है कि शकुन्तला उस कमनीय कुसुम के समान है जिसे सूंघने का सौभाग्य कभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ, शकुन्तला उस नूतन किसलय के समान है जिस पर किसी नाखून का क्षत नहीं हुआ है, यह उस रत्न के समान है जो कभी भी बिंधा नहीं है और यह उस मधु के सदृश है जिसका आस्वादन अभी किसी ने नहीं किया है।

भवभूति का भी प्रकृति विषयक सूक्ष्म एवं भीषण-चित्रण निम्न पद्य से दर्शनीय है :—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूनां,
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि,
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीनां,
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥ उत्तररामचरित २।२१

अर्थात् यहां पर गुफाओं में रहने वाले जवान भालुओं की प्रतिध्वनि से फैले हुए निष्ठीवन से युक्त शब्द वृद्धि को प्राप्त करते हैं। शल्ल की लताओं का ठण्डा, तीक्ष्ण और सुगन्धित हाथियों से मर्दित और बिखरे हुए पर्वों के रस का गन्ध बढ़ रहा है

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भवभूति ने प्रकृति के कोमल रूप को ही नहीं अपनाया है, वरन् उन्होंने भीषण स्वरूप का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। भवभूति ने प्रकृति के कोमल स्वरूप को भी अपनाया है। निम्न पद्य में प्रकृति देवी के कोमल स्वरूप का कैसा मनोहर एवं तथ्य पूर्ण वर्णन किया है—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरयुक्त—
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ॥

फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-

स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥ उ० रा० २।२०

अर्थात् यहां पर मद वाले पक्षियों से आश्रित वेतस से गिरे हुए फूलों से सुगन्धित ठण्डे और निर्मल जल से युक्त तथा फल समूह के पकने से श्याम वर्ण वाले घने जामुन के वृक्षों के कुंजों में गिरने से शब्दायमान बहुतेरे प्रवाहों से युक्त नदियां बहती है।

इस प्रकार के उदाहरणों से भवभूति के प्रकृति-चित्रण की उच्चतरता किसी से छिपी नहीं है। दोनों शैलीकारों की शैलीगत विशेषताओं के कारण ही प्रकृति-चित्रण के ये भेद हुए है। एक की शैली प्रस्तुत विषय को बारीकी के साथ चित्रित करने की है तो दूसरे की शैली रहस्यमय चित्रण की है। जहाँ भवभूति प्रकृति के अंग-उपांगों सहित उसका चित्रण करते हैं वहां कालिदास कुछ पाठक पर भी छोड़ देते हैं। दोनों कला-मर्मज्ञों के प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में मैकडानल ने लिखा है—

While other Indian poets dwell on the delicate & mild bevties of nature, Bhavabhuti loves to depict her grand and sobline aspects doubtless owing to the influence on his mind of the northern mountains of his nature land. He is more over, skillful not only in draming characters inspired by tender and noble sentiment, but in growing effective expression in depth & force of impression.

अलंकार-चित्रण—विद्वानों ने कालिदास के उपमालंकार की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उनके उपमा सम्बन्धी वर्णनों की प्रशंसा करते हुए आलोचकों ने "उपमाकालिदासस्य" कहकर सभी को हेय बता दिया है। परन्तु यदि सच पूछा जाय तो भवभूति भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। भवभूति की उपमायें भी मौलिक एवं नवीन हैं। उनकी दुःखाग्नि की उपमा इसी प्रकार की उपमायें हैं। दुःखाग्नि की 'हृन्ममंत्रण' से दी गई उपमा इसी प्रकार की उपमा है।

तीसरे अंक के आदि में राम के करुण रस की उपमा 'पुटपाक' से देना कवि की अद्भुत प्रतिभा का ही परिचायक है। दोनों की वर्णन प्रकारता में भी गहरा अन्तर है। एक शैली घटना प्रधान है तो दूसरे की वर्णनप्रधान। इसीलिये तो भवभूति के उत्तररामचरित में कहीं-कहीं घटनाओं की श्रृङ्खला विश्रृङ्खल सी हो गई है और आलोचकों ने भी इसी आधार पर भवभूति को नाटककार न कहकर केवल कवि-मात्र कहने का साहस किया है। वास्तव में भवभूति की कवित्वशक्ति उच्च कोटि की है। इस कवित्व भावना से नाटक की नाटकीयता में कुछ बाधा पड़ी है।

वस्तु नेता, रस एवं वृत्तियों की दृष्टि से —

नाट्यशास्त्र के पारङ्गत विद्वान धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ 'दशरूपक' में नाटक की एक परिभाषा दी है —

'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको दशभेदक:" इस कथन के अनुसार वस्तु, नेता और रस ये तत्व नाटक के प्राण हैं। चतुर्थ तत्व के रूप में वृत्तियों को भी ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि वृत्तियों को भी "नाट्यमातर: कहा गया है।

कथावस्तु —

कालिदास और भवभूति दोनों के ही नाटकों की कथावस्तु प्रख्यात है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा वाल्मीकि रामायण से ली गई है। दोनों ही कलाकारों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के बल पर आवश्यक परिवर्तन भी यथापेक्षा किये हैं। कालिदास ने दुर्वासा के शाप वाली कथा और अंगूठी वाले प्रसंगों को जन्म देकर अपने नायक दुष्यन्त की रक्षा की है। इस सम्बन्ध में जहां तक उत्तररामचरितकार की बात है उसे अपने महान् चरित्रवान् नायक की रक्षा के लिये किसी घटना की अवतारणा नहीं करनी पड़ी है क्योंकि उसके नायक ने भारतीय आदर्श के विरुद्ध चलने का साहस तक भी नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उसका नायक स्वयं संसार का श्रेष्ठ महापुरुष है जिसमें समस्त उदात्त वृत्तियों की सत्ता स्वभावत: विद्यमान है। इसके अतिरिक्त यदि नाटककार ने अपने नाटक में कुछ मौलिक घटनाओं को जन्म दिया है तो वह केवल रस सम्बन्धी पोषण के लिये। प्रथम अंक में चित्रवीथिका वाले प्रसंग की अवतारणा इसीलिये की गई है। प्रयोजन स्वरूप इससे करुण रसवादी आचार्य की भावना को कैसा सहयोग मिला है यह भी उत्तररामचरित के अध्येता से छिपा नहीं है। कथा में मौलिकता आने के अतिरिक्त इस प्रसंग से नाटक में चरित्रगत विशेषता और नाटकीय विशेषताओं के उद्घाटन के लिये भी अच्छा अवसर मिला है।

कालिदास की कथावस्तु लौकिक जगत की कहानी है और भवभूति की कथावस्तु यद्यपि एकदम लौकिक नहीं है परन्तु उसे नाटककार ने अपने कलाचातुर्य से लौकिक बनाकर इस क्षेत्र में कालिदास वाली लौकिकता के समकक्ष बना दिया है। यही यथार्थ तो भवभूति की घोर प्रशंसा का भागी है। राम, सीता, विष्णु एवं लक्ष्मी सभी अवतारी होते हुए भी मानविक दुर्बलताओं से भरे हैं। राम को अपनी पत्नी के निर्वासन जनित विछोह पर उतना ही दुःख है जितना किसी साधारण मानव को। उनके राम और साधारण मानव में इतना मात्र अन्तर है कि वे आचरणों के महान् आदर्श हैं और साधारण मानव में पतन बनकर ही रह जाता है। दूसरी ओर कालिदास की कथावस्तु लौकिक थी और यथार्थ की उस भूमि पर प्रतिष्ठित थी जो समाज के उच्च वर्ग द्वारा निन्द्य थी। महाभारत में दुष्यन्त का चरित्र एक लम्पट राजा के रूप में चित्रित किया गया है। महाकवि ने अपनी नाटकीय चतुरता के बल पर उसे

धीरोदात्त नायक बनाने की चेष्टा की है परन्तु वे अपने इस प्रयत्न में समर्थ नहीं हुए हैं। उनका नायक दुष्यन्त धीरललित कोटि के ही अन्तर्गत आता है। दूसरे उनकी नायिका शकुन्तला एक प्रगल्भा नायिका है। महाकवि ने लज्जा, संकोच और मौग्ध्य की साक्षात् प्रतिमा बनाकर उसे ऋषि-आश्रम की वास्तविक बाला का रूप दिया है, जिसमें उन्होंने भारतीय नायिका के सच्चे आदर्श को चित्रित करने की चेष्टा की है परन्तु ऐसा उन्होंने किसी स्वाभाविक वृत्ति के बल पर नहीं किया है।

नेता--

संस्कृत साहित्यशास्त्र के अनुसार नेता अथवा नायक को (१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धरोद्धत और (४) धीर-प्रशान्त में से किसी एक प्रकार का होना चाहिये। नायिकायें दो प्रकार की होती हैं—एक स्वकीया और दूसरी परकीया। यद्यपि दोनों प्रकार की नायिकाओं की चर्चा साहित्य सिद्धान्तों में प्राप्त है। परन्तु संस्कृत साहित्य में प्रायः स्वकीया को ही महत्व दिया जाता है। क्योंकि संस्कृत-नाटक अधिकतर आदर्शवादी होते हैं और भारतीय आदर्शवाद स्वकीया की ही आवश्यकता भी रखता है। यद्यपि ऐसे भी कुछ प्रकरण नाटक हैं जिनकी नायिका परकीया है। ऐसे ही नाटकों में मृच्छकटिक आता है। उनकी नायिका वसन्तसेना परकीया नायिका है। परन्तु वह भारतीय आदर्श के पूर्णतया विपरीत है। भवभूति के उत्तररामचरित और कालिदास के शाकुन्तल में नायक-नायिका सम्बन्धी भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। उत्तररामचरित के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। वे सब प्रकार से धीरोदात्त गुण सम्पन्न हैं। इस नाटक की नायिका आदर्श देवी सीता है। भवभूति के नायक और नायिका में स्वकीया के श्रेष्ठ प्रेम की प्रतिष्ठा की है। इधर अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास का नायक धीरललित है। इसकी नायिका शकुन्तला पहले तो परकीया के रूप में चित्रित की गई है किन्तु कवि ने परकीया के प्रेम का स्वकीया के रूप में पर्यवसान करके एक ओर तो भारतीय आदर्शवाद की रक्षा की है और दूसरी ओर प्रेम के तीव्रतम रूप की अभिव्यक्ति कराई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के नायक और नायिका यथार्थ की साधारण भूमि पर चलते-चलते सहसा आदर्श के उच्चतम शिखर पर पहुँचते हैं। परन्तु भवभूति के नायक और नायिका आदर्श के उच्चतम शिखर से चलना प्रारम्भ करते हैं और स्थान-स्थान पर यथार्थ की ऊंची-नीची भूमि पर दिखाई पड़ते हैं। जीवन में आदर्श कल्पना की वस्तु समझी जाती है। इसलिये वह सहसा सर्वग्राह्य नहीं हो पाती। परन्तु यथार्थ साधारणीकरण में अधिक सफल होता है। क्योंकि वह लोक के हल्के चरितों का एक चित्रमात्र होता है। लोक अपनी भावनाओं से ही कवि के महत्व को आंकता है। यही कारण है कि कालिदास संसार की जिह्वा पर जितने अधिक नाचते हैं उतने भवभूति नहीं इसका मूल कारण दोनों नाटककारों के रस की साधारणीकरण की अवस्था भी है। कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल की यह स्थिति आरम्भ से ही जाग्रत हो उठती है। किन्तु भवभूति के नाटक में इसका उदय कुछ देर से होता है। इसका मूल कारण

उन दोनों के पात्रों की विशेषता है। इसके अतिरिक्त भवभूति और कालिदास के नाटकों में चरित्र-चित्रण सम्बन्धी भी अन्तर दिखाई पड़ता है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से कालिदास के चरित्रों का पूर्णतया विकास मिलता है। इसके विपरीत भवभूति के नाटक में यह विशेषता गौण रूप से परिलक्षित हुई है तथा रस और भावाभिव्यक्ति की ही अधिक पुष्टि हुई है। उससे चरित्र-चित्रण में लोप आ गया है। इसी का तो फल है कि नाटक में सक्रियता और घटनात्मक प्रभाव का लोप सा हो गया है।

दोनों नाटकों में नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त बहुत सी सखियां भी दिखाई गई हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में ये सखियां शकुन्तला के जीवन की चिरसंगिनी बनी रहती हैं। जीवन की करुण कहानी को लेकर शकुन्तला को अपना जीवन यापन करना पड़ता है। इससे नायिका के चरित्र का सौन्दर्य बढ़ जाता है। भवभूति के उत्तररामचरित में आरम्भ में तो सीता एक प्रकार से एकाकिनी ही दिखायी पड़ती है। किन्तु बाद में उन्हें ऋषि-आश्रम में दिखलाकर कवि ने उनके एकाकीपन को, बहुत सी ऋषि-बालाओं का साहचर्य दिखाकर कुछ कम कर दिया है। फिर इधर वाल्मीकि ऋषि सीता को करुणा और व्यथा की अवस्था में सान्त्वना प्रदान करते है। किन्तु बेचारी शकुन्तला को इस प्रकार की सान्त्वना का अभाव है। भवभूति ने अपनी नायिका के जीवन के आनन्द और संयोगपक्ष की पूर्ण उपेक्षा करके उसमें करुणा की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। शकुन्तला के प्रारम्भिक जीवन में संयोग के बड़े ही सरल एवं हृदयग्राही चित्र चित्रित किये गये हैं। इससे करुण रस की उतनी अधिक अभिव्यक्ति शकुन्तला के सहारे नहीं हुई है, जितनी करुण मूर्ति सीता के कारण।

रस—

चतुर्वर्ग – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अर्जन ही जीवन का परम लक्ष्य रहा है। साहित्य क्षेत्र में रस को बड़ा महत्व दिया गया है। विद्वानों ने 'रसोवै सः' कहकर काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का रूप दे दिया है। किन्हीं-किन्हीं मनीषियों ने रसानुभूति को ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा है। नाट्यशास्त्री भरत के अनुसार रस के विविध अंगों, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के चित्रण को अधिक महत्व दिया जाता है। दोनों नाटककारों ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। इस सम्बन्ध में डा० भण्डारकर ने लिखा है—

The former (Kalidas) suggests the sentiments which the later (Bhawabhuti) expresses in forcible language.

अर्थात् कालिदास जहां पर भावों की व्यंजना करते है भवभूति वहां उसे प्रभावपूर्ण शब्दों में चित्रित करते हैं। श्री काले महोदय ने भी भवभूति के करुण रस के वर्णन को अद्वितीय कहा है।

Bhawabhuti's delineation of the Sentiments of pathos is simply imparallable.

प्रसिद्ध भी है—

कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते ।

अब दोनों विद्वानों की रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में विचार करना अनुपयुक्त नहीं होगा। महाकवि की पदवी की प्राप्ति में सहायक कालिदास के शृंगार को ही अधिक महत्व दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि शृङ्गार को रस सिद्धान्तों के जन्मदाताओं ने रसराज कहा है। जैसा कि उसकी लौकिक स्थिति के अनुरूप ठीक भी है। परन्तु कालिदास के शाकुन्तल में प्राप्त शृङ्गार रस को बहुत से आलोचक मर्यादाहीनता के कारण इसे दोषपूर्ण मानते हैं। उनकी इस शृङ्गारिक रचना के कुछ अंश पढ़ने के पश्चात् केवल वासनात्मक प्रवृत्तियों के उद्दीपन के अतिरिक्त और कुछ फल नहीं होता। भवभूति ने भी शृङ्गार का चित्रण किया है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति में गहराई है, उसमें मर्यादाहीनता नहीं पायी जाती। उत्तररामचरित में भी 'अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत' जैसे कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें शृङ्गार का गहन चित्रण है। परन्तु आचार्य के इस शृङ्गार की अवतारणा स्मरणमूलक अभिव्यक्ति के अर्थ में ही हुई। जिसके बिना उनका रसराज करुण उतना पुष्ट नहीं बन पाता जैसा कि वह सभी रसों का सम्राट बन गया है। साधारणीकरण की दृष्टि से भी करुण का महत्व शृङ्गार की अपेक्षा अधिक ही है। इसमें हृदय में सात्विकता के संचार करने की अधिक शक्ति रहती है। इसलिए रस के प्रवाह और अनुभूति की दृष्टि से भी कालिदास से भवभूति को श्रेष्ठतर कहना अनुचित न होगा जहां तक रस के विभिन्न अगों एवं विन्यास की बात है कालिदास ने बहुत कुछ परम्परा का पालन किया है। किन्तु भवभूति ने रस की अभिव्यक्ति अपनी कुछ अभिनव प्रणालियों से कराई है। जिससे उनकी रसाभिव्यक्ति अधिक प्रभावात्मक हो गयी है। इसमें उनकी नाटकीय विषमता और ग्लानि प्रदर्शन की कल्पनायें अभिनव कल्पनायें हैं। नाटकीय विषमता के सम्बन्ध में निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्नेहं, दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा। उ० रा० १।१२

ग्लानि प्रदर्शन के सम्बन्ध में नीचे लिखा उदाहरण दिया जा सकता है—

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम् ।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥ उ० रा० १।४६

वस्तु, नेता और रस के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने नाटक का एक चतुर्थ तत्व वृत्ति भी माना है। ये वृत्तियां ४ होती हैं—१–कौशिकी, २–आरभटी, ३–सात्वती और ४–भारती। इन वृत्तियों को नाट्य-शैलियां भी कहा जाता है। भिन्न-भिन्न रसों

में भिन्न वृत्तियों का पालन होता है। कालिदास के नाटकों में अधिकतर कौशिकी वृत्ति के ही दर्शन होते हैं। इसी वृत्ति में शृङ्गार की सम्यक् अभिव्यक्ति भी पायी जाती है। मैं तो समझता हूँ कि आचार्य भरत ने भी समस्त जनसाधारण के लिये निर्मित नाट्यवेद में इसीलिए कौशिकी वृत्ति का समावेश नहीं किया कि उसमें केवल रञ्जना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वृहस्पति जी के अनुरोध से उन्होंने इस वृत्ति की रचना की थी। किन्तु इस सम्बन्ध में भवभूति ने समन्वयवाद के सहारे कौशिकी के साथ आरभटी का भी सुन्दर समन्वय किया है। कौशिकी वृत्ति में प्रयुक्त होने वाली कोमलावृत्ति का भी भवभूति ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। जैसे कि कि निम्नलिखित श्लोक में —

> परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम् ।
> करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी । उ० रा० ३.४

यद्यपि कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तल में भी कौशिकी वृत्ति का प्रयोग हुआ है परन्तु वे भवभूति से आगे नहीं बढ़ सके हैं। उनकी विरहिणी शकुन्तला का चरित्र भवभूति की विरहिणी सीता से भिन्न देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है।

आचार्य भवभूति की कला भी आलोचकों के द्वारा मुक्त कण्ठ से प्रशंसित हुई है। इस सम्बन्ध में S. K. De महोदय ने लिखा है —

Bhawabhuti is indeed not a shadny figure, but likes vividly in his works, he one of the few charmingly egoistic poets in Sanskrit who seldom loves right of himself but permeates his writings (even though they are dramas) with the flavocur of a rugged but loveable personality

प्रस्तुत भूमिका के तैयार करने में लेखक को अपनी धर्मपत्नी चेतन शर्मा से जो सहयोग मिला है, उसके लिए धन्यवाद निवेदन पर्याप्त न होगा। इसके अतिरिक्त डा० शारदास्वरूप एम० ए०, पी० एच० डी० (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, गोकुलदास गर्ल्स कालेज, मुरादाबाद) से भी सुझाव मिले हैं, जिनके लिए मैं डा० स्वरूप का आभारी हूँ। अनुसन्धान की शिष्याओं में कु० प्रभा टण्डन (लेक्चरर, गोकुलदास गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुरादाबाद) और डा० मञ्जुला सिंहल (लेक्चरर, दयानन्द डिग्री कालेज, मुरादाबाद) से भी इस कृति के सम्बन्ध में परामर्श एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं इन दोनों के प्रत्येक शुभ साफल्य की कामना करता हूं।

राममूर्ति शर्मा

विश्वनिवास
के० जी० के० कालेज,
मुरादाबाद

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पात्र और उनका परिचय

पुरुष पात्र

१ सूत्रधार	रंगमञ्च का अध्यक्ष
२ दुष्यन्त	नायक, हस्तिनापुर का राजा
३ सूत	दुष्यन्त का सारथि
४ सेनापति (भद्रसेन)	राजा का सेनापति
५ विदूषक [माढव्य]	राजा का मित्र और हंसी मजाक करने वाला
६ कण्व [कश्यप]	शकुन्तला के धर्म-पिता
७ मारीच [कश्यप]	एक महर्षि
८ भरत [सर्वदमन]	राजा दुष्यन्त का पुत्र
९ सोमरात	दुष्यन्त के पुरोहित
१० मातलि	इन्द्र का सारथि
११ वैखानस	कण्व का शिष्य
१२ शार्ङ्गरव	,, ,, ,,
१३ शारद्वत	,, ,, ,,
१४ गौतम	,, ,, ,,
१५ हारीत	,, ,, ,,
१६ शिष्य	,, ,, ,,
१७ रैवतक [दौवारिक]	राजा का नौकर
१८ करभक	,, ,, ,,
१९ कञ्चुकी [वातायन]	,, ,, ,,
२० वैतालिक	भाट, स्तुति पाठ करने वाला
२१ श्याल	राजा का साला, नगर का कोटपाल
२२ धीवर	मछली पकड़ने वाला
२३ सूचक, २४ जानुक	पुलिस वाले
२५ गालव	मारीच ऋषि का शिष्य

स्त्री पात्र

१ नटी	सूत्रधार की स्त्री
२ शकुन्तला	नायिका, कण्व की धर्म-पुत्री
३ अनुसूया	शकुन्तला की सखी
४ प्रियंवदा	,, ,, ,,
५ गौतमी	कण्व के आश्रम की संचालिका

६ अदिति [दाक्षायणी]	महर्षि मारीच की पत्नी
७ सानुमती	मेनका की सखि अप्सरा
८ चतुरिका	
९ परभृतिका	राजा की नौकरानियां
१० मधुकरिका	
११ वेत्रवती [प्रतिहारी]	द्वारपालिका
१२ यवनी	राजा की सेविका
१३ तापस्त्री [सुव्रता]	मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी स्त्री

निम्नलिखित पात्रों का केवल उल्लेखमात्र शाकुन्तल में विद्यमान है।

१ मघवा	देवताओं का राजा इन्द्र
२ जयन्त	इन्द्रपुत्र
३ कौशिक विश्वामित्र	शकुन्तला के जन्मदाता पिता
४ मेनका [अप्सरा]	शकुन्तला की माता
५ दुर्वासा	शकुन्तला को शाप देने वाले ऋषि

परिशिष्ट [क]

पारिभाषिक शब्दों की टिप्पणियाँ

१. नाद्यन्ते—नाद्यन्ते का अर्थ है नान्दी के अन्त में। अब प्रश्न यह उठता है कि नान्दी का क्या तात्पर्य है? नान्दी के अन्तर्गत नाटक के या काव्य के प्रारम्भ में देवता, ब्राह्मण तथा राजा की आशीर्वाद युक्त स्तुति की जाती है। भरत मुनि का कथन है कि नाटक में विघ्नों की शान्ति के लिये नान्दी का पाठ अवश्य किया जाना चाहिये। इसमें स्तुति के साथ आगे की कथा का भी संकेत होता है नान्दी में आठ, दस या बारह पद होने चाहिएं। इसमें मांगलिक वस्तु जैसे शंख, चक्र, चक्रवाल, कुसुम आदि का वर्णन होना चाहिए।

"आशीर्नमस्क्रियारूपश्लोकः काव्यार्थसूचकः नान्दीति कथ्यते"

—मातृगुप्ताचार्य

इस नाटक में पत्रावली नामक नान्दी है, प्रस्तुत नान्दी में भाव कथा की सूचना मिलती है।

२. सूत्रधार—सूत्रधार का अर्थ है—रंगशाला का व्यवस्थापक। "सूत्रं धारयति इति सूत्रधारः" सूत्र का अर्थ है कथावस्तु। कथावस्तु को धारण करने वाला सूत्रधार कहलाता है। सूत्रधार वह व्यक्ति होता है जो नाटक के आरम्भ में नान्दी पाठ करके नाटक की कथावस्तु का निर्देश करता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है-

"नाट्यस्य यदनुष्ठानम् तद् सूत्रं स्याद् सबीजकम्।
रंगदैवत् पूजाकृत सूत्रधार उदीरितः॥"

सूत्रधार की पत्नी को नटी कहते हैं। ये दोनों मिलकर अपने वार्तालाप व अभिनय द्वारा दर्शकों के सम्मुख नाटक की कथा का संकेत करते हैं।

३. प्रस्तावना—'प्रस्तावयति प्रतिपाद्यविषयं उपस्थापयति' या 'वाक्यावली सा प्रस्तावना।' जहां नटी, विदूषक अथवा सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में कुछ ऐसे वाक्यों द्वारा इस प्रकार बात-चीत करें, जिससे प्रस्तुत कथा की सूचना हो जाये, उसे प्रस्तावना या आमुख कहते है।

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥

प्रस्तावना के कई भेद होते हैं–(१) कथोद्घात, (२) उद्घात्यक, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक तथा अवगलित।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है।

४. शुद्धान्तः—शुद्धान्त का तात्पर्य है अन्तःपुर। जिसका अन्तः (सीमाभाग) शुद्ध है उसे शुद्धान्तः कहते हैं। अंतःपुर को पवित्रतायुक्त माना जाता है। अन्तःपुर का तात्पर्य है रमणीवास, जहां राजा की रमणियां निवास करती हैं। अन्तःपुर में कञ्चुकी बिना किसी रोक टोक के प्रवेश कर सकता है।

५. हला—इस शब्द का प्रयोग अनुसूया शकुन्तला के लिये करती है। यह सम्बोधन सूचक शब्द है। मित्रता में ही एक सखी दूसरी सखी का अत्यन्त निकटताद्योतक इस सम्बोधन के द्वारा आह्वान करती है।

६. वैखानस—विखनसमुनिना कृतं व्रतं वैखानसम्। यहां पर इस शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में ही हुआ है। वैखानस का तात्पर्य है तपस्वी का व्रत।

७. सूर्यकान्तः—सूर्यकान्तमणि की यह विशेषता है कि वह सूर्य के तेज से पराभूत नहीं होती है। इसके विपरीत अपने तेज को उगलकर अपने दाहक का परिचय देती है। मुनियों का तेज भी सूर्यकान्तमणि के समान दाहक होता है।

८. निर्मक्षिकम्—निर्मक्षिकम् का तात्पर्य है कि जो मक्खियों से शून्य हो अर्थात् एकान्त स्थान। ऐसा एकान्त कि जहां पर मक्खी भी प्रवेश न कर सके।

९. तिलोदकम्—तिल तथा उदक (जल) इन दोनों शब्दों की सन्धि करके 'तिलोदक' शब्द की निष्पत्ति होती है। भारतीयों में ऐसी प्रथा है कि मृत्यु के पश्चात् मृतक को तिल मिश्रित जल अर्पित किया जाता है। यहां पर शकुन्तला कहती है कि यदि मुझे मनचाहा वर [दुष्यन्त] नहीं प्राप्त होता है तो मैं मृत्यु का वरण ही करना चाहती हूं।

१०. अङ्कः—जो भाव एवं रसों के द्वारा अर्थों को प्रकाशित करता है और जो अनेक प्रकार के विधानों से युक्त होता है, उसे अङ्क कहते हैं। इसमें एक अर्थ की समाप्ति और 'बीज' का उपसंहार होता है। साथ ही बिन्दु का कुछ सम्बन्ध भी बना रहता है। नाट्यशास्त्र में अंक की परिभाषा इस प्रकार है—

> अङ्क इति रूढ़ि शब्दो भावैं रसैश्च रोपयत्यर्थान्।
> नाना विधानयुक्तो यस्मात् तस्मात् भवेदङ्कः॥
> यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र बीजस्य भवति संहारः।
> किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इतिसदावगन्तव्यः॥

—नाट्यशास्त्र २०।१४।१६

११. स्वगतम्—जो विषय सुनाने के योग्य नहीं होता उसे स्वगत कहते हैं।

अश्राव्यं खलु यद् वस्तु तदिह स्वगतम् मतम्।

[साहित्यदर्पण ६।१३७)

१२. प्रकृतिपेलवा—प्रकृति का तात्पर्य स्वभाव है तथा पेलव का अर्थ है कोमल। अतः प्रकृतिपेलवा इस शब्द का अर्थ है स्वभाव से ही कोमल। इस शब्द का प्रयोग शकुन्तला के लिये किया गया है। शकुन्तला स्वभाव से ही कोमल है।

१३. विष्कम्भक—नाटक के मध्य में अथवा आगे आने वाली कथाओं का सूचक विष्कम्भक कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध तथा मिश्रित। जिसमें एक या दो मध्यम का प्रवेश होता है। उसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं। प्रस्तुत नाटक में चतुर्थ अंक में शिष्य कण्व के आश्रम में लौट आने की सूचना देता है।

शुद्ध विष्कम्भक है। जिसमें नीच तथा मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है वह मिश्रित विष्कम्भक होता है। ये लोग प्राकृत बोलते हैं।

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजकः॥

१४. अपटीक्षेपेण अपटीक्षेपेण का अर्थ है बिना पर्दा उठाये हुये प्रवेश करना। हर्ष, शोक, भय आदि भावों से जब कोई पात्र अभिभूत हो जाता है तब नाटक में 'अपटीक्षेपेण' का प्रयोग किया जाता है। दुष्यन्त नगर जाकर भी शकुन्तला की कोई सुधि नहीं लेता है। तब शिष्य के बोलते समय ही अनुसूया बिना पर्दा हटाये प्रवेश करती है। यहाँ अनुसूया शोक व दुःख से अभिभूत हो रही है, अतः इस प्रकार का निर्देश है।

१५. निक्षेप- निक्षेप का अर्थ है धरोहर। शकुन्तला जब पतिगृह को जाती है तब अपनी दोनों सखियों के हाथ में नवमल्लिका को धरोहर के रूप में रख देती है। धरोहर से तात्पर्य है किसी वस्तु को अपने पास सहेज कर रखना।

१६. कञ्चुकी—कञ्चुकी उसको कहते हैं जो अन्तःपुर में जाने वाला वृद्ध, गुणी ब्राह्मण होता है तथा जो प्रत्येक ढंग से कार्य में कुशल होता है। जो सदा सात्विक प्रवृत्ति वाला, पवित्र आचरण वाला और ज्ञान-विज्ञान में प्रवीण होता है, उसे कञ्चुकी कहते हैं। यह एक लम्बा कञ्चुक (पैर तक लटकने वाला वस्त्र) धारण किये रहता है। इसकी परिभाषा साहित्यदर्पण' में इस प्रकार दी गई है:—

अन्तःपुरचरो राज्ञो विप्रो गुणगुणान्वितः।
उचितप्रत्युचितकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥

१७. वैतालिक—विताल + ठक् (इक्) आदि वृद्धिः, वैतालिक। वैतालिक को चारण या भाट भी कहते हैं। इसका प्रमुख कार्य है, राजा की गायन के द्वारा प्रशंसा करना तथा उसके उदास होने पर प्रसन्न करना। प्राचीन काल में राजाओं के यहां चारण लोग रहा करते थे जो उत्सव या युद्धकाल में राजा की गायन-कला के द्वारा स्तुति करते थे।

१८. शक्रावतार—इस स्थल का इस नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यही वह स्थान है जहां शकुन्तला की अगूठी खो जाती है तथा अंगूठी के खो जाने के कारण ही दुर्वासा के शापवश उसे दुष्यन्त नहीं पहचान पाता है। यह एक तीर्थस्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इस स्थान पर शक्र (इन्द्र) का अवतरण होता था तथा यहां इन्द्र की पत्नी शची स्नान करती है। अतः यह स्नान योग्य पवित्र जल वाला तीर्थ-स्थल कहा जाता है।

१९. परभृतिका—का अर्थ है कोयल तथा मधुरिका का अर्थ है भौंरी। कोयल का गान तथा भौंरी का मधुपान इन दोनों ही वस्तुओं का सम्बन्ध बसन्त ऋतु से ही है। इस नाटक में परभृतिका व मधुरिका रानी की परिचारिकाओं के नाम है। वसन्तागमन हो गया है, चारों ओर हरियाली छायी है, ऐसे समय में रानी की दो सेविकायें प्रवेश करती हैं, अतः कालिदास ने उन दोनों का नाम वातावरण के अनुकूल ही रख दिया है।

२०. लम्बकूर्च—लम्बी दाढ़ी वाला। लम्बी दाढ़ी तपस्वी ही रखते हैं। तपस्वी तपस्या के समय में दाढ़ी को बढ़ा लेते हैं। शाकुन्तल में लम्बकूर्च का प्रयोग तपस्वी के लिए किया गया है।

२१. पूर्वरङ्ग—नाटक की कथावस्तु के शुरु होने से पहले अभिनेता जब रङ्गमञ्च के विघ्नों को दूर करने के लिए जो स्तुति आदि करते हैं उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं।

> यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
> कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।

(साहित्यदर्पण ६।२२)

२२. भरतवाक्यम्—भरतानां नटानां वाक्यं भरतवाक्यम्। 'भरतवाक्य' नाटक के अन्त में सब पात्रों द्वारा गाये जाने वाले श्लोक को कहते है। भरतवाक्य को निर्वहण सन्धि का वह अंग माना जाता है जिसे प्रशस्ति कहते हैं।

"प्रशस्ति शुभ शंसना।"

नाटक के अन्त में जगत कल्याण के लिये प्रार्थना की जाती है तब नाटक का नायक अथवा अन्य कोई पात्र भरतवाक्य का संगीतमय पाठ करता है। 'भरतवाक्य'

के माध्यम से कवि की शुभकामनायें दर्शकों तक पहुंचती हैं। 'भरतवाक्य' को पाने की प्रथा आधुनिक भारतीय नाटकों में भी पाई जाती है।

कुलशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते।"

२३. नेपथ्य—अभिनेता लोग जहां नाटक के लिए वेषादि करते हैं, उस स्थान को नेपथ्य कहते हैं।

(साहित्यदर्पण)

२४. विदूषक—कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः॥

जो पात्र अपने कर्म, शरीर वेष एवं भाषा आदि के द्वारा हास्य उत्पन्न करता है उसे विदूषक कहते हैं। इसे कलह से प्रेम होता है और यह अपने कार्य (हास्यकार्य) के विषय में अच्छी तरह जानता है। उसके नाम कुसुम, वसन्त आदि होते हैं।

परिशिष्ट [ख]

शकुन्तलानाटकान्तर्गत सुभाषित वाक्य

१. अकृतार्थे अपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।
२. अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्।
३. अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम।
४. अतिस्नेहः पापशङ्की।
५. अत्यारूढ़िर्भवति महतामप्यभ्रंशनिष्ठा।
६. अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि।
७. अनार्यः परदारव्यवहारः।
८. अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम।
९. अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।
१० अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।
११ अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्।
१२ अरण्ये मया रुदितम्।
१३. अर्थो हि कन्या परकीय एव।
१४. अवश्यं भाव्यचिन्तनीयः समागमो भवति।
१५. अवसरोपसर्पणीया राजानः।
१६. अस्त्येतद् अन्यसमाधिभिरुत्वं देवानाम्।

१७. अहो कामी स्वतां पश्यति ।

१८. अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः ।

१९. अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः ।

२०. अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् ।

२१. आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ।

२२. आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम् ।

२३. आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ।

२४. आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नं ।

२५. इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

२६. इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।

२७. उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना ।

२८. उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः ।

२९. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।

३०. एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्बते ।

३१. एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।

३२. ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः ।

३३. क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ।

३४. क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ।

३५. कदापि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति ।

३६. कष्ट खल्वनपत्यता ।

३७. किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ।

३८ किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।

३९. किमीश्वराणां परोक्षम् ।

४०. को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ।

४१. कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति ।

४२. गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः ।

४३. गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ।

४४. ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ।

४५. छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ।

४६. तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।

४७. तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।

४८. तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।

४९. भिन्नंकुरिवान्तरा तिष्ठ ।

५०. दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।
५१. न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।
५२. ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः ।
५३. न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।
५४. पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ।
५५. बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।
५६. बहुवल्लभा राजानः ।
५७. भवितव्यता खलु बलवती ।
५८. भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।
५९. भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ।
६०. मनोरथा नाम तटप्रपाताः ।
६१. मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति ।
६२. मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ।
६३. रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः ।
६४. राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।
६५. राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ।
६६. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं,
६७. श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।
६८. वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।
६९. वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ।
७०. विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतिकारस्य ।
७१. विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम ।
७२. विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।
७३. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ।
७४. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम् ।
७५. सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति ।
७६. सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः ।
७७. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति ।
७८. सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ।
७९. स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति ।
८०. स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया ।
८१. स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः ।

परिशिष्ट [ग]

प्रमुख सुभाषित वाक्यों की व्याख्या

१–अतिस्नेह पापशङ्की—

प्रस्तुत पंक्ति कविकुल-शिरोमणि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक से उद्धृत है। संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य नाटककार कालिदास एक सफल नाटककार के सभी गुणों से समन्वित हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् तो उनकी नाटकीय प्रतिभा का सर्वोत्तम परिचायक है। सूक्ष्मदर्शी रसिक विद्वानों ने इस रमणीय समस्त नाटक में चतुर्थ अंक को तो परम रमणीय माना है। चतुर्थ अंक में कालिदास ने शकुन्तला के पतिगृहगमन के समय का सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है। कन्या के पतिगृह गमन के के अवसर पर कण्व ऋषि जैसे पिता भी जब वात्सल्य से उद्वेलित हो उठते हैं तब साधारण गृहस्थी जनों का तो कहना ही क्या है ? शकुन्तला की दोनों प्रिय सखियां अनुसूया तथा प्रियंवदा भी सखि से वियुक्त बिछोह होने के कारण व्याकुल हो रही हैं किन्तु दुर्वासा के शाप की भी उनको आशंका हो रही है कि कहीं भविष्य में वह शाप शकुन्तला के सुखी जीवन में बाधक न बन जाये। यही कारण है कि शकुन्तला की मगलकामना करती हुई वे दोनों सखियां शकुन्तला से कहती हैं कि यदि राजा दुष्यन्त तुमको पहचानने में कुछ शिथिलता दिखाये तब उसके नाम से अंकित अगूठी जो तुम्हारे पास है तुम उसे दिखा देना जिससे वह शीघ्र ही तुमको पहचान लेगा। शकुन्तला सखियों के इस कथन को सुनकर घबरा जाती है क्योंकि दुष्यन्त का उसके प्रति उत्कट प्रेमाकर्षण होने के कारण उसको इस बात में किञ्चित् भी संदेह नहीं था किन्तु दुर्वासा मुनि का शाप तो उसे अज्ञात ही था। प्रियवंदा तथा अनुसूया ने दुर्वासा के शाप से शकुन्तला को अवगत नहीं कराया था।

प्रस्तुत पंक्ति में दोनों सखियां शकुन्तला से कहती हैं कि सखि डरो नहीं क्योंकि अत्यन्त स्नेही मनुष्य ही अमङ्गल की आशका कर सकता है। प्रेम के कारण ही मनुष्य अमङ्गल की आशका करता है। वास्तव में प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है कि जो व्यक्ति जिससे जितना अधिक प्रेम करता है अमङ्गल की आशङ्का भी उसकी ओर से वह अधिक करता है। यही कारण है जि शकुन्तला अत्यंत स्नेह करने वाली उसकी दोनों सखियों को उसके अमङ्गल की आशङ्का भी सर्वाधिक हो रही है।

२–अत: परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ ५।४

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पञ्चम अङ्क से उद्धृत है। पंचम अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है जबकि शकुन्तला को लेकर कण्व ऋषि के दोनों शिष्य शाङ्गरव और शारद्वत गोतमी

के साथ दुष्यन्त के राजप्रासाद में पहुंचते हैं। दुर्वासा मुनि के शाप से अभिभूत होने के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को नहीं पहचान पाते हैं तथा शकुन्तला भी मार्ग में अंगूठी के गिर जाने से राजा को यह विश्वास दिलाने में असमर्थ रहती है कि उन दोनों का गान्धर्व विवाह हुआ था। शकुन्तला वन मे एकांत में सम्पन्न हुई अनेक बातों के द्वारा दुष्यन्त को अपना स्मरण कराना चाहती है किन्तु दुष्यन्त सभी बातों को स्त्री-सुलभ पटुता समझकर शकुन्तला को नहीं पहचान पाता है तब शकुन्तला अत्यन्त क्रोध तथा दुःख के कारण रोने लगती है। उस समय कण्व-शिष्य शार्ङ्गरव का यह कथन कितना सत्य है।

गुप्त विवाह सम्बन्ध आदि विशेष रूप से परीक्षा करके ही करने चाहियें। परस्पर अज्ञात हृदय वाले व्यक्तियों के साथ किया गया प्रे। इस प्रकार वैर रूप में परिणत हो जाता है। कालिदास ने जिस प्रेम में कोई बन्धन नहीं' कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयम दुर्ग के भग्न प्राचीर के ऊपर अपनी जयपताका को गाड़ने वाली प्रेम की शक्ति को स्वीकार किया है किन्तु उसके साथ आत्म समर्पण नहीं कर दिया। उन्होने दिखाया है कि जो असंगत प्रेम-संभोग हम लोगों को अपने अधिकार में कर लेता है, वह स्वामिशाप से खण्डित ऋषि-शाप से प्रतिहत और देव-रोष से भस्म हो जाता है। शकुन्तला को आतिथ्य धर्म का विचार नहीं रहा, वह दुष्यन्त के ही ध्यान में मग्न रही। उस समय शकुन्तला के प्रेम का मगल भाव मिट गया। यही कारण था कि दुष्यन्त और शकुन्तला का बन्धन-हीन गोपन-मिलन चिरकाल तक शाप के अन्धकार में लीन रहा इसलिये दुर्वासा के शाप और शकुन्तला के प्रत्याख्यान द्वारा कवि ने यह सिद्ध कर दिया है कि जो उन्मत्त प्रेम अपने प्रेमपात्र को छोड़कर और किसी की कुछ भी परवाह नहीं करता है वह चिरस्थायी नहीं रह पाता है। प्रस्तुत श्लोक में भी कालिदास ने यही सिद्ध किया है कि स्त्री पुरुषों का यह प्रणयसूत्र का बन्धन बहुत सोच समझकर करना चाहिए अन्यथा परस्पर अज्ञात प्रेमी-प्रेमिकाओं का यह पवित्र दाम्पत्य-सूत्र का बन्धन शत्रुता में परिणत हो जाता है। कवि का तात्पर्य है कि यदि कण्व ऋषि की उपस्थिति में शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह विशेष रूप से विचारकर सम्पन्न किया जाता तो दुष्यन्त द्वारा जनसमाज में शकुन्तला के प्रत्याख्यान जैसी स्थिति नहीं हो सकती थी।

३—अर्थो हि कन्या परकीय एव

प्रस्तुत पद्यांश कविकुल चूडामणि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक से उद्धृत है। कालिदास के अन्य नाटकों में मूर्धन्य स्थान को ग्रहण करने वाला नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' है और उसमें भी चतुर्थ अंक की महिमा तो सर्वविदित ही है। शकुन्तला का दुष्यंत के साथ गान्धर्व रीति से विवाह सम्पन्न होने का तथा शकुन्तला का गर्भवती होने का समाचार तो आकाश-वाणी द्वारा कण्व को प्राप्त हो ही जाता है। इसीलिए चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के

पति-गृह-गमन तथा उस अवसर पर की जाने वाली मांगलिक विधियों का वर्णन किया गया। सम्पूर्ण चतुर्थ अङ्क स्नेह, सद्भावना एवं आत्मीयता की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति है। शकुन्तला पति-गृह को भेजी जा रही है, क्योंकि अब वह दूसरे की हो गयी है। उस पर चारों ओर से मंगल-सूचक आशीर्वादों की वृष्टि हो रही है। महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के स्मरण से अत्यन्त विह्वल हो रहे हैं। उनका यह कथन कितना मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण है कि जब मुझ बनवासी को पुत्री-स्नेह के कारण इतनी विकलता हो रही है तब साधारण गृहस्थ-जनों की क्या दशा होती होगी। शकुन्तला के भावी वियोग से कण्व ही नहीं सम्पूर्ण चराचर मण्डल दुःखित है। बिलखती शकुन्तला को कण्व गृहिणी का कर्त्तव्य भी बताते हैं, वह कामना व्यक्त कर उसे धैर्य बंधाते हैं कि वह पति द्वारा समादृत राजमहिषी बनकर पवित्र पुत्र उत्पन्न करेगी और उनसे बिछुड़ने का दुःख भी भूल जायेगी। शकुन्तला के प्रस्थान पर विचारमग्न कण्व कहते हैं— 'हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्, कुतः—

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा। ४ २२॥

अर्थात्—'ओह, शकुन्तला को आज पतिगृह भेज कर मेरा मन स्वस्थ हो गया, क्योंकि कन्या सचमुच पराया धन ही होता है। आज उसे भेज कर मेरा मन वैसे ही निश्चिन्त हो गया, जैसे किसी की धरोहर लौटाकर होता है।'

कण्व की इस उक्ति में भारतीय धर्म की मर्यादा साकार हो उठी है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार कन्या को केवल बाल्यावस्था में ही माता-पिता के घर रहना चाहिये किन्तु युवावस्था को प्राप्त होते ही उसका विवाह-संस्कार सम्पन्न करना माता-पिता का परम कर्तव्य हो जाता है। सुयोग्य वर को अपनी कन्या सौंपकर माता-पिता उसी प्रकार निश्चित होते हैं जैसे कि कोई व्यक्ति किसी की धरोहर सुरक्षित रखता है और समय आने पर धरोहर लौटाकर निश्चिन्त हो जाता है। दुष्यन्त जैसे सर्वोत्कृष्ट वर को अपनी कन्या सौंपकर सचमुच ही कण्व मानसिक शान्ति का अनुभव कर रहे हैं।

अहो कामी स्वतां पश्यति।

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के द्वितीय अङ्क से उद्धृत है। द्वितीय अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है जब कि तपोवन में आये हुये दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर आकृष्ट हो जाते हैं। शकुन्तला की दशा भी राजा जैसी ही है किन्तु कवि ने उसे वाचाल नहीं होने दिया है तथापि उसकी आंतरिक प्रतिक्रियाओं की सूचना उसकी चेष्टाओं से हो जाती है। द्वितीय अङ्क में कालिदास ने काम का प्रतिपादन किया है। राजा दुष्यन्त मन ही मन

सोचते हैं कि यद्यपि प्रिया शकुन्तला सुलभ नहीं है किन्तु उनका प्रेमयुक्त मन उसके भावों को देखकर संतुष्ट है। दुष्यत का विश्वास है कि कामभाव के सफल न होने पर भी दानों ओर की इच्छा प्रेम को उत्पन्न करती ही है। शकुन्तला के प्रेम में उन्मत्त दुष्यंत कह उठता है—

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥२२

अर्थात् 'उसने जो नयनों को दूसरी ओर चलाते हुये स्नेहपूर्वक देखा, उसने जो नितम्बभार के कारण सविलास मन्द गमन किया और न जाओ यह कहकर रोकी जाने पर उस सखी से ईर्ष्यापूर्वक चिढ़कर (उसने) कहा, वह सब यथार्थतः मुझे लक्षित कर रहा है आश्चर्य है, कामी (पर विषयक) व्यापारों को आत्म-विषयक मानता है।' दुष्यन्त क्योंकि कामुक व्यक्ति है इसलिए वह दूसरे के भावों को अपने जैसा ही समझने लगता। शकुन्तला ने लता, वृक्ष आदि पर स्पष्ट रूप से दृष्टि डालते हुए मानों अभिलाषा के साथ दुष्यन्त को ही देखा था तथा विलास-पूर्वक उसे देखने के लिये ही नितम्बों की स्थूलता के कारण धीरे-धीरे चली थी तथा जाते-जाते उसका सखियों पर झिड़कना आदि भी मानों दुष्यन्त को आकर्षित करने के लिये ही था। आश्चर्य है कि कामी व्यक्ति सर्वत्र अपनत्व ही देखता है और दूसरे के भावों को भी अपने जैसा समझने लगता है।

'अहो सर्वास्वस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'

प्रस्तुत गद्यांश महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के षष्ठम् अंक से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है जबकि दुष्यन्त की नामांकित अंगूठी को लेकर धींवर राजा के पास आता है और राजा दुष्यन्त को उस अगूठी को देखते ही शकुन्तला का स्मरण हो आता है। शकुन्तला विषयक समस्त प्राचीन स्मृतियों के जाग्रत होते ही राजा विरहाकुल हो उठते है तथा बसन्त ऋतु के विद्यमान होने पर भी वह बसन्त के सभी उत्सवों का निषेध कर देता है। शकुन्तला का प्रत्याख्यान विषयक पश्चाताप करते हुए राजा दुष्यन्त जब विदूषक के साथ प्रमदवन में प्रविष्ट होते हैं तब अलंकृत न होने पर भी राजा विशिष्ट सौंदर्य से समन्वित प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि राजा को देखकर कञ्चुकी कहता है—

अहो, सुंदर आकृति वालों में सभी अवस्थाओं में सुंदरता विद्यमान रहती है, क्योंकि इस प्रकार प्रियावियोग में भी राजा दर्शनीय ही प्रतीत हो रहे हैं। कालिदास ने अपनी रचनाओं में सौंदर्य की चर्चा करते हुए कभी भी सौंदर्य कृत्रिमता से परिवेष्टित कर बोझिल नहीं बनाया है अपितु उसके अनुसार सब प्रकार

है स्वाभाविक सरल सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। यही कारण है कृत्रिमता से रहित सुन्दर व्यक्ति सदैव शोभनीय ही प्रतीत होते हैं। राजा दुष्यन्त ने यद्यपि विशेष रूप से अलङ्कारों का परित्याग कर दिया है, बाईं कलाई में पड़े हुये एक ही सुवर्ण कंकण को पहने हुये हैं, ओष्ठ सांसों से अधिक लाल पड़ गये हैं, चिन्ता के कारण किन्तु फिर भी अपनी जागते रहने से आंखें बोझिल हो गयी है। तेजस्विता के कारण ही वह इतने सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं।

'आशंकसे यदग्नि तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्"

प्रस्तुत गद्यांश महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। कालिदास की काव्य सरस्वती का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' है। प्रथम अङ्क में कवि ने दिखाया है कि हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त मृग का अनुसरण करते हुये कण्व मुनि के आश्रम में प्रवेश करता है। वहां वृक्षों को जल डालती हुई तीन कन्याओं को देखता है। तीनों में अनुपम सुन्दरी शकुन्तला को देखते ही दुष्यन्त का हृदय उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है। शकुन्तला की अन्य दोनों सखियों के द्वारा ही राजा को शकुन्तला का परिचय प्राप्त होता है कि वह मेनका और विश्वामित्र की पुत्री है और परित्यक्ता होने से महर्षि कण्व ने उसका लालन-पालन किया है। यह सब सुनकर राजा को यह जानने की उत्सुकता होती है कि क्या वह जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का सेवन करेगी अथवा किसी राजा से विवाह होने के पूर्व तक ही ब्रह्मचर्य धारण करेगी। तब प्रियंवदा के द्वारा यह उत्तर पाकर कि "धर्माचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः" राजा दुष्यन्त आश्वस्त हो जाता है और मन ही मन प्रसन्नता का अनुभव करते हुये कहता है—

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशाङ्कसे यदग्नि तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥१।२८

अर्थात् हे हृदय, तू (अब) अभिलाषा कर। अब सन्देह का निर्णय हो गया। तू जिसको अग्नि समझ रहा था वह तो स्पर्श के योग्य रत्न है। दुष्यन्त की यह आशङ्का थी कि शकुन्तला क्षत्रिय-कन्या है या मुनि-कन्या तथा महर्षि कण्व शायद शकुन्तला का आजन्म विवाह ही न करें और करेंगे भी तो हो सकता है कि किसी तपस्वी से ही करें राजा से नहीं। किन्तु प्रियंवदाके उत्तर से कि अनुरूप वर के साथ ही शकुन्तला का विवाह होगा, दुष्यन्त निश्चिन्तता की सांस लेता है कि उसके साथ शकुन्तला का परिणय सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि अनुरूप वर की दृष्टि से दुष्यन्त से बढ़कर और कौन वर हो सकता है। शकुन्तला भी यदि ब्राह्मण-कन्या होती तो राजा के विवाह के योग्य न होकर अग्नि के तुल्य अस्पृश्य होती। किन्तु अब क्षत्रिय-कन्या होने से रत्नवत् उसके स्पर्श के योग्य है। अग्नि और रत्न शब्दों के द्वारा शकुन्तला की स्वाभाविक तेजस्विता की ओर निर्देश है। यहां पर काव्यलिंग अलंकार है। साभिलाष होने का कारण सन्देह निर्णय होना है।

"इदं तत् प्रत्युत्पन्नमतिस्त्रैणमिति यदुच्यते"

प्रस्तुत गद्यांश कविकुल-शिरोमणि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के पंचम अङ्क से उद्धृत है। चतुर्थ अङ्क से पंचम अङ्क में प्रविष्ट होने पर ऐसा लगता है कि मानो हम किसी नई दुनिया में पहुंच गए हों। आश्रम के आदर्श संसार से हम कठोर हृदयों एवं प्रेम-व्यापार की जटिल प्रणालियों वाले राजकीय दरबार में प्रवेश करते हैं जहां आश्रम का मनोरम स्वप्न भङ्ग हो जाता है। शकुन्तला को पहुंचाने वाले दोनों ऋषि अनुभव करते हैं कि मानो वे किसी अग्नि की लपटों वाले भवन में आ गये हों। ऐसे संकेतों से कवि हमें प्रस्तुत अङ्क के अन्त में घटित होने वाले शकुन्तला परित्याग के लिये तैयार करता है। प्रस्तुत अङ्क में दुष्यन्त का प्रभाव चित्रित है। दुर्वासा का शाप अपना प्रभाव दिखलाता है और दुष्यन्त गर्भिणी पराई नारी को ग्रहण करने का अपयश नहीं लेना चाहता है। जब शकुन्तला दुष्यन्त द्वारा दी गई अंगूठी उसे दिखाकर राजा को स्मरण कराना चाहती है तब वह यह देखकर स्तब्ध रह जाती है कि मार्ग में कहीं उसकी अंगूठी गिर गई और उंगली खाली है। दुष्यन्त अंगुलीयक के वृतान्त पर विश्वास न करके सम्पूर्ण स्त्री जाति की ही अवहेलना करते हुए कहता है—

यह वही बात है जिसके लिये कहावत है कि स्त्रियां प्रत्युत्पन्नमति होती है। दुष्यन्त को दुर्वासा के शाप के प्रभाव के कारण यह विश्वास नहीं है कि शकुन्तला सत्य बोल रही है। इसलिये वह कहता है कि स्त्रियां तो बात बनाने में बड़ी पटु होती हैं। वे जैसा समय देखती हैं उसी के अनुसार बात बना लेती है। प्रत्युत्पन्नमति का सुधार करने के अनुसार लक्षण है।

"तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता:"

शकुन्तला भी स्त्री जाति की ही है इसलिये उसने भी राजा को विश्वास दिलाने के लिये यह झूठा बहाना ही बनाया है और समय एवं अवसरानुकूल अपनी प्रत्युत्पन्नमति का ही परिचय दिया है।

"उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना"

प्रस्तुत गद्यांश अम्लान प्रतिभाशाली कवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के सप्तम अङ्क से उद्धृत है। प्रस्तुत अन्तिम अङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला का पुनर्मिलन ही कालिदास को अभिप्रेत है। दानवों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् राजा दुष्यन्त हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि के आश्रम में जाते हैं। भगवान् मारीच के आश्रम के पवित्र एवं शान्त वातावरण से दुष्यन्त बहुत प्रभावित होते हैं। तपोवन में कल्पवृक्ष होने पर भी तपस्वीजन अवश्य करणीय अपने प्राणों की स्थिति वायु से ही सम्पादित करते हैं। स्वर्ण पराग से सुवासित जल में भी ऋषिगण धार्मिक कृतियों के सम्पादनार्थ ही स्नान करते हैं जल-विहार आदि के लिये नहीं। रत्नशिलायें भी वे कामोपभोग के लिये नहीं अपितु ईश्वर ध्यान के लिये ही

प्रयुक्त करते हैं। सुरांगनाओं के समीपस्थ होने पर भी इन्द्रियनिग्रह रखते हैं। राजा दुष्यन्त को यह देखकर आश्चर्य होता है कि यहां के मुनिजन उस आश्रम में बैठकर तपस्या कर रहे हैं जिसे पाने के लिये अन्य मुनिजन तपस्या करते हैं। वास्तव में यह बात अत्यन्त विस्मयकारी ही है कि जिस उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये अन्य मुनिजन तपस्या करते हैं ये मुनिजन उन्हीं सब वस्तुओं के बीच रहकर भी तप करते हैं। इसीलिये इन्द्र का साथी मातलि कहता है—

महात्माओं की तपश्चर्या तो क्रमश:उर्ध्वगामिनी हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि उन्नति के समुत्सुक महापुरुष यत्किंचित् लाभ से ही संतुष्ट न होकर उत्तरोत्तर उन्नति ही करना चाहते हैं। जिससे सब ओर से अपनी वृत्तियों को समेटकर परम पद अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर सकें। वास्तव में मुनिजन जो थोड़ा सा भी ब्रह्मरस का आस्वादन कर लेते हैं, तब तक उसको नहीं छोड़ पाते हैं जब तक कि पूर्ण ब्रह्म की स्थिति उनको प्राप्त न हो जाय। उस अलौकिक परम पद को प्राप्त करने में यद्यपि अनेक प्रकार की ऋद्धियां-सिद्धियां साधक को अपनी ओर आकृष्ट करके उस की साधना को रोकना चाहती हैं, किन्तु सच्चा साधक तो इनसे आकृष्ट न होकर ब्रह्मपद को प्राप्त करके ही परम शांति का अनुभव करता है। यही कारण है कि मारीच मुनि के आश्रम के ऋषि भी इस प्रकार की उपभोगक्षम वस्तुओं के नित्य सुलभ होने पर भी परम पद की प्राप्ति के लिये ही उत्सुक रहते थे।

"उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी"

प्रस्तुत पद्यांश कविकुल-शिरोमणि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नामक नाटक के पंचम अङ्क से उद्धृत है। पंचम अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है, जबकि शकुन्तला को लेकर कण्व ऋषि के दोनों शिष्य शार्ङ्गरव, तथा शारद्वत व गौतमी दुष्यंत के राजप्रासाद में जाते हैं। किंतु दुर्वासा के शाप से प्रमादवश दुष्यन्त शकुन्तला को पहचानने में असमर्थ रहता है। उपेक्षिता शकुन्तला पूर्व घटित हुई अनेक बातों के द्वारा राजा को स्मरण कराना चाहती है किंतु राजा दुष्यन्त उसकी सब बातों को स्त्री-सुलभ प्रत्युत्पन्न मति कहकर ही टाल देता है। तब शकुन्तला का रोष असह्य हो जाता, है वह राजा से कहती है कि क्या वह अपनी तरह ही सबको समझते हैं। धर्म के चोगे को पहने हुए, तिनके से ढके हुये कुयें के तुल्य उस जैसा और कौन इतना नीच हो सकता है। किंतु राजा दुष्यन्त भी अपने पुरुवंश की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने की कामना से विस्मृत शकुन्तला को स्वीकार करने में असमर्थ ही रहते हैं। इस पर शारद्वत का यह कथन तत्कालीन पारिवारिकमर्यादा का ही पूर्ण रूप से द्योतक है—

तदेषा भवत: कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥५।२६

शारद्वत कहता है कि हमने तो अपने गुरु कण्व को आज्ञा का पालन करके शकुन्तला को यहां पहुंचा ही दिया है, अब यह आपको स्त्री है आप इसका परित्याग करें अथवा अपने पास रखें क्योंकि पत्नी पर पति को सब प्रकार की प्रभुता स्वीकार की गयी है। शकुन्तला के साथ दुष्यन्त का गान्धर्व विवाह हुआ था और दुष्यन्त ने शकुन्तला का प्रेम किया था इसीलिये शारद्वत ने शकुन्तला के लिये यहां कान्ता शब्द ही प्रयुक्त किया है पत्नी नहीं। पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार होता है। कालिदास के इस कथन से उस समय की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है कि विवाह के बाद स्त्रियां स्वच्छन्द आचरण नहीं कर सकती थीं अपितु उनके पतियों का उन पर पूर्ण अधिकार होता था। अग्निपुराण में भी लिखा है—"भर्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्ता हि पतिरुच्यते"। शकुन्तला का पति भी दुष्यन्त है इसलिये दुष्यन्त का भी पूर्ण अधिकार है कि वह शकुन्तला का परित्याग कर अथवा रखे।

'इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति"

प्रस्तुत गद्यांश महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के तृतीय अङ्क से उद्धृत है। प्रस्तुत अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है जबकि महर्षि के तपोवन में दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर एक दूसरे को देखकर काम से पीड़ित हो रहे हैं। दुष्यन्त और शकुन्तला काम से पीड़ित होने पर भी एक दूसरे के भावों को नहीं जानते हैं। यही कारण है, काम-पीड़ा के असह्य होने पर भी शकुन्तला दुष्यन्त की ओर से तिरस्कार के भय से त्रस्त है। इस पर दोनों सखियां शकुन्तला को सान्त्वना दिलाती हुई कहती हैं—

अरी, अपने गुणों का तिरस्कार करने वाली भला कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो शरीर को शांति प्रदान करने वाली शरत् काल की चांदनी को अपने वस्त्र के छोर से रोकता है अर्थात् शरद् ऋतु की ज्योत्स्ना के सदृश ही हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली तेरा वह दुष्यन्त किस प्रकार तिरस्कार कर सकता है तथा इस प्रकार के तिरस्कार को विचार करके भी क्यों अपने गुणों की अवहेलना कर रही है क्योंकि जिस प्रकार से शरत्-काल की चांदनी से सब लोग शांति का अनुभव करते हैं उसी प्रकार शकुन्तला का भी दुष्यन्त तिरस्कार नहीं करेगा अपितु उससे विवाह करने को ही उत्सुक रहेगा।

१०. 'कदापि सत्पुरुषा शोकवक्तव्या न भवन्ति'

प्रस्तुत गद्यांश कविकुलगुरु कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के षष्ठ अंक से उद्धृत है। प्रस्तुत अंक में कवि ने उस समय का वर्णन किया है जबकि धीवर द्वारा लायी हुयी अपनी नामांकित अंगूठी को देखकर दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण होता है और शकुन्तला विषयक स्मृति के जाग्रत होते ही दुष्यन्त, शकुन्तला-विषयक वियोग से व्याकुल होने लगता है। दुष्यन्त अपने अभिन्न हृदय मित्र विदूषक से ही अपनी मानसिक स्थिति की चर्चा करता है तथा शकुन्तला

विषयक विछोह उसको असह्य रूप से होने लगता है तब विदूषक राजा को सान्त्वना देते हुये कहता है—

सज्जन व्यक्ति कभी भी शोक के पात्र नहीं होते हैं। इसलिये आपको भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रचण्ड वायु के चलने पर भी पर्वत कभी भी विचलित नहीं होते हैं। इसी प्रकार आपको भी, जो एक राजा में होने योग्य समस्त गुणों से सम्पन्न हैं, इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये। वास्तव में जिसकी इन्द्रियां अपने वश में नहीं होती हैं वही व्यक्ति सुख दुःख का भागी होता है। किन्तु जो इन्द्रिय-निग्रह कर लेता है वह सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समवस्था वाला ही होता है। कालिदास के अनुसार इन्द्रिय-निग्रह सत्पुरुष का लक्षण था और राजा के लिये यह गुण आवश्यक था इसीलिये विदूषक राजा से कहता है कि आप जैसे सत्पुरुष को इस प्रकार शोक का पात्र नहीं बनना चाहिए।

१९—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'

प्रस्तुत पद्यांश महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। प्रस्तुत अङ्क में तपोवन की रक्षा के निमित्त आये हुए राजा दुष्यन्त दृष्टिगोचर होते हैं जो शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर उस पर मन्त्रमुग्ध से रह जाते हैं। कालिदास ने प्रकृति की रमणीयताओं का जितना सरस एवं ललित वर्णन किया है उससे भी अधिक हृदय तथा आवर्जक चित्रण उन्होंने मानवसौंदर्य का किया है। वस्तुतः कालिदास रूप की माया से सर्वात्मना अभिभावित हैं और नारी सौंदर्य का संस्पर्श मानो उनकी हृदयतन्त्री के सम्पूर्ण तारों को एक साथ झंकृत कर देता है। किन्तु कालिदास सहज निरलंकृत सौन्दर्य के उपासक हैं। शकुन्तला तथा उसकी सखियों के मधुर दर्शन से चमत्कृत होकर दुष्यन्त अत्यन्त विस्मय से स्वीकार करता है कि इन सहज सुन्दरियों की तुलना में राजमहलों में पलने वाली रम्यांगनायें हतप्रभ बन जाती हैं। अनवद्य सौंदर्य सभी अवस्थाओं में शोभा का पोषण करता है। समस्त अवस्थाओं में चेष्टाओं की रमणीयता 'माधुर्य' कही गई है। जिस रूप में यह गुण वर्तमान रहता है वह 'मधुर' कहलाता है। यही कारण है कि दुष्यन्त शकुन्तला के रूप का वर्णन करते हुए कहता है—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥" १/१७

अर्थात् सेवार से आच्छादित कमल सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का मलिन कलङ्क भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है, उसी तरह कृशाङ्गी शकुन्तला वल्कल से भी और अधिक सुन्दर मालूम होती है क्योंकि मधुर अर्थात् अपने को अच्छी लगने वाली आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु अलंकार नहीं हो जाती है अर्थात् मधुराकृति के लिये सभी वस्तुएं अलंकार सदृश हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि सुन्दर शरीर पर सभी

शोभा देने लगता है। यही कारण है कि मधुर आकृति वाली शकुन्तला आभूषणों से अलंकृत न होने पर भी वल्कल धारण किये हुये भी अत्यन्त सुशोभित हो रही है। कालिदास ने आभरणों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी उन्हें रूप के निखार के लिये आवश्यक नहीं माना।

१३– गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति'

प्रस्तुत पद्यांश महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल' का भी चतुर्थ अङ्क तो अपनी महिमा के लिए सर्वविदित ही है। चतुर्थ अङ्क में कालिदास ने शकुन्तला के पतिगृहगमन प्रदर्शित किया है। कण्व अत्यन्त तन्मयता, हार्दिकता एवं विह्वलता के सहित अपनी कन्या को पतिगृह भेजने का उपक्रम कर रहे हैं। कन्या शकुन्तला भी सचमुच निसर्ग कन्या है, जिसका हृदय मनुष्यों से ही नहीं आश्रमस्थ लता, पादपों और पशु पक्षियों से भी प्रेमसूत्र में निबद्ध है। वन की लताओं, पादपों, कुसुमों, पशुओं – सभी से उसकी आत्मीयता है। वह उनकी भाषा समझती है और व उसकी भाषा समझते हैं। उसकी विदाई की घड़ी निकट आ जाने से हरिणियों ने चबाई हुई कुशा के बार उगल दिये, मोरों ने नाचना बंद कर दिया तथा लताओं ने पीले पत्ते के रूप में आंसू गिराना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु आर्य-पुत्र दुष्यन्त के दर्शन की कामना से भी शकुन्तला उतावली हो रही है। यही कारण है कि शकुन्तला जा रही है तब देखती है कि एक चकवी कमल के पत्ते की ओट में बैठे हुये अपने सहचर (चकवा) को न देख सकने से चिल्ला रही है तथा चिल्लाती हुई चकवी मानो कह रही है कि वह एक दुष्कर कार्य कर रही है। यहां शकुन्तला इस कथन से अपनी व्यग्रता की ओर संकेत कर रही है। तभी शकुन्तला की सखि प्रियंवदा कहती है कि सखि तुम न सोचो क्योंकि —

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति॥ ४।१६

अर्थात् यह (चकवी) भी अपने प्रिय के बिना दुःख के कारण अधिक लम्बी रात्रि को व्यतीत करती है। आशा का बन्धन विरह के कठोर दुःख को भी सहन करा देता है। तात्पर्य यह है कि यह चकवी भी अपने प्रिय के बिना प्रिय विरहजन्य दुःख से दीर्घ ही नहीं अपितु दीर्घतर रात्रियों को व्यतीत करती है। इस प्रकार वक्रोक्ति चातुर्य से अनुसूया शकुन्तला को धैर्य बंधाकर अर्थान्तरन्यास द्वारा अपनी बात को पुष्ट करती हुई कहती है कि प्रिय समागम की आशा का बन्धन असह्य भी विरह के दुःख को सहन कराता है। तात्पर्य यह है कि प्रिय मिलन की आशा से विरही जन अत्यन्त असहनीय भी विरह के दुःख को सहन कर लेता है। जिस प्रकार चकवी प्रातः प्रिय मिलन की आशा से प्रत्येक रात को प्रिय के बिना ही बिताकर प्रातःकाल प्रिय से मिलकर आनन्दानुभव करती है। उसी प्रकार तुम भी प्रिय समागम की आशा को हृदय में धारण करो और इस प्रकार कुछ समय बाद ही

प्रिय से मिलकर सुख का अनुभव करोगी। इसी भाव को लेकर कालिदास ने मेघदूत में भी लिखा है—"आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि" विक्रमोर्वशीयम् के तृतीय अंक में भी लिखा है—शक्यं खल्वाशाबन्धनेनात्मानं धारयितुम् ।"

१४. 'छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे ।
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ।" ७·३२

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के सप्तम अंक से उद्धृत है। इस अन्तिम अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला का पुनर्मिलन होता है। अब दोनों ही तपस्या की आंच में तपकर पवित्र स्वर्ण बन गये हैं। पाश्चाताप से दुष्यन्त भी इतना विवर्ण हो गया है कि शकुन्तला उसे पहचान नहीं सकी है फिर भी उसका यह परम सौभाग्य है कि स्मृति पर पड़ा हुआ मोह का पर्दा हट गया है और वह सुन्दरी उसको वैसे ही मिल गयी है जैसे चन्द्रग्रहण बीत जाने पर रोहिणी चन्द्रमा से मिलती है। पिछली बातों के विस्मरण की भावना जितनी दुष्यन्त में प्रबल है उतनी ही क्षमाशील एवं उदारता की भावना शकुन्तला में भी बलवती है। महर्षि मारीच के मुख से भी दुर्वासा के शाप की चर्चा कितनी संतोषजनक है—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरुक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे,
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ७।३२

अर्थात् शाप के कारण तुम्हारे पति की स्मरण शक्ति रुक गई थी, अतएव वे रूखे हो गये थे और उनके द्वारा तुम्हारा तिरस्कार हुआ था। अब उनका अज्ञान दूर हो गया है। उन पर तुम्हारी प्रभुता रहेगी। मैल के कारण जिसकी स्वच्छता नष्ट हो गई, ऐसे शीशे पर प्रतिबिम्ब साफ नहीं दिखायी देता, किन्तु वह स्वच्छ हो तो प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देगा। तात्पर्य यह है कि दुष्यन्त ने जो शकुन्तला का तिरस्कार किया उसमें दुष्यन्त दोषी नहीं थे क्योंकि दुर्वासा के शाप के कारण उसकी स्मृति पर आवरण पड़ गया था और वह शकुन्तला को नहीं पहचान सका था जिस प्रकार स्वच्छ शीशे पर धूल जम जाने से आकृति साफ नहीं दिखायी देती है तथा दर्पण की धूल हटा देने पर आकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार शुद्धाचरण वाले दुष्यन्त के ऊपर भी दुर्वासा के शाप का आवरण पड़ गया था जिससे स्वयं उपस्थित शकुन्तला को वह न पहचान सका किन्तु अंगूठी के दर्शन से प्रत्यभिज्ञान होने से मोह का आवरण छिन्न-भिन्न हो गया और दुष्यन्त की शकुन्तला विषयक स्मृति नवीन हो उठी। अब उस शापजन्य विस्मृति के दूर हो जाने पर शकुन्तला का ही एकमात्र प्रभुत्व दुष्यन्त पर रहेगा, इसलिये मारीच ऋषि ने समझाया कि शकुन्तला को क्रोध नहीं करना चाहिए।

१५. 'तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां ।
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।।"

प्रस्तुत श्लोक संस्कृत साहित्याकाश के समुज्ज्वल नक्षत्र महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है । प्रस्तुत अङ्क के विष्कम्भक द्वारा कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना करके शकुन्तला तथा दुष्यन्तविषयक मनसिज के गाढ़े उद्रेकों को 'तपोवन-विरोधी' सिद्ध करके चिन्ता का तत्व जाग्रत कर दिया है । कालिदास उद्दाम वासना से उद्भूत प्रेम के घोर विरोधी थे । यही कारण है कि दुष्यन्त तथा शकुन्तला जैसे नायक-नायिका को विरह की अग्नि में शुद्ध होना पड़ा । चतुर्थ अङ्क में इस प्रकार विष्कम्भक के उपरान्त कालिदास कण्व के एक शिष्य के द्वारा जगत में नियत रूप से होने वाले सुख दुःख अन्धकार-प्रकाश आदि द्वन्दों से अवगत कराया है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु: ।।२।।

अर्थात् एक ओर तो चन्द्रमा अस्ताचल को जा रहा है और दूसरी ओर अरुण को आगे किये हुये सूर्य उदित हो रहा है । यह संसार दो तेजों के साथ उदय और अस्त के द्वारा मानो अपनी दशा विशेषों में नियन्त्रित हो रहा है । सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त से संसार को मानो यह शिक्षा दी जाती है कि यह संसार सुख-दुःख आदि द्वन्दों से परिपूर्ण है । परिवर्तनशील सुख-दुःख की अवस्थायें सदैव क्रम से आती-जाती रहती हैं । जिसका उदय हुआ है उसका अन्त अवश्यम्भावी है तथा जिसका अन्त हुआ है उसका उदय होना अवश्यम्भावी है । अतएव मनुष्य को अभ्युदय काल में न तो हर्षित होना चाहिये और विपत्ति में दुःखी भी नहीं होना चाहिये । जैसा कि कहा गया है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततोवा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।।

तात्पर्य यह है कि सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त के दृष्टान्त द्वारा कालिदास शकुन्तला के भावी दुःख की सूचना दे रहे हैं जिस प्रकार सहसा दुष्यन्त को प्राप्त करके इसने सुखोपभोग किया है उसी प्रकार दुष्यन्त के द्वारा प्रत्यादेश किये जाने पर दुःख का भी उपभोग करना पड़ेगा । ऋषि-कन्या होने पर भी नियति के सुख-दुःख का चक्र परिवर्तित नहीं किया जा सकता है ।

१६. 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम अङ्क से उद्धृत है । इस नाटक का प्रारम्भ कालिदास ने राजा दुष्यन्त के कण्व ऋषि के तपोवन में प्रवेश से कराया है । उस समय नगर की रक्षा के साथ ही तपोवन की सुरक्षा का भार भी राजा ही वहन करता था । आश्रमवासियों को कोई विघ्न न होने पावे, इस कामना से ही दुष्यन्त तपोवन में प्रवेश करते हैं । किन्तु तपोवन में प्रविष्ट होते ही मंगलसूचक निमित्त का अनुभव करते हुए दुष्यन्त कहता है—

शांतमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।।

अर्थात् 'यह आश्रम की भूमि शान्त है और मेरी (दाहिनी) भुजा फड़क रही है। यहां इसका क्या फल है ? अथवा भावी घटनाओं के लिये सर्वत्र ही द्वार हो जाते हैं।' यह माना जाता है कि पुरुषों का दक्षिणांग फड़कना अच्छा होता है क्योंकि दक्षिणांग के फड़कने से किसी सुन्दर सी स्त्री की प्राप्ति होती है जैसा कि अद्भुत-सागर में भी लिखा है—"वामेतरभुजस्पन्दो वरस्त्रीलाभसूचक." । इस प्रकार भुज-स्पन्दन को रस प्रधान कहा है क्योंकि ये आश्रमवासी शमगुणयुक्त होने से श्रृङ्गार रस से दूर रहते हैं किन्तु मेरी दक्षिण भुजा में स्पन्दन हो रहा है जो वर स्त्री लाभ का सूचक है, यहां इस प्राप्ति का होना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? अथवा दुष्यन्त का यह कथन सर्वथा उपयुक्त ही है कि भावी घटनायें सर्वत्र ही हो सकती हैं। इस नियति का विधान ही ऐसा है जिसके लिये किसी निश्चित काल, स्थान आदि की अपेक्षा नहीं होती है। कहा भी है —"What is fated can not be averted." इस भवितव्यता के पाश से कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाता है क्योंकि कालिदास स्वयं दूसरे स्थल पर कहते हैं—"भवितव्यता खलु बलवती" यही कारण है कि तपोवन में शान्त रस का संचार शकुन रूप में देखकर दुष्यन्त मन ही मन विचार करता है कि यह आश्रम तो शांत होने पर भी यौवनारूढ़ शकुन्तला दुष्यन्त को देख-कर अपने को न रोक सकी और दुष्यन्त से गान्धर्व रीति से उसका विवाह हो गया।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा कालिदास कालीन जनरूढ़ियों का भी हमको ज्ञान होता है कि समाज में सभी कोटि में मनुष्य भुज-स्पन्दन आदि शकुन पर पूर्ण विश्वास रखते थे तथा साथ ही उस ईश्वर के अटल विधान में उन लोगों की पूर्ण श्रद्धा होती थी।

१७. 'मनोरथा नाम तटप्रपाता:"

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक नाटक के षष्ठ अङ्क से उद्धृत है। प्रस्तुत अङ्क में कालिदास ने उस समय का वर्णन किया है जब धीवर के द्वारा दुष्यन्त को स्वनामाङ्कित अंगूठी प्राप्त हो जाती है जो उसने भेंट के रूप में शकुन्तला को दी थी। किन्तु शकुन्तला द्वारा मार्ग में अंगूठी गिर जाने से दुर्वासा के शाप के प्रभाव से प्रमाण के अभाव में दुष्यन्त शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर देता है। किन्तु अंगूठी की प्राप्ति के अनन्तर शकुन्तला विषयक स्मृति नवीन हो जाती है तथा राजा शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने के कारण पश्चात्ताप की अग्नि से पीड़ित होने लगते हैं। यही कारण है कि उनका राज-कार्य में मन भी नहीं लगता है तथा बसन्त ऋतु के होने पर भी सब प्रकार के उत्सवों का निषेध कर देते हैं। शकुन्तला के विरह से व्याकुल दुष्यन्त विदूषक से कहते हैं—

स्वप्नो नु, माया नु, मतिभ्रमो नु, क्लृप्तं नु तु तावत्फलमेव पुण्यैः।
असन्निवृत्त्यै तदतीतमेव मनोरथानामतटप्रपात: ।।६।१०

क्या उस शकुन्तला से मिलन निद्रितावस्था में अनुभूत स्वप्न मात्र था। परन्तु यदि स्वप्न होता तब तो जागृत अवस्था में उसका अनुभव नहीं होना चाहिये था पर अनुभव तो हो रहा है अतः स्वप्न भी नहीं हो सकता। अतः वह अवश्य ही ऐन्द्रजालिक माया थी क्योंकि मन्त्र-तन्त्र आदि के द्वारा असत् वस्तु का भी सत् प्रतीत होना माना है इसलिये वह शकुन्तला भी असत् होगी जो सत् प्रतीत हो रही थी। परन्तु मायावृत वस्तु का तो कोई स्वरूप नहीं होता है किन्तु शकुन्तला का स्वरूप भी था क्योंकि मैंने उसे साक्षात् देखा था तथा माया-जन्य वस्तु क्षणिक होती है और वह चित्त में स्थिर नहीं रह सकती है पर शकुन्तला चित्त में भी स्थिर है अथवा दुष्यन्त सोचता है कि यह उसकी बुद्धि का भ्रम था जिससे अन्य के स्थान पर शकुन्तला को समझ लिया हो और वास्तव में शकुन्तला न हो। किन्तु यह भी असम्भव है क्योंकि भ्रम से उत्पन्न वस्तु निर्जीव एवं व्यवहार योग्य नहीं होती है पर मैंने तो शकुन्तला से वार्तालाप आदि भी किया था। इसलिये वह मेरा अल्प पुण्य ही था जिसके कारण उससे केवल सम्भाषण आदि ही हो सका अधिक कुछ नहीं। पूर्व जन्म में मैंने अत्यल्प ही पुण्य कर्म किये थे जिसके फलस्वरूप मैं शकुन्तला से केवल वार्तालाप ही कर सका। इन सब मन की कल्पनाओं के उपरान्त दुष्यन्त यही सोचता है कि वह कुछ भी हो किन्तु वास्तव में ऐसी वस्तु थी जो फिर कभी न लौटने के लिये सदा के लिये चली गई है। अतएव विरहाग्नि से पीड़ित विदूषक से यही कहता कि तुम जो मुझे सदैव सान्त्वना देते हो शकुन्तला के माता-पिता पतिवियुक्ता कन्या का तुमसे अधिक संयोग करायेंगे तो यह केवल मनोरथ मात्र ही है तथा वर्षा काल में जलप्रवाह के प्रबल होने से जिस प्रकार सब किनारे एक के बाद एक करके टूटते चले जाते है उसी प्रकार मेरे भी ये सब मनोरथ नाश को ही प्राप्त होंगे। शकुन्तला के पुर्नमिलन की असम्भावना से दुष्यन्त इतना निराश हो गया है कि अपने मित्र विदूषक द्वारा दी गई समस्त आशायें भी उसे निराशाजनक ही प्रतीत होती हैं क्योंकि उसका विश्वास है कि वर्षाकाल में तटों के टूटने के सदृश ही मनोरथ भी सदैव क्षणिक ही होते हैं स्थायी नहीं।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय:"

प्रस्तुत श्लोक कविकुल-गुरु कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। इस अङ्क में कालिदास ने तपोवन में आये हुये राजा दुष्यन्त का शकुन्तला को देखकर आकृष्ट होना चित्रित किया है। शकुन्तला से सम्बद्ध किसी भी प्रकार के परिचय से अनवगत होने के कारण दुष्यन्त यह विचार करता है कि सम्भव है यह कण्व ऋषि की ब्राह्मणेतर पत्नी से उत्पन्न सन्तान हो जिसके कारण मेरा मन इसकी ओर आकृष्ट हो रहा है। यहां कवि कालिदास ने 'हृदयवाद' की मनोरम व्यंजना की है। ऋषि-कन्या शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य से क्योंकर उस क्षत्रिय नरेश का मन विचलित हो सकता है? ऐसी स्थिति में क्षत्रिय नरेश की मर्यादा प्रदर्शित करते हुए कालिदास ने दुष्यन्त के मुख से ही कहलाया है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषी मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥१।२२

निःसन्देह यह शकुन्तला क्षत्रिय के साथ विवाह के योग्य है क्योंकि सदाचरण से युक्त निषिद्धाचरण रहित मेरा मन इसकी ओर आकृष्ट हो रहा है। यदि यह क्षत्रिय द्वारा विवाह किये जाने के योग्य न होती तो मुझ जैसे व्यक्ति का पवित्र मन इसकी ओर आसक्त नहीं हो सकता था क्योंकि संदेहास्पद विषयों में सज्जनों के अन्तः-करण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण होती हैं। तात्पर्य यह है कि सज्जन जिस वस्तु को पवित्र या ग्रहण करने योग्य अपने द्वारा निश्चय कर लेते हैं वह अवश्य ही उनकी प्राप्तव्य होती है। यही कारण है कि दुष्यन्त का विचार है क्योंकि उसका पवित्र मन ऋषि-कन्या शकुन्तला की ओर आकृष्ट हो रहा है तो वह इस बात का प्रमाण है कि शकुन्तला दुष्यन्त की पत्नी होने के योग्य है। कालिदास के अनुसार ही आंग्ल कवि कीट्स ने भी "Holiness of heart's affections" अर्थात् हृदय के रागों की पवित्रता का कथन किया है।

१९ "स्रजमपि शिरस्यन्ध. क्षिप्तां धुनोत्यहिशंकया"

प्रस्तुत सुभाषित उक्त महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के सप्तम अंक से उद्धृत है। इस अंक में कालिदास ने शकुन्तला-दुष्यन्त का पुनर्मिलन कराया है। मारीच ऋषि के आश्रम में पश्चाताप से संतप्त दुष्यन्त शकुन्तला के चरणों में गिर कर क्षमा याचना करते हुये कहता है—

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलोकमपैतु ते,
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु प्रवृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया। ७।२४

हे सुन्दरी, तेरे हृदय से मेरे द्वारा परित्याग का दुःख दूर हो। उस समय मेरे मन में कुछ प्रबल अज्ञान उत्पन्न हो गया था जिसके कारण हृदय से तुम्हारा निरादर किया। अब इन बातों को तुम भूल जाओ क्योंकि अत्यन्त कल्याणकारी कामों में भी तमोगुणी वृत्ति वाले लोगों का ऐसा ही व्यवहार होता है अर्थात् जो घोर तमोगुणी होते हैं वे अपने लिये लाभदायक कार्यों में भी ऐसी ही भूल कर बैठते हैं कि कल्याण-कारी वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर पाते हैं जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति सिर पर डाले गये हार को भी सर्प की आशङ्का से उतार कर फेंक देता है क्योंकि नेत्र न होने के कारण वह माला और सांप में भेद नहीं कर पाता है उसी प्रकार मेरे ऊपर भी मोह का ऐसा आवरण पड़ गया था कि साक्षात् उपस्थित तुमको मैं पहिचान न सका। इस प्रकार तुम्हारा अपमान मैंने भ्रमवश ही किया था जानबूझ कर नहीं इसलिये मेरा अपराध तुम्हारे द्वारा क्षम्य है।

२०, रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान् पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।।५।९

प्रस्तुत श्लोक महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के पंचम अंक से उद्धृत है। पंचम अंक के प्रारम्भ में दुष्यन्त तथा विदूषक आसन पर बैठे हुए प्रदर्शित किये गये हैं। बैठे हुए विदूषक तथा दुष्यन्त संगीतशाला से हंसपदिका के

गीत को सुन रहे हैं। हंसपदिका नाम की कोई रानी अथवा नर्तकी है जो एक बार ही राजा द्वारा उपभुक्त होकर महारानी के भय से फिर राजा द्वारा परित्यक्त हो गई है। राजा की भाँति व्यवहार करने वाले भ्रमर के उपालंभ के ब्याज से राजा को उपालम्भ देती है कि 'हे भ्रमर, नवीन मधु के इच्छुक तुम आम्र की मंजरी का उस प्रकार रसास्वादन करके, कमल निवास मात्र से संतुष्ट (अब) उसको क्यों भूल गये हो।'

यहां पर आम्र-मंजरी के सभी लक्षण शकुन्तला पर भी घटित हो रहे हैं तथा मधुकर के सभी विशेषण राजा के ऊपर लगते हैं अतः यह न केवल हंसपदिका का ही उपालाम्भ है अपितु शकुन्तला के भावी प्रत्याख्यान का भी सूचक है। यही कारण है कि इस गीत को सुनकर दुष्यन्त मन ही मन कहने लगता है।

यह क्या कारण है कि गीत को सुनकर, प्रियजन के वियोग के न होते हुए भी मैं बहुत अधिक उत्कण्ठित हो रहा हूं जो कि प्राणिमात्र, रमणीक वस्तुओं को देखकर अथवा प्रिय शब्दों या मधुर गीतों को सुनकर प्रेमीजन के विरह के न होते हुए उत्कण्ठित होने लगता है. इससे मैं यह समझता हूँ कि निश्चय ही वह अपने चित्त के द्वारा जन्मान्तर के अनुभूत प्रणय आदि संबंधों को जो कि स्वभावतः ही उसके हृदय में वासना रूप में जमे हुये हैं, याद करता है। अतएव सुखी ही वह उत्कण्ठित होने लगता है। तात्पर्य यह है कि सुन्दर वस्तुओं को देखकर या मीठे शब्द सुनकर सुखी व्यक्ति भी उदास होने लगता है अतएव अवश्य ही पूर्व जन्मकृत प्रणय के बीज उसके अन्तर-में विद्यमान रहते हैं जिनके कारण श्रुति सुखकारी शब्दों को सुनकर भी वह दुःखित होने लगता है। दुष्यन्त को भी जो गीत सुनकर दुःख का अनुभव हो रहा है वह उसका पूर्व जन्मकृत प्रणय ही है। वास्तव में पूर्व जन्मानुभूत था जो कि दुर्वासा के शाप से विस्मृति के गर्त में पड़ गया था। कालिदास ने यहाँ रस के स्थायी भाव रति का भी उपयुक्त निदर्शन दिया है।

—:०:—

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(हिन्दी अनुवाद, छात्रहितैषिणी टिप्पणी, अन्वय
एवं
उपयोगी भूमिका सहित)

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥१॥

अन्वयः— *या स्रष्टुः आद्या सृष्टिः या विधिहुतं हवि. वहति, या च होत्री ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्यस्थिता, याम् सर्वबीज-प्रकृतिः इति आहुः, यया प्राणिनः प्राणवन्तः, प्रत्यक्षाभिः ताभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्नः ईशः वः अवतुः ।*

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये ! यदि नेपथ्य-विधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम् ।

नटी—अज्जउत्त ! इयं म्हि । (आर्यपुत्र ! इयमस्मि ।)

सूत्रधारः—आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् । अद्य खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनो-पस्थातव्यमस्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः ।

टिप्पणी—अभिज्ञानशाकुन्तलम्—अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् (अभि +ज्ञा+ल्युट्) शकुन्तलाम् अधिकृत्य कृतं नाटकम् शाकुन्तलम् (शकुन्तला अण्) अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् । मध्यमपदलोपी समासः ।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" का अर्थ—अभिज्ञान (अंगूठी की पहिचान) है प्रधान जिस शकुन्तला सम्बन्धी नाटक में ।

प्रथम श्लोक में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है । स्रग्धरा छन्द है । स्रग्धरा का लक्षण है—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम् ।'

सृष्टिः (सृज्+क्तिन्)

स्रष्टुः (सृज्+तृच्, स्रष्टा, तस्य)

प्रथम अङ्क

जो विधाता की प्रथम सृष्टि (अर्थात् जलरूप मूर्त्ति) है, जो विधिपूर्वक हवन की गयी हवि (घृत आदि की आहुति) को देवताओं तक पहुँचाती है, (अर्थात् अग्नि-रूप मूर्त्ति), जो होत्री (अर्थात् यजमानरूप मूर्त्ति) है, जो दो मूर्त्तियाँ काल (समय) का विधान करने वाली हैं (अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा रूप शङ्कर की दो मूर्तियाँ), जो मूर्त्ति शब्दगुण वाली है और विश्व को व्याप्त करके स्थित है (अर्थात् आकाश रूप मूर्त्ति), जो मूर्ति समस्त बीजों का कारण है (अर्थात् पृथिवी रूप मूर्त्ति), और जिसके द्वारा सभी प्राणी जीवित रहते हैं (अर्थात् वायु रूप मूर्त्ति), उन प्रत्यक्ष सिद्ध आठ मूर्तियों से भगवान् शिव आप लोगों की रक्षा करें ॥ १॥

सूत्रधार—(नेपथ्य अर्थात् पर्दे के पीछे स्थित नटशाला की ओर देखते हुए) प्रिये ! यदि नेपथ्यविधान (नाटकोचितवेष का परिवर्त्तन) समाप्त हो चुका है तो इधर आइये।

नटी—आर्यपुत्र ! यह मैं उपस्थित हूँ।

सूत्रधार—आर्ये ! यह सभा विद्वानों से परिपूर्ण है। आज हमें कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नवीन नाटक का अभिनय करना है अतः प्रत्येक पात्र को बड़ी सावधानी से कार्य करना होगा।

विधिहुतम् विधानम् विधिः, वि + धा + धि, विधिना हुतम्, हु + क्त)

होत्री (हु + तृच् + ङीप्) जुहोति, इति होत्री होतुं शीलम् अस्याः इति वा

प्राणिनः (प्राण + इनि)

प्रपन्नः (प्र + पद + क्त)

नान्द्यन्ते—नन्दनं नन्दः भावे घञ्, नन्देन पठ्यते इति नान्दी, नन्द + अण्, स्त्रियाम्, आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता। (साहित्य दर्पण)

अर्थात् देव, द्विज (ब्राह्मणों) एवं नृपादि की आशीर्वाद युक्त स्तुति इसके द्वारा की जाती है, इसीलिये इसे नान्दी कहते हैं। नान्दी + अन्ते नान्दी के अन्त में।

सूत्रधार : (सुत्रं धारयति इति सूत्रधारः, नाट्योपकरणादीनिसूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो मतो बुधैः)। अर्थात् नाट्य के उपकरणादि को सूत्र कहा जाता है। सूत्र + धारि + अण कर्तरि।

नटी—सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं विपरिहाइस्सदि। (सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते।)

सूत्रधारः—आर्ये! कथयामि ते भूतार्थम्,—

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥२॥

नटी—अज्ज! एवं णेदं। अणंतरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु। (आर्य! एवमेव तत्। अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु।)

सूत्रधारः—किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः? तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। संप्रति हि,—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥३॥

अन्वय :—*सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः, प्रच्छायसुलभनिद्राः, परिणामरमणीयाः, दिवसाः सन्ति।*

नटी—तह। (तथा।) (इति गायति)

ईसीसिचुंबिआइं भमरेहि सुउमारकेसरसिहाइं।
ओदंसयंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥४॥

[ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥]

टिप्पणी—प्रयोगविज्ञानम् (प्र+युज्+घञ् प्रयोग+वि+ज्ञा+ल्युट्।

अनन्तरकरणीयम् (नास्ति अन्तरं यस्मिन् कर्मणि तत् अनन्तरम्, अनन्तरं करणीयम्, अनन्तरकरणीयम्)

द्वितीय श्लोक में अर्थान्तरन्यास एवं पर्यायोक्त अलङ्कार है। आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण इस प्रकार है—

यस्याः पादे प्रथमेद्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थकेपञ्चमदश साऽऽर्या ॥

नटी—आपके नाटकाभिनय में निपुण होने से, किसी प्रकार की उपहासास्पद त्रुटि होने का भय नहीं है।

सूत्रधार— आर्ये ! मैं तुमसे सत्य कहता हूं—

जब तक विद्वानों को हमारे अभिनय कौशल से सन्तोष न हो जाये, तब तक मैं अपनी अभिनयकुशलता को सर्वथा ठीक नहीं मानता। क्योंकि अभ्याससम्पन्न शिक्षित विद्वानों को भी अपनी कुशलता में तब तक सन्देह ही बना रहता है, जब तक कि कार्य पूर्णतया सम्पन्न नहीं हो जाता ॥२॥

नटी—आर्य ! आप ठीक कहते हैं। अब क्या करना है, आज्ञा करें।

सूत्रधार इस सभा के श्रोताओं को आनन्दमग्न करने से बढ़कर और क्या कार्य हो सकता है। तो अभी आरम्भ हुए उपभोग योग्य, ग्रीष्मऋतु के समय का गीत गाइए।

इस समय—(ग्रीष्म ऋतु में) जिन दिनों में जल में स्नान एवं क्रीड़ा करना अत्यन्त सुखद लगता है, मन्द वायु गुलाब की सुगंध से संवर्धित होकर सुगन्धित है, और कुंजों की शीतल छाया में निद्रा सुलभ है ऐसे ये दिन सूर्यास्त के बाद बड़े रमणीय लगते हैं।

नटी—ठीक है, (गाती है—)

भ्रमर धीरे-धीरे जिनका रसपान कर रहे है एवं जिनके केसर (तली पंखुड़ियां) और अग्रभाग बड़े ही सुकुमार हैं, ऐसे इन कोमल सिरस के पुष्पों को दयासम्पन्न

टिप्पणी—इस श्लोक में परिकर एवं स्वाभावोक्ति अलङ्कार है। आर्या छन्द है। आर्या का लक्षण दिया जा चुका है।

श्रुते प्रसादनतः इति श्रुति प्रसादनतः (षष्ठी तत्पुरुष) प्र+सद्+णिच्+ल्युट् प्रसादन+तसिल्।

सुभगसलिलावगाहाः (सुभगः सलिले अवगाहाः येषु ते) अव+गाह+घञ्, अवगाह।

यहां (चतुर्थ श्लोक) में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। गीति उद्गाथा छन्द है। उद्गाथा छन्द में कुल ६० मात्रायें होती हैं। पूर्वार्द्ध में १२+१८ के योग से ३० मात्रायें होती हैं, उत्तरार्द्ध में भी १२+१८ के योग से ३० मात्रायें होती हैं।

ग्रीष्म ऋतु में शिरीषकुसुमों (सिरस के फूलों) का उद्गम प्रसिद्ध है

अन्वयः—सुकुमार केसर शिखानि, ईषदीषत् भ्रमरैः चुम्बितानि शिरीष-कुसुमानि, दयमानाः, प्रमदा अवतंसयन्ति ।

सूत्रधारः—आर्ये ! साधु गीतम् । अहो रागबद्धचित्तवृत्ति-रालिखित इव सर्वतो रङ्गः । तदिदानीं कतमत्प्रकरणमाश्रित्यैन-माराधयामः ।

नटी—णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउंदलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति । (नन्वार्य-मिश्रैः प्रथमेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेअधि-क्रियतामिति ।)

सूत्रधारः—आर्ये ! सम्यगनुबोधितोऽस्मि । अस्मिन्क्षणे विस्मृतं खलु मया । कुतः ।

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥५॥

अन्वयः गीतरागेण, हारिणा, प्रसभं, हृतः, अतिरंहसा, सारङ्गेण, एष, राजा, दुष्यन्तः, इव ।

(इति निष्क्रान्तौ)

प्रस्तावना ।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन् !

"दत्तच्छिरीषप्रसवाऽभिरामः" काव्यानुशासनम् पृ० १३३ ।

प्रमदा: (प्रकृष्टः मदः यासु ताः)

दयमानाः (दय + शानच्)

अवतंसयन्ति (अवतंस + णिच् + लट्)

टिप्पणी —आर्यमिश्राः, प्रशस्या आर्याः, आर्यमिश्राः । साधारणतया आर्य शब्द का प्रयोग नटी द्वारा सूत्रधार के लिए किया जाता है । यहां आर्य शब्द के

एवं मदविह्वल सुन्दरियां कर्णाभरण के रूप में धारण कर रही हैं ॥४॥

सूत्रधार—आर्ये ! बहुत सुन्दर गीत गाया। तुम्हारे रागयुक्त इस मनोहर गीत से आकृष्ट चित्तवाला यह रंगस्थलवर्ती दर्शक समाज चित्रलिखित सा प्रतीत हो रहा है। तो अब किस नाटक का प्रयोग करके इस समाज को अनुरञ्जित करें।

नटी—यह तो आप पहिले ही कह चुके हैं कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामक अभिनव नाटक को अभिनय का विषय बनाया जाए।

सूत्रधार—प्रिये ! तुमने मुझे ठीक याद दिलाई। इस समय तो मैं यह भूल ही गया था। क्योंकि तुम्हारे मनोहर गीतराग ने मेरे मन को उसी प्रकार चुरा लिया, जिस प्रकार कि इस वेगवान् हरिण ने राजा दुष्यन्त के मन को हर लिया है।

(दोनों जाते हैं)

(इसके पश्चात् मृग का पीछा करने वाले, हाथ में धनुष बाण लिये हुए, रथ पर स्थित राजा दुष्यन्त एवं सारथी का प्रवेश।)

सूत—(राजा एवं मृग की ओर देखकर) आयुष्मन् ! कृष्णमृग तथा चढ़े

साथ मिश्र शब्द का प्रयोग प्रशंसा के अर्थ में किया गया है।

टिप्पणी—हारिणा (हृ+णिनि)

सारङ्गः (सारम् अङ्गम् अस्य)

पञ्चम श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं उपमा अलङ्कार हैं। अनुष्टुप् छन्द है। अनुष्टुप् का लक्षण इस प्रकार है :—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्वि चतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।

प्रस्तावना—जब सूत्रधार के साथ नटी या विदूषक आदि इधर उधर की बातें करते हुए ही, जहां किसी प्रकृत विषय की सूचना दें, तो वह प्रस्तावना कहलाती है। प्रस्तावना को ही आमुख भी कहते हैं।

नटी विदूषको वाऽपि, पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः, प्रस्तुताऽऽक्षेपिभिर्मिथः।
'आमुखं' तत्तु विज्ञेयं नाम्ना, 'प्रस्तावना' ऽपि सा ॥

(साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६)

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥६॥

अन्वयः– कृष्णसारे, च अधिज्यकार्मुके, त्वयि, चक्षुददत, मृगानुसारिणम्, साक्षात् पिनाकिनम्, इव, पश्यामि ।

राजा—सूत ! दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि,—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥७॥

अन्वयः ग्रीवाभङ्गाभिरामं, मुहुः, अनुपतति, स्यन्दने, बद्धदृष्टिः, शरपतन भयाद्, भूयसा, पश्चार्धेन, पूर्वकायम्, प्रविष्टः, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः, अर्द्धवलीढैः, दर्भैः, कीर्णवर्त्मा, पश्य, (अयम्), उदग्रप्लुतत्वात्, वियति, बहुतरं प्रयाति, स्तोकम्, उर्व्यां (प्रयाति ।)

तदेष कथमनुपतन्न एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृतः ?

सूतः—आयुष्मन् ! उद्घातिनि भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः । तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः । संप्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् (रथवेगं निरूप्य) आयुष्मन् ! पश्य पश्य,—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।

हुए धनुष को धारण करते हुए आपको देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मानो हरिण के पीछे दौड़ते हुए साक्षात् शंकर जी को ही देखता हूं।

राजा—हे सारथे! इस हरिण ने तो हम लोगों को बहुत दूर खींच लिया है। यह फिर अब भी—

रथ की ओर गर्दन को घुमाकर, मनोहरतापूर्वक देखता हुआ, बाण लगने के भय से अपने पिछले भाग को शरीर के पूर्व भाग की ओर समेटकर, आधे चबाये हुए कुशा के ग्रासों को परिश्रम से खुले हुए अपने मुख से मार्ग में फेंकता हुआ, (यह मृग) आकाश में छलांग मारने के कारण आकाश में अधिक और पृथ्वी पर कम चलता है।

मेरे इसके पीछे दौड़ने पर भी यह मृग आँखों से ओझल होता जा रहा है।

सूत चिरञ्जीविन्! ऊंची-नीची भूमि होने के कारण मैंने घोड़ों की लगाम खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। इसीलिये यह मृग बहुत दूर निकल गया। अब समतल भूमि पर वर्तमान आपको उसे प्राप्त करना कठिन न होगा।

राजा—तो अब घोड़ों की लगाम ढीली कर दो।

सूत महाराज की जसी आज्ञा (रथ के वेग की ओर संकेत करके) आयुष्मन्, देखो, लगाम ढीली करने पर रथ के ये घोड़े, अपने शरीर के पूर्व भाग को लम्बा करके और अपनी ग्रीवा के बालों को निष्कम्प रूप से खड़ा करके एवं अपने कानों को भी खड़ा करके, मानो जैसे, हरिण के वेग को न सह सकने के

टिप्पणी—कृष्णसारे—(कृष्णश्चासौ सारः शवलः, तस्मिन्, कर्मधारय समासः)

ददत् (दा+शतृ)

कार्मुके (कर्मणे प्रभवति, कर्मन्+उकञ्)

पिनाकिनम् (पिनाक+इनि, द्वितीया विभक्ति)

इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द एवं स्वाभावोक्ति अलंकार हैं। भयानक रस व्यङ्ग्य है; जिसका स्थायीभाव मृगगत भय है।

व्याकरण—प्र+विश्+क्त=प्रविष्टः, स्यन्द+ल्युट् (स्यन्दने) भूयसा (बहु+ईयस् तृ०)

अव+लिह्+क्त=अवलीढः

कोशः—'दृष्टिर्दृष्टेऽक्षिणलोचने' (अमरकोष)

आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया

धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्या: ॥८॥

अन्वय:—*रश्मिषु, मुक्तेषु, निरायतपूर्वकाया:, निष्कम्पचामारशिखा:, च्युतकर्णभङ्गा:, आत्मोद्धतै:, अपि, रजोभि:, अलङ्घनीया:, अमी, रथ्या:, मृगजवाक्षमया इव, धावन्ति ।*

राजा—सत्यम्; अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिन: । तथा हि,—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां

यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत् ।

प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयोर्न

मे दूरे किंचित्क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥९॥

अन्वय:—*रथजवात्, सहसा, आलोके, यत्, सूक्ष्मं, तत्, विपुलतां, व्रजति, यत, अर्धे, विच्छिन्नं, तत्, कृतसन्धानम्, इव, भवति, यत्, प्रकृत्या वक्रं तत्, अपि, नयनयो:, समरेखम्, क्षणम्, अपि न, किञ्चित्, मे, दूरे, न, पार्श्वे ।*

सूत ! पश्यैनं व्यापाद्यमानम् । (इति शरसंधानं नाटयति)

(नेपथ्ये)

भो भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य: ।

सूत:—(आकर्ण्यावलोक्य च) आयुष्मन् ! अस्य खलु ते बाणपातवर्तिन: कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिता: ।

राजा—(ससंभ्रमम्) तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिन: ।

टिप्पणी—इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द एवं हेतूत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति तथा वृत्यनुप्रास अलङ्कार हैं ।

(मृगजवाक्षमया) मृग के वेग को असहन करने के कारण ।

मृगस्यजवोवेगस्तदक्षमया तदक्षान्त्या

व्याकरण—रथ्या: रथं वहति, इति रथ्य: (रथ+यत्) तद्वहति रथयुग प्रासङ्गम्' सूत्र से यत् प्रत्यय । वसन्ततिलका छन्द का लक्षण—उक्तावसन्ततिलका तभजाजगौग: ।

कारण ही इस प्रकार भाग रहे हैं कि इनके अपने पैरों से उड़ी धूलि भी इन्हें नहीं लांघ पा रही है।

राजा—सत्य ही, इन अश्वों ने सूर्य के घोड़ों को भी अतिक्रमण कर दिया है। क्योंकि रथ के वेग से चलने के कारण, पहिले जो वस्तु सूक्ष्म दिखाई पड़ती है, वह तुरन्त बड़ी हो जाती है। जो वस्तु आधी खण्डित सी है, वह जुड़ी हुई प्रतीत होती है और जो वस्तु स्वभाव से टेढ़ी है, वह नेत्रों के लिए सीधी दिखाई पड़ती है। कोई भी वस्तु रथ के वेग के कारण न दूर है और न समीप।

हे सारथे ! इसे (मृग को) मारा जाता हुआ देखो (इस प्रकार बाण चढ़ाने का अभिनय करता है।)

(नेपथ्य में)

हे राजन् ! यह आश्रम का मृग अबध्य है, अबध्य है।

सूत—(सुनकर और देखकर) आयुष्मान् ! आपके बाण निपात के समीप-वर्ती उस कृष्णसार मृग के मध्य में तपस्वी उपस्थित हैं।

राजा -(घबराहट के साथ) तो अश्वों को रोक दो।

टिप्पणी—शिखरिणी छन्द। स्वभावोक्ति, विरोधाभास एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आलोके (आ+लोक+घञ्)

सन्धानम् (सम्+धा+ल्युट् भावे)

विच्छिन्नम् (वि+छिद्+क्त)। शिखरिणी का लक्षण—रसै रुद्रैश्छिन्ना-यमनसभलागः शिखरिणी।

नेपथ्य—पर्दे के पीछे के स्थान को 'नेपथ्य' कहते हैं। नेपथ्य में कही गई उक्ति को 'अन्तरसन्धि' कहते हैं। इस सम्बन्ध में मातृगुप्ताचार्य के मत को प्रमाणरूप से उद्धृत किया जा सकता है—

स्वप्नो दूतश्च लेखश्च नेपथ्योक्तिस्तथैव च।
आकाशवचनं चेति ज्ञेवाह्यन्तर सन्धयः॥

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)

(ततः प्रविशत्यात्मनातृतीयो वैखानसः)

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व वत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥१०॥

अन्वयः—*अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशौ अग्निः इव अयं बाणः न खलु न खलु संनिपात्यः। क्व हरिणकानाम् अतिलोलं जीवितं च क्व, निशित निपाताः वज्रसाराः ते शराः च क्व?*

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्त्तुमनागसि ॥११॥

अन्वयः—*तत् साधुकृत संधानं सायकं प्रतिसंहर। वः शस्त्रं आर्तत्राणाय, अनागसि प्रहर्त्तु न।*

राजा—एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)

वैखानसः—सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥१२॥

अन्वयः—*इदं तव युक्तरूपं यस्य पुरोः वंशे जन्म। एवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनं पुत्रम् आप्नुहि।*

इतरौ—(बाहु उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि।

राजा—(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतम्।

वैखानसः—राजन्! समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्य कार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च,—

सूत—जैसी आज्ञा (इस प्रकार रथ को रोकता है।)

(इसके पश्चात् दो शिष्यों के साथ तपस्वी प्रवेश करता है।)

वैखानस–(हाथ उठाकर) हे राजन् यह आश्रम का मृग अवध्य है, अवध्य है।

इस कोमल हरिण के शरीर पर पुष्पराशि पर अग्नि के समान बाण मत चलाइए। दुःख की बात है कि कहां अत्यंत चञ्चल मृगों का जीवन और कहां तीव्र प्रहार करने वाले वज्र के समान कठोर आपके बाण, इसलिये अच्छी तरह चढ़ाए हुए बाण को उतार लो। आपका शस्त्र दुःखी प्राणियों की रक्षा के लिए है न कि निरपराधी को मारने के लिए।

राजा—लीजिये, यह उतार लिया। (इस प्रकार बाण को उतारता है।)

वैखानस पुरुवंश के प्रदीपस्वरूप आपके लिए यह कार्य कुल की मर्यादा के अनुरूप ही है। जिसका जन्म पुरुवंश में हुआ है, ऐसे आपके लिये ऐसा करना युक्त ही है। आप इसी प्रकार के गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करिए।

अन्य दोनों – (बाहुओं को उठाकर) सर्व प्रकार से चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें।

राजा—(प्रणाम करते हुए) उतार लिया।

वैखानस—(तपस्वी) हे राजन्! हम समिधा लेने के लिए जा रहे हैं। यह मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व का आश्रम दिखाई पड़ रहा है। यदि अन्य कार्य में बाधा न पड़े तो आश्रम में प्रवेश करके अतिथिसत्कार ग्रहण कीजिये।

और भी—

टिप्पणी—प्रहर्तुम्—(प्र+हृ+तुमन्)

एकादश श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। 'चक्रवर्ती सार्वभौमः' (अमरकोषः)।

अतिथिषु साधु=आतिथेयः, ढञ् प्रत्यय

समवलोक्य (सम्+अव+लोक्+ल्यप्)

तपएवधनम् येषाम्, ते तपोधनाः, तेषाम् तपोधनानाम्

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१३॥

अन्वयः—*तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः रम्याः क्रियाः समवलोक्य मौर्वीकिणाङ्कः मे भुजः कियत् रक्षति इति ज्ञास्यसि ।*

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः ?

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

राजा—भवतु । तां द्रक्ष्यामि । सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिस्यति ।

वैखानसः—साधयामस्तावत् । (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)

राजा—सूत ! चोदयाश्वान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (इति भूयो रथवेगं निरूपयति)

राजा—(समन्तादवलोक्य) सूत ! अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथायमाश्रमाभोगस्तपोवनस्येति ।

सूतः—कथमिव ?

राजा—किं न पश्यति भवान् ? इह हि,—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्पन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

बारहवें श्लोक में परिकर, काव्यलिङ्ग और पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार हैं ।

टिप्पणी—नि+युज्+ल्यप् = नियुज्ज ।

चतुर्दशश्लोक में वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, क्रियासमुच्चय एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं ।

इङ्गुदी—तपस्वीजन इङ्गुदी फल को पत्थर से तोड़कर तैल निकालते हैं ।

तपस्वियों की रमणीक क्रियाओं को निर्विघ्न सम्पन्न होते हुए देखकर आपको यह ज्ञात हो जाएगा कि धनुष की मौर्वी (डोरी) के आघात से विभूषित आपकी भुजा प्रजा की कितनी रक्षा करती है।

राजा—क्या कुलपति कण्व विराजमान हैं?

वैखानस—(कुलपति) इसी समय अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार के लिए नियुक्त करके, शकुन्तला के भाग्य की प्रतिकूलता की शान्ति के निमित्त सोमतीर्थ गए हैं।

राजा—ठीक है। शकुन्तला को देखूंगा। वह निश्चित ही मेरी भक्ति को जानकर महर्षि कण्व से मेरे सम्बन्ध में कहेगी।

वैखानस—तब तक हम चलते हैं। (इस प्रकार शिष्यों सहित तपस्वी चला जाता है)

राजा—सारथे! घोड़ों को हांको तब तक पुण्याश्रम के दर्शन से अपने को पवित्र करें।

सूत—महाराज की जैसी आज्ञा। (इस प्रकार फिर रथ को वेगपूर्वक हांकता है)

राजा (चारों ओर देखकर) सूत बिना कहे हुए ही, यह ज्ञात हो रहा है कि यह आश्रम का समीपवर्ती प्रदेश है।

सूत—कैसे!

राजा—क्या आप नहीं देख रहे हैं? यहां (कहीं) वृक्षों के नीचे शुकों के कोटरों (घोंसलों) में स्थित उनके छोटे-छोटे बच्चों के मुख से गिरे हुए नीवार धान्य (तिन्नी के चावल) बिखरे हुए हैं, कहीं इंगुदी के फलों के पीसने से चिकने पत्थर दिखाई पड़ रहे हैं, (कहीं) मृग अत्यन्त विश्वस्त भाव से निर्भय होकर मनुष्यों के आने जाने के शब्द को सहन करते हैं और (कहीं) जलाशयों के मार्ग मुनियों के वल्कल वस्त्रों के सिरे से टपकती हुई जल की रेखाओं से अंकित हो रहे हैं॥ १४॥

इङ्गुदी तापसतरुः (अमरकोश)

इस श्लोक का छन्द शार्दूलविक्रीडित है। शार्दूलविक्रीडित का लक्षण है—

"सूर्याश्वैर्यदिमः सजौसततगाः शार्दूलविक्रीडितम्"

नीवाराः (नि+वृ+घञ्)

प्रस्निग्धाः (प्र+स्निह्+क्त)

निष्पन्द (नि+स्पन्द+घञ्)

तोयाधार पथाः (तोयानाम् जलानाम् आधाराः तेषाम् पन्थानः, तत्पुरुष)

अन्वय (क्वचित् तरूणाम् अधः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः नीवाराः (दृश्यन्ते) क्वचित् प्रस्निग्धाः उपलाः इंगुदीफलभिदः एव सूच्यन्ते (क्वचित्) विश्वासोपगमात् अभिन्नगतयः मृगाः शब्दं सहन्ते, (क्वचित्) च तोयाधारपथाः वल्कलशिखानिष्पन्दरेखाङ्किताः (दृश्यन्ते) ।

सूतः—सर्वमुपपन्नम् ।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) तपोवन निवासिनामुपरोधो मा भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय यावदवतरामि ।

सूत—धृताः प्रग्रहाः; अवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—(अवतीर्य) सूत ! विनीतवेशेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद्गृह्यताम् । (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति) सूत ! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम् । यावत्प्रविशामि । (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥१५॥

अन्वय—इदम् आश्रमपदम् शान्तम् । बाहुः च स्फुरति । इह अस्य फलं कुतः । अथवा भवितव्यानां द्वाराणि सर्वत्र भवन्ति ।

(नेपथ्ये)

इदो इदो सहिओ ! । (इतः इतः सख्यौ ! ।)

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अये ! दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते । यावदत्र गच्छामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अये ! एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते । (निपुणं निरूप्य) अहो ! मधुरमासां दर्शनम्,—

सूत—आपने सब युक्तियुक्त कहा है।

राजा—(कुछ दूर चलकर) तपोवन निवासियों के लिये विघ्न न हो इसलिये यहां रथ रोक लो, जब तक मैं उतर जाऊं।

सूत - लगाम खींचली, महाराज उतरें।

राजा - उतर कर) सूत ! आश्रम में विनीत वेष से प्रवेश करना चाहिये। अतः यह (आभूषण एवं धनुष) तुम रक्खो। (इस प्रकार सारथी को आभूषण एवं धनुष उतार कर देता है) सारथि जब तक मैं आश्रमवासियों को देखकर लौटता हूं, तब तक अश्वों की थकावट दूर कर दो अर्थात् उन्हें चारा-पानी आदि देकर ताजा कर लो।

सूत--जो आज्ञा (यह कहकर निकल जाता है)

राजा - घूमकर तथा देखकर) यह आश्रम का द्वार है। तो मैं प्रवेश करूं। प्रवेश करके, निमित्त की सूचना देते हुए)

यह आश्रम शान्ति का स्थान है। परन्तु मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। यहां इसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है। अथवा होनहार (घटनाओं) का सर्वत्र द्वार होता है।

(नेपथ्य में)

[सखियों ! इधर-इधर]

राजा - (कान लगाकर) अरे वृक्षवाटिका की दाहिनी तरफ कुछ बातचीत सी सुनाई पड़ रही है। तो वहां चलूं। (घूमकर और देखकर) अरे, ये तपस्वी-कन्यायें अपने ही अनुरूप सेंचन-घट लिए हुए, पौधों में जल देने के लिये इधर ही आ रही हैं। (अच्छी तरह देखकर) अरे, इनका दर्शन अत्यन्त मधुर है।

टिप्पणी – आर्द्रपृष्ठाः—आर्द्राणि पृष्ठानि येषाम्, ते।

टिप्पणी—चतुर्दश श्लोक में अर्थान्तरन्यासालङ्कार है। इस श्लोक का छन्द आर्या है। इस श्लोक के द्वारा परिकर नामक मुखसन्धि के द्वितीय अङ्ग की सूचना मिलती है। साहित्यदर्पण में 'परिकर' की परिभाषा है—'समुत्पन्नार्थ बाहुल्यो रोपः परिकरः। अर्थात् संक्षेप में सूचित अर्थ की बाहुल्य से की गई सूचना को 'परिकर' कहते हैं। यहां औत्सुक्य बीजवृद्धि को प्राप्त हुआ है।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥१६॥

अन्वयः—इदम्, शुद्धान्त दुर्लभम् वपुः आश्रमवासिनः जनस्य यदि (तदा) खलुउद्याने लताः वनलताभिः गुणैः दूरीकृताः ।

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । (इति विलोकयन् स्थितः ।)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ । (इतः इतः सख्यौ !)

अनसूया—हला सउंदले ! तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्सम-रुक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि । जेण णोमालिआकुसुमपेलवा तुमं वि एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता । (हला शकुन्तले ! त्वत्तोऽपि) तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि । येन नव-मालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता ।)

शकुन्तला—ण केअलं तादणिओओ एव्व; अत्थि मे सोदर-सिणेहो एदेसु । (न केवलं तातनियोग एव; अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु ।) (इति वृक्षसेचनं रूपयति ।)

राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता ? असाधु-दर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः; य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते ।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥१७॥

अन्वयः—यः ऋषि इदं अव्याजमनोहरं वपुः तपः क्षमम् साधयितुम् इच्छति किल, सः ध्रुवं नीलोत्पल पत्रधारया शमीलताम् छेत्तुम् व्यवस्यति ।

भवतु; पादपान्तर्हित एव विस्रब्धं तावदेनां पश्यामि । (इति तथा करोति ।)

अन्तःपुर में दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी जनों का हो सकता है, तब तो वन की लताओं ने सौकुमार्य आदि गुणों से उद्यान लताओं को भी तिरस्कृत कर दिया है।

तो इस छाया में बैठकर प्रतीक्षा करता हूं।

(इस प्रकार देखते हुए स्थित रहता है।)

(इसके पश्चात् शकुन्तला दो सखियों के साथ पौधों को सींचती हुई प्रवेश करती है।

शकुन्तला—इधर-इधर सखियो !

अनुसूया—सखि शकुन्तले ! ऐसा प्रतीत होता है कि तात कण्व को, आश्रम के वृक्ष तुमसे भी अधिक प्रिय हैं। इसीलिये नव मालिका के कुसुम के समान कोमल तुमको भी इन पौधों के आलवालों को भरने के लिये नियुक्त किया गया है।

शकुन्तला—केवल पिताजी की आज्ञा ही नहीं है, मेरा इनके प्रति सहोदर (सगे भाई का) स्नेह है।

(इस प्रकार वृक्षों के सींचने का अभिनय करती है)

राजा—(स्वगत) क्या यही वह कण्व की पुत्री शकुन्तला है ? आदरणीय काश्यप निश्चय ही बड़ा ही अनुचित कार्य कर रहे हैं जो इसे (शकुन्तला को) आश्रम के धर्म में लगा रहे हैं।

जो ऋषि इस निर्व्याज एवं मनोहर शरीर को भी तप करने के योग्य बनाना चाहते हैं, वह निश्चय ही नील कमल के पत्र की धार से शमीवृक्ष की लता को काटना चाहते हैं ॥१७।

अच्छा ! वृक्षों के बीच में छिपकर तब तक इसे विश्वस्त भाव से देखता हूं। (इस प्रकार कहकर वैसा करता है।)

टिप्पणी—पन्द्रहवें श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा और निदर्शना अलंकार हैं। आ + श्रि + क्त्वा + ल्यप्=आश्रित्य।

१६वें श्लोक में निदर्शना, उत्प्रेक्षा एवं सन्देह संकर अलंकार हैं। वंशस्थ छन्द है।

छेत्तुम्—छिद्+तुमुन्, व्यवस्यति (वि+अव+सो+लट्) निर्णयसागर संस्करण के अन्तर्गत 'शमीलताम्' के स्थान पर 'समिल्लताम्' पाठ है। समिल्लताम् =समिधारूपी लता को। अव्याजमनोहरं (वि+अज्+घञ्, व्याजः, न व्याजः, यस्मिन् तत् अव्याजम् अव्याजं च तत् मनोहरम्, कर्मधारयसमासः।

शकुन्तला—सहि अणसूए ! अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदाए णिअंविद म्हि । सिढिलेहि दाव णं। (सखि अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत् ।)

अनसूया—तह (तथा) (इति शिथिलयति)

प्रियंवदा—(सहासम्) एत्थ पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणं उवालह। (अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व ।)

राजा—काममननुरूपमस्या वयसो वल्कलं न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति । कुतः

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१८॥

अन्वयः *शैवलेन अनुविद्धम् अपि सरसिजं रम्यम्, हिमांशोः मलिनम् अपि लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति। इयं तन्वी वल्कलेन अपि रम्या। हि मधुराणाम् आकृतीनां किमिव मण्डनं न भवति।*

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) एसो वादेरिदपल्लवंगुलीहि तुवरेदि विअ मं केसररुक्खओ। जाव णं संभावेमि। (एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि।) (इति परिक्रामति)

प्रियंवदा—हला सउंदले ! एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ। जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररुक्खओ पडिभादि। (हला शकुन्तले ! अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ, यावत्त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।)

शकुन्तला—अदो खु पिअंवदा सि तुमं । (अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम् ।)

शकुन्तला—सखि अनुसूये ! प्रियवंदा ने मेरा वल्कल बहुत कड़ा बाँध दिया है। इसे ढीला तो कर दो।

अनुसूया—अच्छा ! (यह कह कर ढीला करती है।)

प्रियवंदा—(हंसती हुई) इसमें तो तू अपने यौवन के आरम्भ को उलहना दे, जिससे तेरे पयोधर (स्तन) बढ़ते जा रहे हैं।

राजा—यद्यपि वल्कल इसके शरीर के योग्य नहीं है फिर भी आभूषण की शोभा को पुष्ट नहीं कर रहा है, यह बात नहीं है। क्योंकि—

सिवार से लिपटा हुआ भी कमल रमणीक होता है, मलिन भी कलंक-चिन्ह चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है। यह पतले शरीर वाली वल्कल से भी अधिक सुन्दर है। सुन्दर आकृतियों का क्या भूषण नहीं हो जाता है ? १८

शकुन्तला—(आगे की तरफ देखकर) यह केसर का छोटा वृक्ष हवा द्वारा हिलाये गये पत्ते रूपी अंगुलियों से जैसे मुझे शीघ्रता करने के लिये प्रेरित कर रहा है। अब मैं इसकी तरफ ध्यान देती हूँ। (यह कह कर घूमती है)

प्रियवंदा—हे सखि शकुन्तले ! क्षण भर के लिये यहीं रुको। तुम्हारे पास में स्थित यह केसर का छोटा वृक्ष लता से युक्त सा प्रतीत होता है।

शकुन्तला—इसीलिये तो तुम प्रियंवदा हो।

टिप्पणी—१८वें श्लोक में प्रतिवस्तूपमा एवं अर्थान्तरन्यास् अलंकार हैं। मालिनी छन्द है। मालिनी का लक्षण—"ननमयययुतेयं मलिनी भोगिलोकैः"

सरसिजम् (सरसि जातम्, सरसि + जन् + ड) अनुविद्धम् (अनु + व्यध् + क्त)।

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्याः खलु,—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥१९॥

अन्वय: *अधरः किसलयरागः, बाहू कोमलविटपानुकारिणौ, अंगेषु कुसुमम् इव लोभनीयं यौवनम् संनद्धम्।*

अनुसूया—हला सउंदले ! इअं सअंवरबहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजेसिणत्ति णोमालिआ। णं विसुमरिदा सि। (हला शकुन्तले ! इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतवत्यसि।)

शकुन्तला—तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। (लतामुपेत्यावलोक्य च) हला ! रमणीए खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, सिणिद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो। (तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि। हला ! रमणीये खलु काल एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः। नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।) (इति पश्यन्ती तिष्ठति।)

प्रियंवदा—अणसूए ! जाणासि किं णिमित्तं सउंदला वणजोसिणीं अदिमेत्तं पेक्खदित्ति ? (अनसूये ! जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिपात्रं पश्यतीति ?)

अनसूया—ण खु विभावेमि। कहेहि। (न खलु विभावयामि कथय।)

प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अह वि अत्तणो अणूरूवं वरं लहेअत्ति। (यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति।)

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला प्रिय भी सत्य ही कहा है। निश्चय ही इसका अधर किसलय के समान वर्ण का है। दोनों कोमल भुजायें शाखाओं की अनुकारिणी हैं। पुष्प के समान आकर्षक यौवन इसके समस्त अंगों में व्याप्त है ॥१९॥

अनुसूया सखि शकुन्तले! यह आम के पेड़ की स्वयंवर में प्राप्त वधू चमेली है, जिसका तुमने वनज्योत्स्ना नाम रखा है। इसे भूल गई हो।

शकुन्तला—तब तो अपने आप को भी भूल जाऊंगी। (लता के पास जाकर और देखकर) सखि! इस लता और वृक्ष के जोड़े का रमणीय काल में संपर्क हुआ है। वनज्योत्स्ना नवीन कुसुमों के रूप में यौवन वाली है और आम्र-वृक्ष चिकने पत्तों वाला होने के कारण उपभोग करने में समर्थ है। (यह कहकर देखती हुई बैठती है।)

प्रियंवदा—अनुसूये! जानती हो शकुन्तला वनज्योत्स्ना को इतनी अधिक देर तक क्यों देख रही है।

अनुसूया—मैं तो नहीं समझती। तुम बतलाओ।

प्रियंवदा—जिस प्रकार कि वनज्योत्स्ना ने अपने अनुरूप वृक्ष (वर) को प्राप्त कर लिया है, इसी प्रकार मैं भी अपने अनुरूप वर को प्राप्त करूं।

टिप्पणी—१९वें श्लोक में उपमा अलंकार है। इस श्लोक का छन्द आर्या है।
यौवनम्—(यूनः भावः, युवन्+अण्)
सन्नद्धम् (सम्+नह्+क्त)
किसलयरागः (किसलयरागः इव रागो यस्य)
कृतं नामधेय यस्याः सा—कृतनाम धेया (बहुब्रीहि समास)।
उपेत्य (उप+इ+क्त्वा+ल्यप्)
अवलोक्य (अव+लोक+क्त्वा+ल्यप्)
मनोरथः—मनसः रथः (मन की अभिलाषा)

शकुन्तला—एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो। (एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः।) (इति कलशमावर्जयति)

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् ? अथवा कृतं संदेहेन,—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥

अन्वयः— *असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यत् मे आर्यम् मनः अस्याम् अभिलषि। हि सन्देह पदेषु वस्तुषु सताम् अन्तःकरण प्रवृत्तयः प्रमाणम्।*

तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये।

शकुन्तला—(ससंभ्रमम् अम्मो ! सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ। (अम्मो ! सलिलसेकसंभ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।) (इति भ्रमरबाधां रूपयति।)

राजा—(सस्पृह विलोक्य)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वय तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥२१॥

अन्वयः— *वेपथुमतीं चलापाङ्गां दृष्टिं बहुशः स्पृशसि, रहस्याख्यायी इव कर्णान्तिकचरः मृदु स्वनसि, करौ व्याधुन्वत्याः रतिसर्वस्वम् अधरम् पिबसि।*

शकुन्तला—ण एसो दुट्ठो विरमदि। अण्णदो गमिस्सं। (पदान्तरे स्थित्वा, सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो विआअच्छदि ? हला ! परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण दुट्ठमहुअरेण पडिहूअमाणं। (न एष दुष्टो विरमति। अन्यतो गमिष्यामि। कथमितोऽप्यागच्छति ? हला ! परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन दुष्टमधुकरेण परिभूय मानाम्।)

शकुन्तला—यह निश्चय ही तेरी अपनी अभिलाषा है।

(यह कहकर घड़े से जल देती है)

राजा—कदाचित् यह शकुन्तला कुलपति (कण्व) की असमानवर्ण की पत्नी से उत्पन्न हो ? सन्देह करना व्यर्थ है—

यह (शकुन्तला) निश्चय ही क्षत्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य है क्योंकि मेरा श्रेष्ठ मन इसमें अभिलाषी है। क्योंकि संशय-ग्रस्त वस्तुओं के विषय में सज्जन पुरुषों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण होती हैं ॥२०॥

शकुन्तला—(घबराकर) अहो ! जल सींचने से घबराहट के साथ उड़ा हुआ भौंरा नवमल्लिका (चमेली) को छोड़कर मेरे मुख की ओर ही आ रहा है।

(इस प्रकार भौंरे की बाधा का अभिनय करती है)

राजा—(अभिलाषापूर्वक देखकर)

(तुम) कम्पायमान एवं चञ्चल नेत्र प्रान्त वाली की दृष्टि को बार-बार छू रहे हो, रहस्य कथन कहने वाले के समान इसके कानों के पास जाकर मधुर शब्द करते हो और हाथों को फटकारती हुई के रतिसर्वस्व अधर का पान करते हो। हे मधुकर ! हम तो तत्त्वान्वेषण में मारे गये और तुम तो कृतार्थ हो गये ॥२१॥

शकुन्तला—यह दुष्ट रुक नहीं रहा है। दूसरी ओर जाती हूं। (न जाने) किस लिये (यह) इधर भी आ रहा है। सखि ! इस दुष्ट भौंरे के द्वारा अभिभूत मेरी रक्षा करो।

टिप्पणी—बीसवें श्लोक में अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा एवं काव्यलिङ्ग अलंकार तथा वंशस्थ वृत्त है। वंशस्थ का लक्षण इस प्रकार है—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं ज रौ"

असंशयम् (अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत्, सम्+शी+अच्)

अभिलाषि (अभि+लष्+णिनि)

सन्देहपदेषु (सन्देहस्य पदेषु, सम्+दिह्+घञ्)

प्रमाणम् (प्र+मा+ल्युट्)

२१वें श्लोक में स्वभावोक्ति और काव्यलिंग अलंकार हैं। शिखरिणी छन्द है।

दृष्टिम् (दृश्+क्तिन्)

चलापाङ्गाम् (चलौ अपाङ्गौ यस्याः सा ताम्)

वेपथुमतीम् (वेप्+अथुच्) रहस्यम् (रहस्+यत्)

व्याधुन्वत्याः (वि+आ+धु+शतृ+ङीप्)

तत्त्वान्वेषात्) तत्त्वस्य अन्वेषात्, अन्वेष, अनु+इष्+घञ्)

कृति (कृत+इन्)

उभे—(सस्मितम् ।) का अम्हे परित्तादुं ? दुस्संदं अक्कंद । राअरक्खिदव्वारं तवोवणाइं णाम । (के आवां परित्रातुम् ? दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।)

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्-(इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु ! एवं तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा, सदृष्टिक्षेपम्) कहं इदो वि मं अणुसरदि ? (कथमितोऽपि मामनुसरति ?)

राजा—(सत्वरमुपसृत्य)

क: पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥२२॥

अन्वय:—दुर्विनीतानां शासितरि पौरवे वसुमतीं शासति क: अयम् मुग्धासु तपस्विकन्यासु अविनयम् आचरति ।

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किंचिदिव संभ्रान्ता:)

अनुसूया—अज्ज ! ण खु किंवि अच्चाहिदं । इअं णो पिअसही महुअरेण अहिहूअमाणा कादरीभूदा । (आर्य ! न खलु किमप्यत्याहितम् । इयं नो प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता ।) (इति शकुन्तलां दर्शयति)

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) अवि तपो वर्धते ?

(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति)

अनुसूया—दाणिं अदिहिविसेसलाहेण । हला सउंदले ! गच्छ उडअं; फलमिस्सं अग्घं उवहर । इदं पादोदअं भविस्सदि । (इदानीमतिथिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले ! गच्छोटजम्, फलमिश्रमर्घमुपहर । इदं पादोदकं भविष्यति ।)

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम् ।

दोनों—(मुस्कराकर) हम दोनों रक्षा करने वाली कौन हैं ? दुष्यन्त को बुलाओ। क्योंकि तपोवनों की रक्षा राजाओं द्वारा की जानी चाहिए।

राजा—यह अपने को प्रकट करने का अवसर है। डरना नहीं चाहिए, डरना नहीं चाहिये······(इस प्रकार आधी बात कहने पर ही—मन ही मन) राजा होने का पता चल जायेगा। अच्छा, तो इस प्रकार कहूंगा।

शकुन्तला—(दूसरे स्थान पर स्थित होकर, दृष्टि डालते हुये) किस लिये यह इधर भी मेरा पीछा कर रहा है।

राजा—(शीघ्रता से पास आकर) दुष्टों को दण्ड देने वाले पुरुवंशी के पृथ्वी पर शासन करने पर यह कौन सरल तपस्वी-कन्याओं के प्रति उच्छृङ्खलता का व्यवहार कर रहा है ॥२२॥

अनुसूया—आर्य कुछ भी अनर्थ नहीं हुआ। हमारी यह सखि भ्रमर से अभिभूत होकर घबरा गई। (इस प्रकार शकुन्तला को दिखलाती है।)

राजा—(शकुन्तला की ओर मुंह करके) अरे, तप तो बढ़ रहा है।

(शकुन्तला भय एवं लज्जा के कारण मौन हो जाती है।)

अनुसूया—इस समय आप जैसे अतिथि विशेष के प्राप्त होने से (तप तो बढ़ ही रहा है।) सखि! शकुन्तले। कुटिया में जाओ, फल सहित पूजा की सामग्री ले आओ। यह पादोदक (पैर धोने का जल) हो जायेगा।

राजा—आप की मधुरवाणी ही ने आतिथ्य कर दिया।

टिप्पणी—२२वें श्लोक में आर्या छन्द है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।
शासितरि (शास्+तृच्, सप्तमी वि०) शासति (शासु+शतृ)
अविनयाहितम् (अवि+आ+धा+क्त)

प्रियंवदा तेण हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उवविसिअ परिस्समविनोदं करेदु अज्जो। (तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः।)

राजा—नूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः।

अनुसूया—हला सउंदले! उइद णो पज्जुवासणं अदिहीणं, एत्थ उवविसम्ह। (हला शकुन्तले! उचित नः पर्युपासनमतिथीनाम्; अत्रोपविशामः। (इति सर्व उपविशन्ति।)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु खु इमं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीअ म्हि संवुत्ता? (किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य वनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता?)

राजा—(सर्वा विलोक्य) अहो! समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! को णु खु एसो चउरगंभीराकिदी चउरं पिअं आलवंतो पहाववंदो विअ लक्खीअदि? (अनसूये! को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते?)

अनुसूया—सहि! मम वि अत्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसंभो मं मंतावेदि–कदमो अज्जेण राएसिणो वंसो अलंकरीअदि? कदमो वा विरहपज्जुस्सुअजणो किदो देसो? किंणिमित्तं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो? (सखि! ममाप्यस्ति कौतूहलम्। पृच्छामि तावदेनम्। आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते–कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते? कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः? किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः?)

प्रियंवदा—तब आर्य इस घनी छाया वाले सप्तपर्ण वृक्ष के चबूतरे पर कुछ देर बैठकर थकावट दूर कर लें।

राजा—निश्चय ही आप सब भी इस कार्य से थक गई होंगी।

अनुसूया—सखि शकुन्तले! हम लोगों को अतिथियों की सेवा करना उचित ही है, यहां बैठें। (इस प्रकार सब बैठ जाती हैं।)

शकुन्तला—(मन ही मन) इसको देखकर मैं वन-विरोधी विकार की विषय क्यों बन रही हूं?

राजा—(सबको देखकर) अहो! आप सबका सौहार्द (प्रेम) समान अवस्था और रूप के कारण रमणीय है।

प्रियंवदा—(चुपके से) अनुसूये! चतुर एवं गम्भीर आकृति वाला यह कौन है जो चतुर और प्रिय आलाप करते हुए, प्रभावशाली सा प्रतीत हो रहा है।

अनुसूया—सखि! मुझे भी कौतूहल है, तो इससे पूछती हूं। आर्य के मधुरालाप से उत्पन्न विश्वास मुझसे कहलाता है कि आर्य द्वारा कौनसा राजर्षिवंश अलंकृत किया जाता है या (यहां आकर) कौनसा देश विरह व्याकुल जनों वाला कर दिया है? या किस लिए अत्यन्त सुकुमार शरीर को तपोवन में गमन करने के कष्ट का स्थान बनाया है।

टिप्पणी—उपविश्य—उप+विश्+क्त्वा+ल्यप्

गमनीया—गम्+अनीयर्

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ मा उत्तम्म। एसा तुए चिंतिदाइं अणसूआ मंतेदि ! (हृदय ! मोताम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।)

राजा—(आत्मगतम्) कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि ? कथं वात्मापहारं करोमि ? भवतु, एवं तावदेनां वक्ष्ये (प्रकाशम्) भवति ! यः पौरवेण राजा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्न-क्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनुसूया—सणाहा दाणिं धम्मआरिणो। सनाथा इदानीं (धर्मचारिणः।)

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति)

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा जनान्तिकम्) हला सउंदले ! जइ एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे (हला शकुन्तले ! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्।)

शकुन्तला—(सरोषमिव) तदो किं भवे ? (ततः किं भवेत् ?)

सख्यौ—इमं जीविदसव्वस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि। (इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।)

शकुन्तला—तुम्हे अवेध। किं वि हिअए अरिअ मंतेध। ण वो वअणं सुणिस्सं। (युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्र-येथे। न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि।)

राजा—वयमपि तावद्भवत्योः सखीगतं किमपि पृच्छामः।

सख्यौ—अज्ज ! अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा। आर्य ! अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना।)

राजा—भगवान्काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत्।

शकुन्तला—(मन ही मन) हृदय ! मत घबराओ। यह अनुसूया तुम्हारे विचारों को कह रही है।

राजा—(स्वगत) अब मैं अपने सम्बन्ध में किस प्रकार निवेदन करूं ? या किस प्रकार अपने आपको छिपाऊं ? ठीक है, तो मैं इससे इस प्रकार कहूँगा। (प्रकट में) जो पुरुवंश के राजा के द्वारा धर्माधिकार के पद पर नियुक्त किया गया है। वह मैं निर्विघ्न क्रिया जानने के लिये इस आश्रम में आया हूँ।

अनुसूया—(स्वगत) अब धर्म का आचरण करने वाले तपस्वी सनाथ हो गये।

(शकुन्तला शृंगार-लज्जा का अभिनय करती है)

दोनों सखियां—(दोनों के आकृतिभाव को जानकर चुपके से) सखि शकुन्तले ! यदि यहां आज तात उपस्थित होते ?

शकुन्तला—(क्रोध सा प्रदर्शित करते हुए) तो क्या होता ?

दोनों सखियां – तो वे जीवन के सर्वस्व (शकुन्तला) से भी इस अतिथि विशेष को कृतार्थ करते।

शकुन्तला – तुम दोनों दूर जाओ। कुछ हृदय में रखकर कह रही हो। मैं तुम दोनों की बात नहीं सुनूंगी।

राजा—हम भी आप दोनों की सखि के विषय में कुछ पूछते हैं।

दोनों सखियां—आर्य ! यह प्रार्थना अनुग्रह ही है।

राजा—भगवान् काश्यप सतत ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित हैं, यह प्रसिद्ध है। यह आप लोगों की सखि (शकुन्तला) उनकी पुत्री है, यह किस प्रकार है ?

टिप्पणी—नि + युज् + क्त = नियुक्त

विहृत्वा – विद् + क्त्वा

"प्रभवो जलमूले स्याज्जन्म हेतु" (मेदिनीकोश)

अनुसूया—सुणादु अज्जो। अत्थि को वि कोसिओत्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी। (शृणोत्वार्यः। अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः।)

राजा—अस्ति; श्रूयते।

अनुसूया—तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादीहिं तादकस्सपो से पिदा (तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता।)

राजा—'उज्झित' शब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आ मूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनुसूया—सुणादु अज्जो, गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्य किंवि जादसंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकालिणी। (शृणोत्वार्यः, गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सरा प्रेषित, नियमविघ्नकारिणी।)

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

अनुसूया—तदो वसंतोदाररमणीए समए से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ—(ततो वसतोदाररमणीये समये तस्या उन्मादयितृ रूप प्रेक्ष्य,—) (इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति।)

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथाप्सरः संभवैषा।

अनुसूया—अह इं? (अथ किम्?)

राजा—उपपद्यते—

मानुषीपु कथ वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥२३॥

अन्वयः—*अस्य रूपस्य संभवः मानुषीषु कथं वा स्यात्? प्रभातरलं ज्योतिः वसुधातलात् न उदेति।*

अनुसूया – आर्य सुनें। कौशिक गोत्र वाला अत्यन्त प्रभावशाली कोई राजर्षि है ?

राजा – है, सुना जाता है।

अनुसूया—उन्हीं को हमारी प्रिय सखि (शकुन्तला) का पिता समझिये। त्यक्त इस (शकुन्तला) के, शरीर-पोषण आदि से तात काश्यप ही पिता हैं।

राजा – उज्झित (त्यक्त) इस शब्द ने मेरे लिये कौतूहल उत्पन्न कर दिया है। प्रारम्भ से सुनना चाहता हूं।

अनुसूया—आर्य सुनें, प्राचीन काल में, गोतमी नदी के किनारे पर उन राजर्षि के कठिन तप में वर्तमान होने पर, सशंक देवताओं ने तपस्या में बिघ्न डालने वाली मेनका नाम की अप्सरा भेजी।

राजा – देवताओं को दूसरों की समाधि का भय रहता ही है।

अनुसूया—तब बसन्त के रमणीक काल में उसके उन्मादक रूप को देखकर ······(इस प्रकार आधा कहकर लज्जा से रुक जाती है।)

राजा – आगे स्पष्ट ही है। निःसन्देह यह अप्सरा से ही उत्पन्न है।

अनुसूया—और क्या ?

राजा – ठीक है,

ऐसे रूप का होना मनुष्य-सन्तान में कैसे सम्भव हो सकता है ? कान्ति से चञ्चल ज्योति पृथ्वी से नहीं उत्पन्न होती ॥२३॥

टिप्पणी—२३वें श्लोक में श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास एवं प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। अनुष्टुप् छन्द है। विलोभन नामक मुख सन्धि का अङ्ग है। 'गुणाख्यानं विलोभनम्' (साहित्यदर्पण)

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति)

राजा—(आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः। किंतु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधीभावकातरं मे मनः।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा पुणो वि वत्तुकामो विअ अज्जो। (पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः।)

(शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति)

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नः सच्चरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम्।

प्रियंवदा—अलं विआरिअ। अणिअतणाणुओओ तवस्सिअणो णाम। (अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम)

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि।

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति सम हरिणाङ्गनाभिः॥२४

अन्वयः—*किम् अनया मदनस्य व्यापाररोधि वैखानसं व्रतम् आ प्रदानात् निषेवितव्यम्। आहो मदिरेक्षणवल्लभाभिः हरिणाङ्गनाभिः समम् अत्यन्तमेव निवत्स्यति।*

प्रियंवदा—अज्ज! धम्मचरणे वि परवसो अअं जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो। (आर्य धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः)।)

राजा—(आत्मगतम्) न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।

(शकुन्तला नीचा मुख किये खड़ी रहती है)

राजा (स्वगत) मेरी मनोकामना को अवसर मिल गया। किन्तु सखी के द्वारा मजाक में कही गई वर की अभिलाषा को सुनकर मेरा मन द्विविधा के कारण अधीर हो रहा है।

प्रियंवदा—(मुस्कराते हुए शकुन्तला को देखकर नायक की ओर मुंह करके) फिर कुछ कहते हुए से प्रतीत होते हैं।

(शकुन्तला सखि को अंगुली से भय दिखाती है)

राजा—आपने उचित ही समझा। सच्चरित के सुनने के लोभ से और भी पूछना है।

प्रियवंदा—चिन्ता मत करो। तपस्वी-जनों से बिना किसी नियन्त्रण के पूछा जा सकता है।

राजा—तुम्हारी सखी के विषय में जानना चाहता हूं कि क्या यह (शकुन्तला) दिये जाने तक मदन के व्यापार को रोकने वाले तापस व्रत का सेवन करेगी या सदा के लिये मदिर नेत्रों के कारण प्रिय हरिणियों के साथ रहेगी ?

प्रियवंदा—आर्य ! धर्माचरण में भी यह जन पराधीन है। फिर भी पिताजी का इसको योग्य वर के लिये देने का संकल्प है।

राजा—(स्वगत) यह अभिलाषा पूर्ण होनी दुष्कर नहीं है। हे हृदय ! तू

टिप्पणी—२४वें श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। वृत्यनुप्रास अलंकार है।

वैखानसम्—(वैखानस+अण्)

व्यापाररोधि (व्यापार+रुध्+णिनि)

निवत्स्यति (नि+वस्+लृट्)

भव हृदय ! साभिलाषं संप्रति संदेह निर्णयोजात: ।

आशङ्कसे यदग्नि तदिद स्पर्शक्षम् रत्नमं ।।२५।।

अन्वय:—*हृदय ! साभिलाषं भव । संप्रति संदेहनिर्णयः जातः यद् अग्निम् आशङ्कसे तद् इदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ।*

शकुन्तला—(सरोषमिव) अणसूए। गमिस्स अहं । [अनुसूये ! गमिष्यास्यहम् ।]

अनुसूया—किणिमित्तं ? [किनिमित्तम् ?]

शकुन्तला—इमं असंबद्धप्पलाविणि पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं । [इमामसंबद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।]

अनुसूया—सहि ! ण जुत्तं ते अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छंददो गमणं । [सखि ! न युक्तं तेऽकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दता गमनम् ।]

[शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्रस्थितैव]

राजा—[ग्रहीतुमिच्छन्निगृह्यात्मानम्, आत्मगतम्] अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्ति: । अहं हि,—

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसर: ।

स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुन: प्रतिनिवृत्त: ।।२६।।

अन्वय:—*मुनितनयाम् अनुयास्यन् सहसा विनयेन वारितप्रसरः स्थानात् अनच्चलन् अपि गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्तः इव ।*

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरुध्य) हला ! ण दे जुत्तं गंतुं । [हला, न ते युक्तं गन्तुम् ।]

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) किंणिमित्तं ? [किंनिमित्तम् ?]

पूर्ण मनोरथ हो। अब संदेह का निर्णय हो गया है। जिये तू अग्नि समझता था, वह यह स्पर्श करने योग्य रत्न है ॥२५॥

शकुन्तला—(क्रुद्ध सी होकर) अनुसूये ! मैं जाऊंगी।

अनुसूया—किस लिये ?

शकुन्तला—इस असंबद्ध प्रलाप करने वाली प्रियंवदा की शिकायत आर्या गोतमी से करूंगी।

अनुसूया—सखि ! सत्कार किये बिना विशेष अतिथि को छोड़कर तुम्हारा स्वच्छन्दतापूर्वक जाना उचित नहीं है।

(शकुन्तला कुछ न कहकर चलने लगती है।)

राजा—(पकड़ने की इच्छा करते हुए अपने आपको रोककर, स्वगत) अहो ! कामीजन की मनोवृत्ति चेष्टा के अनुसार ही होती है। क्योंकि मैं—

मुनि तनया के पीछे चलने को तत्पर, परन्तु तुरन्त ही विनय से रोकी गई गति वाला, स्थान से न चलते हुए भी जाकर फिर लौट सा आया हूं ।।२६॥

प्रियंवदा— शकुन्तला को रोककर सखि ! तुम्हारा जाना उचित नहीं है।

शकुन्तला—(क्रुद्ध सी होकर) किस लिये ?

टिप्पणी—२५वें श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं रूपक अलंकार है। आर्या छन्द है। 'समाधान' नामक गुण सन्धि का अंग है। इसका लक्षण है—

"बीजस्यागमनं यत्तु तद् समाधानमुच्यते"

साभिलाषम् (अभिलाषेण सह बहुव्रीहिसमासः

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार एवं आर्या छन्द है।

वारितप्रसर—वारितः प्रसरः यस्य सः (बहुव्रीहि समासः)

अनुयास्यन—(अनु+या+लृट्+शतृ)

यहां परिभावना नामक मुख सन्धि का अङ्ग है। इसका लक्षण इस प्रकार है :—

"कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्ता तु परिभावना" (साहित्यदर्पण)

प्रियंवदा—रुक्खसेअणे दुवे धारेसि मे। एहि जाव; अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि। [वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे। एहि तावत्; आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि।] इति बलादेनां निवर्तयति)

राजा—भद्रे! वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये। तथा ह्यस्याः,–

स्रस्तांसोवतिमात्रलोहिततलौ बाहु घटोत्क्षेपणा-

दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिक।

स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं

बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥२७॥

अन्वयः– घटोत्क्षेपणाद् बाहु स्रस्तांसो अतिमात्रलोहिततलौ, अद्य अपि प्रमाणाधिकः श्वासः स्तनवेपथुं जनयति, वदने कर्णशिरीषरोधि घर्माम्भसां जालकं स्रंस्तम्, बन्धे स्रंसिनि मूर्धजाः च एकहस्तयमिताः पर्याकुलाः।

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुलीयं दातुमिच्छति)

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः)

राजा—अलमस्मानन्यथा संभाव्य। राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ।

प्रियंवदा—तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। [किंचिद्विहस्य] हला सउंदले! मोइदासि अणु अंपिणा अज्जेण, अहवा महाराएण; गच्छ दाणिं। [तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। हला शकुन्तले! मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन, गच्छेदानीम्।]

प्रियंवदा— तुम पर मेरी दो वृक्षों की सिंचाई है। तो आ तो, अपने को छुड़ाकर तब जाओगी। (यह कहकर बलपूर्वक शकुन्तला को लौटा लेती है।)

राजा—भद्रे! आपको यहां वृक्ष सींचने से ही थकी हुई देख रहा हूं। क्योंकि इसकी

घड़े उठाने से दोनों भुजायें झुके हुए कन्धों वाली तथा अत्यन्त लाल हथेली वाली हैं। अब भी प्रमाण से अधिक श्वास स्तनों में कम्पन उत्पन्न कर रहा है। मुख पर कान में लगे सिरस के फूल को रोकने वाला पसीने का समूह बह गया है। और बन्धन के खुल जाने पर एक हाथ से लपेटे गये केश बिखरे हुए हैं।।२७।।

इसलिए मैं इसे ऋण-मुक्त करता हूं (यह कहकर अंगूठी देना चाहता है।)

(दोनों मुद्रा के अक्षरों को पढ़कर एक दूसरी को देखती हैं।)

राजा—हमें कुछ और न समझें। राजा की भेंट है, इसलिये मुझे राजपुरुष समझिये।

प्रियंवदा—तब यह अंगूठी अंगुली से बियोग के योग्य नहीं है। आर्य के वचन से ही यह अब ऋण-मुक्त हो गई है। (कुछ हंसकर) सखि शकुन्तले! कृपालु आर्य ने या महाराज ने तुम्हें छुड़ा दिया है, अब जाओ।

टिप्पणी—२७वें श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

स्रस्तांसौ (स्रस्तौ अंसौ ययोः तौ बहुब्रीहि समासः, स्रंस+क्त)

अतिमात्रलोहिततलौ—अतिमात्रं लोहिते तले ययोः तौ (बहुब्रीहि समास)

अङ्गुलीयकम्—(अङ्गुलौ भवम्, अङ्गुलि+छ)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) जइ अत्तणो पहविस्सं। (प्रकाशम्) का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुंधिदव्वस्स वा ? [यद्यात्मनः प्रभविष्यामि। का त्वं विसर्जितव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ?]

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य आत्मगतम्) किं नु खलु यथा वयमस्यामेवमियमप्यस्मान्प्रति स्यात्। अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना। कुतः

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसमुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥२८॥

अन्वयः—*यद्यपि मद्वचोभिः वाचं न मिश्रयति मयि भाषमाणे कर्णम् अभिमुखं ददाति। कामं मदाननसंमुखीना तिष्ठति, अस्याः दृष्टिः तु भूयिष्ठम् अन्यविषया न।*

[नेपथ्ये]

भो भो तपस्विनः। संनिहितास्तपोवन सत्त्वरक्षायै भवन्तः। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणु-
र्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः
शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु ॥२९॥

अन्वयः—*तथा हि तुरगखुरहतः परिणतारुणप्रकाशः रेणुः शलभसमूह इव विटप विषक्तजलार्द्रवल्कलेषु आश्रमद्रुमेषु पतति।*

अपि च—

शकुन्तला—(स्वगत) यदि अपने ऊपर वश रहेगा। (प्रकट में) छोड़ने वाली या रोकने वाली तुम कौन हो ?

राजा—(शकुन्तला को देखकर, मन ही मन) क्या हम जैसे इसके प्रति हैं, वैसी ही यह भी हमारे प्रति होगी। या मेरी प्रार्थना को अवसर मिल गया। क्योंकि—

यद्यपि मेरे वचनों में वचन नहीं मिला रही है, (परन्तु) मेरे बोलने पर मेरी ओर कान लगा रही है। यद्यदि मेरे मुख के सामने अधिक देर तक मुख करके स्थित नहीं है, परन्तु अधिकतर इसकी दृष्टि अन्य विषयों पर नहीं है।

(नेपथ्य में)

हे हे, तपस्वियो ! तपोवन के जीवों की रक्षा के लिये तैयार हो जाओ शिकारी राजा दुष्यन्त समीप आ गए हैं।

घोड़ों के खुरों से उड़ाई हुई धूलि, जो अस्त होते हुये सूर्य के प्रकाश के समान है पतंगों के समूह के समान (धूलि) आश्रम के वृक्षों पर, जिनकी शाखाओं पर गीले वल्कल-वस्त्र डाले गये हैं, पड़ रही है ॥२९॥

और भी—

टिप्पणी—भाषमाणे (भाष्+शानच्)

२८वें श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। वसन्ततिलका का लक्षण ८वें श्लोक की टिप्पणी के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

भूयिष्ठम् (वहु+इष्ठन्)

मदाननसंमुखीना [मदाननस्य संमुखीना, संमुख+ख (ईन)]

२९वें श्लोक में उपमालङ्कार एवं पुष्पिताग्रा छन्द है। पुष्पिताग्रा का लक्षण है—

"युजिनपुगरेफतोयकारो-युजि च न जौ जगरगाश्चपुष्पिताग्रा।"

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः

पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसंजातपाशः ।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो

धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ॥३०॥

अन्वयः—स्यन्दनालोकभीतः तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः भिन्नसारङ्गयूथः गजः नः तपसः मूर्तः विघ्नः इव धर्मारण्यं प्रविशति ।

[सर्वाः कर्णं दत्त्वा किंचिदिव संभ्रान्ताः]

राजा - (आत्मगतम्) अहो धिक् । पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति । भवतु; प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सख्यौ—अज्ज ! इमिणा आरण्णअवुत्तंतेण पज्जाउल म्ह । अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स । [आर्य ! अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः । अनुजानीहि न उटजगमनाय ।]

राजा—[ससंभ्रयम्] गच्छन्तु भवत्यः । वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे ।

[सर्वं उत्तिष्ठन्ति]

सख्यौ—अज्ज ! असंभाविदअदिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णाविदुं । [आर्य ! असंभावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जावहे आर्यं विज्ञापयितुम् ।]

राजा—मा मैवम्; दर्शनेनैवात्रभवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

[शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता]

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति । यावदनुयात्रि-

रथ को देखने से भयभीत हाथी, जिसने तीव्र आघात से वृक्षों को तोड़ दिया है, जिसका एक दांत कंधे में लगा हुआ है; पैरों से खींची गई लताओं के जाल से जिसका पाश बन गया है, जिसने हरिणों के झुण्ड को अलग-अलग कर दिया है और (जो) हमारे तप का मानो शरीरधारी विघ्न है, आश्रम में प्रवेश कर रहा है ॥३०॥

(सब ध्यान से सुनकर कुछ घबड़ाई सी होकर)

राजा—(स्वगत) ओह ! धिक्कार है। हमको खोजने वाले परिजन तपोवन को घेर रहे हैं।

दोनों सखियां—आर्य ! इस जङ्गली हाथी के समाचार से हम व्याकुल हैं। हमें कुटी में जाने की आज्ञा दें।

राजा—(घबड़ाकर आप लोग जायें। हम भी वैसा प्रयत्न करेंगे जिससे आश्रमवासियों को पीड़ा न हो।

(सब उठते हैं)

दोनों सखियां—आर्य ! अतिथि का सत्कार न कर पाने पर, फिर दर्शन देने के लिए निवेदन करते हुए हमें लज्जा का अनुभव हो रहा है।

राजा—नहीं, ऐसा नहीं। मैं तो आपके दर्शन से ही पुरस्कृत हुआ हूँ।

(शकुन्तला बहाने से विलम्ब करके राजा को देखती हुई दोनों सखियों के साथ निकल जाती है।)

राजा—नगर को जाने की मेरी उत्सुकता मन्द हो गई है। तो अब अनुया-

---

टिप्पणी—३०वें श्लोक में उत्प्रेक्षा एवं अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। मन्दाक्रान्ता छन्द है। मन्दाक्रान्ता का लक्षण है—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्''

तीव्रा०—तीव्रेण आघातेन प्रतिहतस्य तरोः स्कंधेलग्नः एकदन्तः यस्य सः, आघात (आ+हन्+घञ्)

प्रतिहत—(प्रति+हन्+क्त)

पादा०—(पादाभ्याम् आकृष्टस्य व्रततीनाम् वलयस्य आ सङ्गेन सञ्जातः पाशः यस्य सः) आसङ्ग (आ+सञ्ज्+घञ्) मूर्त्तः (मूर्च्छ+क्त)

पौराः (पुर+अण्)

आरण्यकवृत्तान्तेन, आरण्यकस्य वृत्तान्तेन, तत्पुरुष समासः) अरण्ये भवः, अरण्य+वुञ्

कान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि,—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥३१॥

अन्वयः—*शरीरं पुरः गच्छति, असंस्तुतं चेतः प्रतिवातं नीयमानस्य केतोः चीनांशुकमिव पश्चात् धावति ।*

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः ।

यियों के पास जाकर तपोवन के पास ही ठहरता हूं। मैं अपने आपको शकुन्तला के व्यापार से रोकने में समर्थ नहीं हूं। क्योंकि—

(मेरा) शरीर आगे को चलता है, (परन्तु) चीनी रेशमी वस्त्र की वायु-चालित रेशमी ध्वजा के समान अपरिचित सा मन पीछे की ओर जाता है ॥३१॥

(सब निकल जाते हैं।)

प्रथम अंक समाप्त।

टिप्पणी—अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा एवं उपमा अलङ्कार हैं। आर्या छन्द है।

नीयमानस्य (नी+शानच्)

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

विदूषकः—(निःश्वस्य) भो दिट्ठं। एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विणो म्हि। अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिंडीअदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआइं कडुआइं गिरिणईजलाइं पीअंति। अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइट्ठो आहारो अण्ही अदि। तुरगाणुधावणकडिदसंधिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि। तदो महंते एव्व पच्चूसे दासीए-पुत्तेहिं सउणि लुद्धएहिं वणग्गहणकोलाहलेण पडिबोधिदो म्हि। एत्ताएण दाणिं-वि पीडा ण णिक्कमदि। तदो गंडस्य उवरि पिण्डओ संवुत्तो हिओ किल अम्हेसु ओहीणेसु तत्ताहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउंदला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करेदि। अज्ज वि से तं एव्व चिंतअंतस्स अक्खीसु पभादं आसि। का गदी जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खामि। (इति परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणसणहत्थाहिं जवणीहिं वणुपप्फमालाधारिणीहिं पडिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। होदु; अंगभंगविअलो विअ भविअ चिट्ठिस्सं। जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं। (भो ! दृष्टम् ! एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि। अयं मृगोऽयं वाराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्डचतेऽटवीतोऽटवी। पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो

द्वितीय अङ्क

(इसके पश्चात् खिन्न विदूषक प्रवेश करता है।)

विदूषक—(गम्भीर सांस लेकर) अरे ! देख लिया। शिकार के व्यसनी इस राजा की मैत्री से मैं दुखी हूँ। यह मृग है, यह सुअर है, यह सिंह है, इस प्रकार करते हुए दोपहर में भी एक वन से दूसरे वन में, जिनमें ग्रीष्म ऋतु के कारण वृक्षों की छाया विरल है, ऐसे वन की पंक्तियों में घूमना पड़ता है। पत्रों के मिल जाने के कारण, पहाड़ी नदियों का कसैला और कडुवा जल पीना पड़ता है। अनिश्चित समय पर भोजन करना पड़ता है, जिसमें अधिकतर शूल पर भुना हुआ मांस ही होता है। घोड़े के पीछे चलने के कारण शिथिल जोड़ों वाले मुझे रात्रि में भी पर्याप्त सोना नहीं मिलता। इस पर भी बहुत सवेरे ही दासी के पुत्र व्याधों ने वन को घेरने के कोलाहल से मुझे जगा दिया। इतने से ही अभी पीड़ा दूर नहीं हुई है। अब यह फोड़े पर फुंसी हो गई है। कल हम लोगों के पीछे रह जाने पर मृग के पीछे दौड़ने वाले महाराज के आश्रम में प्रवेश करने पर हमारे दुर्भाग्य ने उन्हें तपस्वी-कन्या का दर्शन करा दिया। अब तो नगर को चलने का किसी प्रकार भी मन नहीं करता। आज भी उसी का चिन्तन करते हुए, उनकी आंखों में प्रभात हुआ। क्या उपाय है ? तो अब दैनिक कृत्य को समाप्त

टिप्पणी—विदूषकः—हास्यपात्र है। विदूषक नायक का प्रेम-पात्र होता है एवं प्रेम-सम्बन्धी कार्यों में नायक का सहायक होता है। यह विकृताङ्ग, वचन एवं वेष के द्वारा हास्य उत्पन्न करता है। विदूषक का लक्षण है—

"विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः"

निर्विण्णः (निर्+विद्+क्त)

भुज्यते । तुरगानुधावनकण्डितसंधे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति । ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्या: पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहण-कोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति । ततो गण्डस्योपरि पिटक: संवृत्त: । ह्यः किलास्मास्ववहीनेषु तत्रभ-वतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता । सांप्रतं नगरगमनस्य मन: कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णो: प्रभातमासीत् । का गति ? यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि । एष बाणासनहस्ताभि-र्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभी: परिवृत इत एवागच्छति प्रिय-वयस्य: । भवतु; अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येव-मपि नाम विश्रामं लभेय ।) (इतिदण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थित:)

(तत: प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा)

राजा—(आत्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ।।१।।

अन्वय—*कामं प्रिया सुलभा न, मनः तु तद्भावदर्शनायासि । मनसिजे अकृतार्थे अपि उभयप्रार्थना रतिं कुरुते ।*

(स्मितं कृत्वा) **एवामात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तवृत्ति: प्रार्थ-यिता विडम्ब्यते ।**

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेषयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ।।२।।

अन्वय:—*यत् अन्यतः अपि नयने प्रेषयन्त्या तया स्निग्धं विक्षितम्, यत्*

करने वाले (राजा) का दर्शन करलें। (घूमकर और देखकर) धनुष को हाथ में लिये हुये और वन-पुष्पमालाओं को हाथ में धारण किये हुए यवन स्त्रियों से घिरे हुए यह प्रिय मित्र इधर ही आ रहे हैं। ठीक है, अंगभंग से विकल सा होकर रहूँगा। सम्भव है, ऐसे ही विश्राम पा जाऊं।

(यह कहकर दण्ड का अवलम्बन करके स्थित रहता है।)

(इसके पश्चात् यथोक्त सेवकों के सहित राजा प्रवेश करता है।)

राजा—(स्वगत)

यद्यपि प्रिया आसानी से प्राप्य नहीं है, फिर भी मन उसके भाव को देखने के लिये व्याकुल है। कामदेव के अकृतार्थ होने पर भी दोनों की अभिलाषा आनन्द उत्पन्न कर रही है ॥१॥

(मुस्कराकर) इस प्रकार अपने अभिप्राय के अनुसार प्रियजन की चित्तवृत्ति की सम्भावना करने वाले को अपमानित होना पड़ता है।

जो उस (शकुन्तला) ने नयनों को दूसरी ओर लगाते हुए भी स्नेहपूर्वक देखा, जो वह कटि के भारी होने के कारण, जैसे विलास से मन्द-मन्द चल रही थी और जिसने मत जाओ, इस प्रकार कहकर रोकी जाने पर उस सखी से ईर्ष्या-

---

टिप्पणी—प्रत्यूषे—(प्रति+ऊष्+क)

अवहीनेषु (अव+हा+क्त)

अर्थान्तरन्यास एवं विरोधाभास अलङ्कार हैं। आर्या छंद है।

मनसिजे (मनसि+जन्+ड)

उभयप्रार्थना (उभयोः प्रार्थना, तत्पुरुष समासः)

द्वितीय श्लोक में अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति अलङ्कार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

स्निग्धम् (स्निह्+क्त)

मत्परायणम् (अहम् एव परम् अयनम् आश्रयः यस्य तद्)

च नितम्बयोः गुरुतया विलासादिव मन्दं यातम्, यद् अपि मा गाः इति उपरुद्धया सा सखी सासूयम् वक्ता, तत् सर्वम् मत्परायणम् किल। अहो कामी स्वतां पश्यति।

विदूषक:—(तथा स्थित एव) भो वअस्स ! ण मे हत्थपाआ पसरंति । वाआमेत्तएण जीआवइस्सं । (भो वयस्य ! न मे हस्त-पादं प्रसरति । वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि ।)

राजा—(सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः ?

विदूषक:—कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ? (कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ?)

राजा—न खल्ववगच्छामि ?

विदूषक:—भो वअस्स ! जं वेदसो खुज्जलीलं विडबेदि तं किं अत्तणो पहावेण णं णईवेअस्स ? (भो वयस्य ! येद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति, तत्किमात्मनः प्रभावेण ननु नदीवेगस्य ?)

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

विदूषक:—मम वि भवं । (ममापि भवान् ।)

राजा—कथमिव ?

विदूषक:—एव्व राअकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आउलप्पदेसे वणचुरवुत्तिणा तुए होदव्वं । जं सच्चं पच्चहं सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबंधाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो । ता पसादइस्सं विसज्जिदुं मं एक्काहं वि दाव विस्समिदुं । (एवं राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशआकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया

पूर्वक चिढ़कर कहा, वह सब निश्चय ही मुझे लक्षित कर रहा था। अहो! कामी अपने ही भाव को देखता है ॥२॥

विदूषक—(उसी प्रकार बैठे हुए ही) हे मित्र! मेरे हाथ पैर नहीं फैलते। वाणी मात्र से ही मैं जयकार करूंगा।

राजा—(मुस्कराते हुए) यह अङ्ग-भङ्ग कैसे हो गया?

विदूषक—स्वयं नेत्रों को आकुल करके अश्रुओं का कारण पूछते हो।

राजा—मैं निश्चय ही नहीं समझ सकता।

विदूषक—हे मित्र! बेंत जो कुब्जेपन का अनुकरण करता है, वह क्या अपने प्रभाव से या नदी के वेग के कारण?

राजा—नदी का वेग ही उसमें कारण है।

विदूषक—मेरे भी आप कारण हैं।

राजा—किस प्रकार?

विदूषक—इस प्रकार राज-कार्यों को त्यागकर ऐसे आकुल प्रदेश में वनचर वृत्ति करने वाले बन गए हो। यह सत्य है कि प्रति दिन बनैले जन्तुओं के उत्सारण से मेरे सन्धि संस्थानों के समस्त बन्धन शिथिल हो गये हैं, इस लिए विवश हो गया

टिप्पणी—कुतः—किम्+तसिल

भवितव्यम्—भू+तव्यत्

भवितव्यम् । यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसंधिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः । तत्प्रसादयिस्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम् ।)

राजा—(स्वगतम्) अयं चैवमाह । ममापि काश्यपसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः । कुतः ?

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥३॥

अन्वयः—*अधिज्यम् आहितसायकम् इदं धनुः मृगेषु नमयितुं न शक्तः अस्मि, यैः सहवसतिम् उपेत्य प्रियायाः मुग्धविलोकितोपदेशः कृतः इव ।*

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मंतेदि । अरण्णे मए रुदिअं आसि । (अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।)

राजा—(सस्मितम्) किमन्यत् ? अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

विदूषकः—चिरं जीअ । (चिरं जीव ।) इति गन्तुमिच्छति ।)

राजा—वयस्य, तिष्ठ । सावशेषं मे वचः ।

विदूषकः—आणवेदु भवं । (आज्ञापयतु भवान् ।)

राजा—विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।

विदूषकः—किं मोदअखण्डिआए ? तेण हि अअं सुगहीदो खणो । (किं मोदकखण्डिकायाम् ? तेण हि-अयं सुगृहीतः क्षणः ।)

हूं। अत: एक दिन के लिये मुझे भी विश्राम करने को छोड़ दें, यह आपसे प्रार्थना है।

राजा– (मन ही मन) इसने इस प्रकार कहा और मेरा भी मन काश्यप-सुता (शकुन्तला) का स्मरण करने के कारण शिकार से हट सा गया है। क्योंकि—

जिस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ी है और बाण भी चढ़ा है ऐसे धनुष को उन हरिणों पर चढ़ाने में असमर्थ हूं, जिन मृगों ने सहवास जन्य मैत्री प्राप्त करके शकुन्तला को स्वभाव सुन्दर अवलोकन का उपदेश सा प्रदान किया है।

विदूषक—(राजा के मुख की ओर देखकर) आप हृदय में कुछ सोच रहे है। मैंने अरण्यरोदन नहीं किया।

राजा (मुस्कराते हुए, और क्या? मित्र-वाक्य मेरे लिए अनुल्लंघनीय है, इसीलिये खड़ा हूं।

विदूषक—चिरकाल तक जीवित रहो।

राजा—मित्र! बैठो, मेरी बात अभी शेष है।

विदूषक—आप आज्ञा दें।

राजा—विश्राम किये हुए आप मेरे भी एक सरल कार्य में सहायक बनें।

विदूषक– क्या लड्डू तोड़ने के कार्य में? तब तो यह समय बहुत अच्छा है।

टिप्पणी—तृतीय श्लोक में पुष्पिताग्रा छंद है। काव्यलिंग एवं उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

अनु+स्मृ+क्त्वा+ल्यप् (अनुस्मृत्य) मुग्ध (मुह+क्त)

उप+इ+क्त्वा+ल्यप् (उपेत्य) प्रियायाः (प्रीणाति, इति प्री+क्त)

अधिज्यम् (अधिगताज्या यस्मिन् तद्) बहुब्रीहि समास

राजा—यत्र वक्ष्यामि । कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

दौवारिकः—(प्रणम्य) आणवेदु भट्टा । (आज्ञापयतु भर्ता ।)

राजा—रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।

दौवारिकः—तह । (तथा ।) (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) एसो अण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि । उवसप्पदु अज्जो । (एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।)

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता । तथा हि देवः

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥४॥

अन्वयः - *गिरिचरः, नागः, इव, अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं, रविकिरणसहिष्णु, स्वेदलेशैरभिन्नम्, अपचितमपि, व्यायतत्वाद् अलक्ष्यं, प्राणसारं, गात्रं बिभर्ति ।*

(उपेत्य) जयतु स्वामी । गृहीतश्वापदमरण्यम् । किमन्यत्रावस्थीयते ?

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव । अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये । (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधवेयः । ननु प्रभुरेवात्र निदर्शनम् ।

राजा—जिसमें कहूं। और यहां कौन है?

(प्रवेश करके)

दौवारिक—(प्रणाम करके) स्वामी आज्ञा दें।

राजा—रैवतक! सेनापति को तो बुलाओ।

दौवारिक—ठीक है। (इस प्रकार बाहर जाकर सेनापति के साथ फिर प्रवेश करके) यह आज्ञा देने के लिए स्वामी इधर ही दृष्टि लगाए बैठे हैं। आर्य समीप जायें।

सेनापति—(राजा को देखकर) जिसके दोष देखे गये हैं, ऐसी मृगया भी स्वामी में केवल गुण ही हो गई है। क्योंकि महाराज—

आप पर्वत पर भ्रमण करने वाले हाथी के समान शक्तिशाली शरीर को धारण कर रहे हो, जिसका आगे का भाग निरन्तर धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ से कठोर हो गया है, जो सूर्य की किरणों को सहन कर सकता है, जो पसीने के कणों से सर्वथा अव्याप्त है और जो क्षीण होने पर भी विशालता के कारण वैसा लक्षित नहीं होता है।

(पास जाकर) स्वामी की जय हो। जंगल के जानवर पकड़ लिये गये हैं। तो अन्यत्र क्यों खड़े हैं?

राजा—शिकार की निन्दा करने वाले माढव्य ने मुझे हतोत्साह कर दिया है।

सेनापति—(चुपके से) मित्र! अपने विरोध पर दृढ़ रहो। मैं तो स्वामी की इच्छा का ही अनुसरण करूंगा। (प्रकट रूप से) यह विधवा का पुत्र बकता रहे। इस विषय में स्वामी ही उदाहरण हैं।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ?॥५॥

अन्वयः—*वपुः मेदश्छेदकृशोदरं लघु उत्थानयोग्यं भवति । सत्त्वानाम् अपि भयक्रोधयोः विकृतिमत् चित्तं लक्ष्यते । यत् च इषवः चले लक्ष्ये सिध्यन्ति सः धन्विनाम् उत्कर्षः मृगया मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति, ईदृग् विनोदः कुतः ॥*

विदूषकः—अतभवं पकिदिं आपण्णो । तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि । (अत्रभवान्प्रकृतिमापन्नः । त्वं तावदटवीतोऽटवा-माहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि ।)

राजा—भद्र सेनापते, आश्रमसंनिकृष्टे स्थिताः स्मः अतस्ते वचो नाभिनन्दामि । अद्य तावत्

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥६॥

अन्वयः—*महिषाः शृंगैः मुहुः ताडितं निपानसलिलं गाहन्ताम्, मृगकुलं छायाबद्धकदम्बकं (सत्) रोमन्थम् अभ्यस्तु । वराहपतिभिः विश्रब्धं पल्वले मुस्ताक्षतिः क्रियताम् इदं अस्मद्धनुः च शिथिलज्याबन्धं (सत्) विश्रामं लभताम् ।*

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः । यथा न मे सैनिकास्तपोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्या । पश्य,—

शरीर चर्बी हटने से कृश उदर वाला, हल्का तथा उद्योग योग्य हो जाता है। जन्तुओं का भय और क्रोध में विकारयुक्त चित्त देखा जाता है और जो चलते-फिरते लक्ष्य पर बाण साधते हैं, वह धनुर्धारियों का उत्कर्ष है। शिकार को व्यर्थ ही व्यसन कहते हैं। ऐसा विनोद अन्यत्र कहां है ॥५॥

विदूषक—आदरणीय तो अपने स्वभाव को प्राप्त हो गए हैं। किन्तु तू अवश्य ही एक जङ्गल से दूसरे जङ्गल में घूमता हुआ मनुष्य की नासिका के लोभी किसी बूढ़े रीछ के मुख में पड़ेगा।

राजा—भद्र सेनापते ! हम आश्रम के समीप में ठहरे हुये हैं। इसलिये तुम्हारे वचन का अभिनन्दन नहीं करता। आज तो—

भैंसे सींगों से बार-बार मथे हुए जलाशय के जल में स्नान करें। मृगवृन्द छाया में मण्डल बनाकर जुगाली का अभ्यास करें। बड़े-बड़े सूअर निर्भय होकर तलैयों में मोथा उखाड़ें और हमारा यह धनुष जिसकी डोरी से बन्धन शिथिल कर दिये गये हैं, विश्राम प्राप्त करे ॥६॥

सेनापति—जो स्वामी को अच्छा लगे।

राजा—तो फिर बन घेरने वाले आगे गये हैं, उन्हें लौटा लो। मेरे सैनिक जिससे तपोवन को पीड़ित न करें वैसा उनसे मना कर दो।

टिप्पणी—चतुर्थ श्लोक में उपमा अलङ्कार एव मालिनी छन्द है।

रविकिरणसहिष्णु रवेः किरणानाम् सहिष्णुः तत्पुरुष समास सह्+इष्णुच्

मेदसां वसानां छेदेन क्षयेण कृश क्षीणमुदरं यस्य तत् (बहुव्रीहि समास) पञ्चम श्लोक में समुच्चय एवं काव्यलिंग अलंकार हैं और शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

वैधेयः—अनुशासन या शिक्षा के योग्य विधेय+अण्)

उत्थानयोग्यम्—उत्थानस्य योग्यम्, तत्पुरुष समास—उत्थान=उत्+स्था+ल्युट्

धन्विनाम्—(धन्व+इनि)

षष्ठ श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार और शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

शिथिलज्याबन्धम्—(शिथिलः ज्यायाः बन्धः यस्मिन् तत्, बहुव्रीहि समास।

शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता-
स्तदन्यतेजोभिभवाद्वमन्ति ॥७॥

अन्वयः—शम प्रधानेषु तपोधनेषु हि दाहात्मकं तेजः गूढम् अस्ति । स्पर्शानुकूलाः सूर्यकान्ताः इव (ते) अन्य तेजोभिभवात् तद् वमन्ति ।

सेनापतिः यदाज्ञापयति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे गच्छाहवुत्तंतो । (ध्वसतां त उत्साहवृत्तान्तः ।)

(निष्क्रान्तः सेनापतिः)

राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवत्यो मृगयावेशम् । रैवतक त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु: ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं । संपदं एदस्सि पादवच्छाआए विरइददाविदाणसनाथे सिलाअले णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणो होमि । (कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतमेतस्मिन्* पादपच्छायाविरचितवितानसनाथे सिलातले मिषीदतु भवान्, यावदहमपिसुखासीनो भवामि ।)

राजा—गच्छाग्रतः ।

विदूषकः—एदु भवं । (एतु भवान् ।)

(इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ)

राजा—माढव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

शान्तिप्रधान तपस्वियों में एक प्रकार का दाहात्मक गूढ़ तेज होता है। स्पर्श-योग्य सूर्यकान्त मणियों की तरह किसी तेज से अभिभूत होने पर वे (तपस्वी) उस तेज को प्रकट करने लगते हैं ।।७।

सेनापति—स्वामी की जैसी आज्ञा।

विदूषक—तुम्हारी उत्साहवर्धक बातें नष्ट हों।

(सेनापति जाता है)

राजा—(सेवक-वर्ग को देखकर) आप लोग शिकार के वेश को उतार दें। रैवतक ! तुम भी अपने स्थान पर उपस्थित हो जाओ

परिजन—महाराज जो आज्ञा दें।

(इस प्रकार परिजन-वर्ग चला जाता है)

विदूषक—आपने अत्यन्त एकान्त कर दिया। अब आप वृक्ष की छाया से निर्मित वितान युक्त इस शिलापट्ट पर बैठें, तब तक मैं भी सुखासीन हो जाऊं।

राजा—आगे चलो।

विदूषक—आप आयें।

(इस प्रकार दोनों घूमकर बैठ जाते हैं।)

राजा—माढव्य ! तुम्हें चक्षुओं का फल न मिला। क्योंकि तुमने दर्शनीय वस्तु को नहीं देखा।

टिप्पणी—७वें श्लोक में श्लेष उपमा, अनुमान और काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। उपजाति छन्द है। उपजाति का लक्षण है—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। } दोनों को मिलाकर उपजाति होता है।
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।। }

अन्यतेजोभिभवात् (अन्यस्य तेजसा यः अभिभवः तस्माद्, अभि+भू+अप् भावे, अभिभवः।)

विलोक्य (वि+लोक+क्त्वा+ल्यप्)

निर्मक्षिकम (मक्षिकाणाम् अभावः, अव्ययीभाव समास)

* निर्णयसागर का पाठ इस प्रकार है—

एतस्यां पादपच्छायायां विरचित लतावितान दर्शनीया यामासने (० च्छाआए विरइदलदा विदाण दंसणीआए आसणे इस वृक्ष की छाया में वनलता रूपी शामियाने से दर्शनीय आसन पर)।

दर्शनीयम् (दृश्+अनीयर्)

विदूषकः—णं भवं अग्गदो मे वट्टदि । (ननु भवानग्रतो मे वर्तते ।)

राजा—सर्वः खलु कान्तमात्मीयं पश्यति । तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

विदूषकः—(स्वगतम्) होदु । से अवसरं ण दाइस्सं । (प्रकाशम्) भो वअस्स, ते तावसकणआ अब्भत्थणीआ दीसदि । (भवतु; अस्यावसरं न दास्ये । भो वयस्य ! ते तापसकन्यकाभ्यर्थनीया दृश्यते ।)

राजा—सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

सुरयुवतिसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥८॥

अन्वयः—*शिथिलम् अर्कस्य उपरिच्युतं नवमालिका कुसुमम् इव सुरयुवति संभवं तत् उज्झिताधिगतं मुनेः अपत्यं किल ।*

विदूषकः—(विहस्य) जह कस्स वि पिंडखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिंतिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा । (यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना ।)

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषकः—तं क्खु रमणिज्जं जं भवदो वि विम्हअं उप्पादेदि । (तत्खलु रमणीयं यद्भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति ।)

राजा—वयस्य, किं बहुना,—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।

विदूषक - आप मेरे सामने तो हैं।

राजा अपनी वस्तु को तो सभी सुन्दर समझते हैं। मैं आश्रम की शोभा शकुन्तला के विषय में कह रहा हूँ।

विदूषक— स्वगत) ठीक है, तो इसे अवसर ही न दूंगा। हे मित्र ! तुम्हें तपस्वि-कन्या प्रार्थनीय दिखाई पड़ती है।

राजा—मित्र ! परित्याज्य वस्तु पर पौरवों (पुरुवंशियों) का मन नहीं चलता।

शिथिल होकर आक के पेड़ पर गिरे हुए चमेली के फूल की तरह अप्सरा से उत्पन्न हुई वह कन्या (अप्सरा द्वारा) छोड़ दी जाने पर प्राप्त की गई मुनि की संतान कहलाई जाती है ॥८॥

विदूषक—(हंसकर जिस प्रकार कि पिण्डखजूरों से ऊबे हुए व्यक्ति की इमली में अभिलाषा हो उसी प्रकार स्त्री-रत्नों का उपयोग करने वाले आपकी यह कामना है।

राजा—तुमने उसे नहीं देखा, इसीलिये तुम ऐसा कहते हो।

विदूषक—तब निश्चय ही वह रमणीय, जो आपको भी आश्चर्य उत्पन्न कर रही है।

राजा—मित्र ! अधिक क्या,—

विधाता ने या तो चित्र में अंकित करके प्राणों का योग किया है या मन

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में आख्यान नामक नाटकीय अलङ्कार है।

"आख्यानं पूर्व वृत्तोक्तिः" साहित्यदर्पण)

अष्टम् श्लोक में उपमा अलङ्कार एव आर्या छन्द है। सुरयुवतिः सम्भवः उत्पत्तिस्थानम् यस्य तत् सुरयुवतिसम्भवम् यु+न+ति=युवति (यूनस्तिः)

स्त्रीरत्न परिभाविनः – स्त्रीषु रत्नं श्रेष्ठं तद् परि भवतीति स्त्रीरत्न परिभावी तस्य – भूधातोर्णिनि प्रत्ययः।

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥९॥

अन्वयः— विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा नु ? मनसा रूपोच्चयेन कृता नु ? धातुः विभुत्वं तस्या वपुः च अनुचिन्त्य मे सा अपरा स्त्रीरत्नं सृष्टि प्रतिभाति ।

विदूषकः—जइ एव्वं पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं । (यद्येवं प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम् ।)

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते,—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलून कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

अन्वयः – अनघ तद् रूपम् अनाघ्रातं पुष्पम् , कररुहैः, अलूनं किसलयम् अनाविद्धं रत्नम् अनास्वादितरसं नवमधु, पुण्यानां अखण्डं फलम् इव च अस्ति) न जाने विधिः इह कं भोक्तारं समुपस्थास्यति ।

विदूषकः—तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं । मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्लमिस्सचिक्कणसीस्सस्स हत्थे पडिस्सदि । (तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान् । मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैल मिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति ।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च संनिहितोऽत्र गुरुजनः ।

विदूषकः—अत्तभवंतं अंतरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ ? (अत्रभवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः ?)

राजा—निसर्गादेवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः । तथापि तु,—

द्वारा रूप-राशि से बनाया है। विधाता के सामर्थ्य और शरीर का विचार करके वह मुझे विधाता की दूसरी स्त्रीरूपी रत्न की सृष्टि प्रतीत होती है ॥९॥

विदूषक यदि ऐसा है तो उसने रूपवती स्त्रियों को पराजित कर दिया है।

राजा और मेरे मन में यह है,—

उसका (शकुन्तला का) अनिन्द्य सौंदर्य न सूंघे गए पुष्प; नखों से न छेदे गए किसलय, न बींधे गए रत्न, अनास्वादित रसवाले नए मधु शहद तथा पुण्यों के अखण्ड फल के समान है। पता नहीं विधाता किसे उसका उपभोक्ता बनाएगा?

विदूषक—तो शीघ्र ही आप इसकी रक्षा करें। कहीं इङ्गुदी का तेल लगाने से चिकने सिर वाले किसी तपस्वी के हाथ में न पड़ जाय।

राजा—वह तो पराधीन है और उसके पिता यहां पर उपस्थित नहीं हैं।

विदूषक—आपके लिये उसका दृष्टि-राग कैसा है?

राजा—तपस्वि-कन्यायें स्वभाव से ही लज्जाशील होती हैं। परन्तु फिर भी—

टिप्पणी नवम् श्लोक में सन्देह, अतिशयोक्ति एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

विभुत्वम् (विभु + त्वल्)

निवेश्य (नि + विश् + णिच् + क्त्वा + ल्यप्)

परिकल्पितसत्त्वयोगा (परिकल्पितः दत्तः सत्त्वस्य जीवनस्य योगः सञ्चारः यस्यां सा, बहुव्रीहि समासः।

१० वें श्लोक में मालोपमा तथा परिकर अलङ्कार हैं एवं छन्द शिखरिणी है।

अनाघ्रातम्—(आ + घ्रा + क्त, आघ्रातम्, न आघ्रातम्)

अलूनम् (न लूनम् अलूनम्, लू + क्त)

अनाविद्धम् (आ + व्यध + क्त, आविद्धम्, अनाविद्धम्)

कररुहै (करे रोहन्ति, इति कररुहा, कर + रुह + क्त कर्त्तरि, तृ० वि०)

अनास्वादित रसम् (न आस्वादितः रसः यस्य तद्, आ + स्वद् + णिच् + क्त, —आस्वादितः)

परवती परः स्वामी अस्य अस्ति, इति परवती मतुप् प्रत्ययः।

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणं
हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥११॥

अन्वयः—मयि अभिमुखे ईक्षणं संहृतम्, अन्यनिमित्तकृतोदयं हसितम् अतः तया विनयवारितवृत्तिः मदनः न विवृतः, न च संवृतः ।

विदूषकः—ण खु दिट्ठमेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि । (न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति ।

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या । तथा हि,—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥१२॥

अन्वयः— तन्वी कतिचित् एव पदानि गत्वा दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षतः इति अकाण्डे स्थिता । द्रुमाणां शाखासु च अलग्नम् अपि वल्कलं विमोचयन्ती विवृत्तवदना च आसीत् ।

विदूषकः—तेण हि गहीदपाहेओ होहि । किदं तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खामि । (तेन हि गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।)

राजा—सखे तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि । चिन्तय तावत् केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः ।

विदूषकः—को अवरो अवदेसो तुम राआणं ? णीवारछट्ठभाअं अम्हाणं उवहरंतु त्ति । (कोऽपरोऽपदेशस्तव राज्ञः ? नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति ।)

मेरे सामने रहने पर वह नेत्र घुमा लेती थी। अन्य बहाने से हंस भी देती थी। अधिक विनयशीला होने के कारण जिसके व्यापार को रोक दिया गया था, ऐसे काम को न उसने प्रकट ही किया और न छिपाया ही।

विदूषक—देखते ही तुम्हारे अङ्क में न बैठ गई।

राजा परस्पर बिदाई लेने पर फिर उसने शालीनता से अपना भाव पर्याप्त रूप से प्रकट किया था। क्योंकि—

कृशाङ्गी (शकुन्तला) कुछ ही पग चलकर 'कुश के अंकुर से पैर घायल हो गया' यह कहकर अनवसर पर रुक गई। वृक्षों की शाखाओं में न लगे हुए भी वल्कल को छुड़ाती हुई (मेरी तरफ) मुख घुमा रही थी।

विदूषक—तब पाथेय ग्रहण कर लीजिये। मैं देखता हूं कि आपने तपोवन को उपवन बना दिया है।

राजा—मित्र! कुछ तपस्वियों के द्वारा पहिचान लिया गया हूँ। अब विचार करो किस कि बहाने से एक बार भी आश्रम में निवास करें।

विदूषक—आप राजा के लिये दूसरा बहाना क्या? हमें नीवार का षष्ठ भाग चाहिये, ऐसा कहें।

टिप्पणा—११वें श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार एवं द्रुतविलम्बित छन्द है। द्रुतविलम्बित का लक्षण इस प्रकार है—

'द्रुतविलम्बितमाह न भौ भरौ''

अभिमुखे (अभिगतम् मुखम् अस्य, अभिमुखः बहुब्रीहि समासः, तस्मिन्)

विनयवारितवृत्तिः (विनयेन+वारिता वृत्तिः यस्य, सः, बहुब्रीहि समासः, विनयः (वि+नी+अच्, भावे, वारिता (वृ+णिच्+क्त कर्मणि)

१२वें श्लोक में विरोधाभास एवं हेतु नामक अलङ्कार हैं। इस श्लोक का छन्द वसन्ततिलका है।

तन्वी (तनु+ङीष्)

विमोचयन्ती (वि+मुच्+णिच्+शतृ)

कतिचित् (किम्+इति=कति+चित्, चित् अव्यय है)

गृहीतपाथेयः (गृहीतं पाथेयं येन सः, - बहुब्रीहि समास)

पाथेयम् (पथि साधु, पथिन्+ढञ्)

राजा—मूर्ख ! अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति, यद्रत्न-राशीनपि विहायाभिनन्द्यम् । पश्य,—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो: नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।

तप: षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि न: ॥१३॥

अन्वय:—नृपाणाम् वर्णेभ्य: यत् फलं उत्तिष्ठति तत् क्षयि । आरण्यका: हि न: अक्षय्यं तप: षड्भागं ददति ।

(नेपथ्ये)

हन्त, सिद्धार्थौ स्व: ।

राजा—(कर्णं दत्वा) अये ! धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवि-तव्यम् ।

(प्रविश्य)

दौवारिक:—जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहार-भूमिं उवट्ठिदा । (जयतु भर्ता । एतौ द्वौ ऋषिकुमारकौ: प्रति-हारभूमिमुपस्थितौ ।)

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिक:—एसो पवेसेमि । (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) इदो इदो भवंतो । (एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ ।)

(उभौ राजानं विलोकयत:)

प्रथम:—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयतास्य वपुष: । अथवोपपन्नमेतदृषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि । कुत:,—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये

रक्षायोगादयमपि तप: प्रत्यहं संचिनोति ।

राजा—मूर्ख ! इनकी (तपस्वियों की) रक्षा के बदले में तो हमें दूसरा ही भाग (कर रूप) प्राप्त होता है, जो रत्नराशि को भी छोड़कर स्वीकार करने योग्य है। देखो—

सामान्य प्रजा से जो कर मिलता है, राजाओं का फल क्षणयशील होता है। परंतु आरण्यक (वन में रहने वाले) तपस्वी अपनी तपस्या का अक्षय षष्ठ भाग देते हैं ॥१३॥

(नेपथ्य में)

अच्छा हुआ, हम दोनों का प्रयोजन सिद्ध हो गया।

राजा—(कान लगाकर, अरे ! (ये) धीर एवं प्रशांत स्वर वाले तपस्वी होने चाहियें।

(प्रवेश करके)

दौवारिक—महाराज की जय हो। ये दो ऋषि-कुमार द्वार-भूमि पर उपस्थित हैं।

राजा तो उन्हें शीघ्र अन्दर प्रवेश कराओ।

दौवारिक—यह लाता हूं। (इस प्रकार निकलकर और दोनों ऋषि-कुमारों के साथ प्रवेश करके) इधर, आप लोग इधर आयें।

(दोनों राजा को देखते हैं।)

पहला—ओह तेजस्वी होते हुए भी इसका शरीर विश्वसनीय है। या जो ऋषियों से उत्पन्न भिन्न नहीं होता है, ऐसे राजा में यह उचित ही है। क्योंकि—

यह भी सर्वभोग्य आश्रम (गृहस्थाश्रम) में वास करता है प्रजा की रक्षा

टिप्पणी—१३वें श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है।

आरण्यकाः—अरण्ये भवाः, अरण्य + वुञ्

अविलम्बितम्—विलम्बितम् विलम्बः, क्त प्रत्ययः अविद्यमानम् विलम्बितम् यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा बहुव्रीहि समासः)

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ॥१४॥

अन्वयः *अमुना अपि सर्वभोग्ये आश्रमे वसतिः अध्याक्रान्ता, रक्षायोगात् अयम् अपि प्रत्यहं तपः संचिनोति । अस्य वशिनः अपि चारणद्वन्द्वगीतः केवलं राजपूर्वः मुनि इति पुण्यः शब्दः मुहुः द्यां स्पृशति ।*

द्वितीयः—गौतम ! अयं स वलभित्सखो दुष्यन्तः ।

प्रथमः—अथ किम् ?

द्वितीयः—तेन हि,—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

अन्वयः *यद् नगरपरिघप्रांशुबाहुः अयम् एकः उदधिश्यामसीमां कृत्स्नां धरित्रीं भुनक्ति, एतत् न चित्रम् । हि दैत्यैः बद्धवैराः सुरयुवतयः अस्य अधिज्ये धनुषि पौरुहूते वज्रे च विजयम् आशंसन्ते ।*

उभौ—(उपगम्य) विजयस्व भवन्तौ ।

राजा—(आसनादुत्थाय) अभिवादये राजन् ।

उभौ—स्वस्ति भवते (इति फलान्युपहरतः)

राजा—(सप्रणामं परिगृह्य) आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थस्ते भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति । तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

करके यह भी प्रतिदिन तप करता है। इस संयमी का भी चारण युगल द्वारा गया हुआ केवल राजपूर्वक मुनि, यह पुण्य शब्द (राजर्षि शब्द) पुनः पुनः स्वर्ग का स्पर्श कर रहा है ॥१४॥

दूसरा—गौतम ! यह वह इन्द्र का मित्र दुष्यन्त है।

पहला—और क्या ?

दूसरा—तब तो,—

जो नगर के (द्वार की) अर्गला के समान दीर्घ भुजाओं वाला यह अकेला समुद्र से श्याम सीमा वाली समस्त पृथिवी की रक्षा करता है। यह आश्चर्य नहीं है। क्योंकि दैत्यों के साथ सदा बद्ध वैर सुराङ्गनायें प्रत्यञ्चा चढ़े हुए इसके धनुष में और देवराज इन्द्र के वज्र में विजय की आशा करती है ॥१५॥

दोनों—(समीप जाकर) महाराज की जय हो।

राजा—(आसन से उठकर आप दोनों का अभिवादन करता हूँ।

दोनों—आपका कल्याण हो। (फल भेंट करते हैं।)

राजा—(सप्रणाम लेकर) आज्ञा दीजिए।

दोनों—तपस्वियों को यहां आपकी उपस्थिति का पता चल गया है।

राजा—क्या आज्ञा देते हैं ?

दोनों—पूज्य कण्व के समीप न रहने के कारण राक्षस लोग हमारे यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करते हैं। इसलिये सारथी सहित आप कुछ दिन इस आश्रम को सनाथ करें।

टिप्पणी—१४वें श्लोक में श्लेष और व्यतिरेक अलङ्कार तथा मन्दाक्रान्ता छन्द है।

१५वें श्लोक में पर्यायोक्त, काव्यलिङ्ग, लुप्तोपमा और दीपक अलङ्कार हैं। मन्दाक्रान्ता छन्द है।

उदधिश्यामसीमाम् (उदधिः, श्यामासीमा यस्याः ताम् - उदकानि धीयन्ते अस्मिन् इति उदधिः, उदक+धा+क्ति) सीमन्+दाप्, सीमा, धरित्रीम् (धरति इति, धृ+इत्र+ङीप्)

परिघः (परिहन्यते अनेन, परि+हन्+अप्)

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—(अपवार्य) एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा । (एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना ।)

राजा—(स्मितं कृत्वा) रैवतक ! मद्वचनादुच्यतां सारथिः सबाणासनं रथमुपस्थापयेति ।

दौवारिकः—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति)

(इति निष्क्रान्तः)

उभौ—(सहर्षम्)

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः ॥१६॥

अन्वयः— *पूर्वेषाम् अनुकारिणि त्वयि इदं युक्तरूपम् । पौरवाः आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु ।*

राजा—(सप्रणामम्) गच्छतं पुरो भवन्तौ । अहमप्यनुपदमागत एव ।

उभौ—विजयस्व । (इति निष्क्रान्तौ)

राजा—माढव्य ! अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ?

विदूषकः—पढमं सपरीवाहं आसि । दाणिं रक्खसवुत्तंतेण बिंदुवि णावसेसिदो । (प्रथमं सपरीवाहमासीत् । इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः ।)

राजा—मा भैषीः, ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषकः—एसो रक्खसादो रक्खिदो म्हि । (एष राक्षसाद्रक्षितोऽस्मि ।)

राजा—अनुगृहीत हूँ।

विदूषक—(एक ओर होकर) अब यह प्रार्थना तो तुम्हारे अनुकूल है।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक ! मेरे कहने से सारथी से कह दो कि धनुष के सहित रथ को लाओ।

दौवारिक—जैसी महाराज की आज्ञा।

(चला जाता है।)

दोनों—(सहर्ष)

पूर्वजों का अनुकरण करने वाले आपके विषय में यह सर्वथा उचित है। निश्चय ही पौरव (पुरुवंशी) आपत्ति ग्रस्तों के लिये अभय प्रदान यज्ञों में दीक्षित हैं ॥१६॥

राजा—(प्रणाम करके) आप दोनों आगे चलें। मैं भी पीछे पीछे आ ही रहा हूं।

दोनों जय हो। (दोनों बाहर जाते हैं।)

राजा—माढव्य ! क्या शकुन्तला के दर्शन की अभिलाषा है ?

विदूषक—पहले तो उमड रही थी। किन्तु इस समय राक्षस वृत्तान्त से बिन्दु भी शेष नहीं है।

राजा—मत डरो, मेरे समीप ही रहोगे।

विदूषक—यह मेरी राक्षस से रक्षा हो गई।

टिप्पणी—१६वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। अनुष्टप् वृत्त है।

अनुकारिणि (साधु+अनुकरोति, इति अनुकारीतस्मिन्, अनु+कृ+णिनि)

आपन्न० आपन्न नाम् अभयम् एव सत्राणि तेषु (आ+पद+क्त आपन्न:

सत्रम् सीदन्ति अत्र, इति सत्रम्–'सद्' धातोः ष्ट्रन् प्रत्ययः

राक्षसः रक्षः एव राक्षसः, स्वार्थ अण् प्रत्ययः

अवशेषितः (अव+शिष् चुरादि क्त)

(प्रविश्य)

दौवारिकः—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो। (सज्जो रथो भर्तुर्विजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद्देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः।)

राजा—(सादरम्) किमम्बाभिः प्रेषितः?

दौवारिकः—अह इं? (अथ किम्?)

राजा—ननु प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः—तह। (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) एसो भट्टा; उवसप्प। (तथा। एष भर्ता; उपसर्प।)

करभकः—जेदु भट्टा। देवी आणवेदि—आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्थपारणो मे उववासो भविस्सदि। तहिं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वात्ति। (जयतु भर्ता। देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीया—इति।)

राजा—इतस्तपस्विकार्यम्; इतो गुरुजनाज्ञा। द्वयमप्यनतिक्रमणीयम्; किमत्र प्रतिविधेयम्?

विदूषकः—तिसंकू विअ अंतराले चिट्ठ। (त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठ।)

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि,—

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्द्वैधी भवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा॥१७॥

अन्वयः—*कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात् मे मनः पुरः शैले प्रतिहतं स्रोतोवहः स्रोतः यथा द्वैधीभवति।*

(प्रवेश करके)

दौवारिक—तैयार किया गया रथ स्वामी की विजय के प्रस्थान की अपेक्षा कर रहा है, किन्तु यह नगर से रानियों का समाचार लाने वाला करभक आ गया।

राजा—(आदर सहित) क्या माताओं ने भेजा है ?

दौवारिक—और क्या ?

राजा—तो अन्दर बुलाओ।

दौवारिक—ठीक है। (निकलकर, करभक के साथ प्रवेश करके) यह स्वामी हैं, समीप जाओ।

करभक—स्वामी की जय हो। देवी की आज्ञा है—आगामी चौथे दिन मेरे उपवास की पारणा होगी। उस समय आयुष्मान् मुझे अवश्य सम्मानित करें।

राजा—इधर तपस्वियों का कार्य है, उधर गुरुजनो की आज्ञा। दोनों ही उल्लंघन करने के योग्य नहीं हैं। क्या करना चाहिए ?

विदूषक—त्रिशङ्कु की तरह बीच में रहो।

राजा—सत्य ही आकुल हो गया हूँ—

दोनों कार्यों का देश भिन्न होने के कारण मेरा चित्त उसी प्रकार द्विविधा में पड़ गया है, जिस प्रकार कि पर्वत पर टकराने से नदी का प्रवाह दो भागों में विभक्त होकर बहने लगता है ॥१७॥

सज्जः—सज्ज + अच्।

आज्ञप्तिहरः आज्ञप्तिम् हरति, इति, आज्ञप्तिहरः आ + ज्ञप् + क्तिन् भावे) हृ + अच्।

आज्ञापयति (आ + ज्ञा + णिच् लट् ति)

१७ वें श्लोक में उपमा अलंकार है।

द्वैधीभवति--(द्विधाविभक्तस्य भावम् धत्ते) इसका अर्थ है द्विविधायुक्त हो रहा है।

स्रोतोवहः (स्रोतम् + वह + क्विप्)

(विचिन्त्य) सखे ! त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः । अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मा मावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

विदूषकः—ण खु मं रक्खोभीरुअं गणेसि । [न खलु मां रक्षोभीरुकं गणय ।]

राजा—(सस्मितम्) कथमेतद्भवति संभाव्यते ?

विदूषकः—जह राआणुएण गंतव्वं तह गच्छामि । [यथा-राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि ।]

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वानानुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

विदूषकः—तेण हि जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो (तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः ।]

राजा—(स्वगतम्) चपलोऽयं बटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत् । भवतु, एनमेवं वक्ष्ये । विदूषकं हस्ते गृहीत्वा, प्रकाशम्) वयस्य ! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलापः । पश्य,—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे !
परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥१८॥

अन्वय :- वयं क्व, मृगशावैः समम् एधितः परोक्षमन्मथः जनः क्व । सखे ! परिहासविजल्पितं वचः परमार्थेन न गृह्यताम् ।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः

टिप्पणी— १-निर्णयसागर संस्करण के अन्तर्गत 'राजानुगेन' पाठ है । राजानुग का अर्थ राजा का अनुगामी है ।

राजानुजेन (अनु पश्चात् जातः, इति अनुजः अनु+जन+ड कर्तरि) राज्ञः अनुजः, राजानुजः तेन ।

(सोचकर) मित्र ! तुम माता के द्वारा पुत्र-रूप में माने गए हो। इसलिए आप यहां से लौटकर मुझे तपस्वियों के कार्य में व्यग्र चित्तवाला बतलाकर माताओं का पुत्र-कृत्य करने में समर्थ बनें।

विदूषक— मुझे राक्षस-भीरु मत समझो।

राजा—(मुस्कराकर) आपके विषय में यह कैसे सम्भव है ?

विदूषक— जिस प्रकार राजा के अनुज को जाना चहिए, उसी प्रकार जाऊंगा।

राजा—तपोवन की बाधा दूर होनी चाहिए, इसलिए सभी अनुचरों को तुम्हारे साथ भेज रहा हूँ।

विदूषक— तब तो इस समय मैं युवराज हो गया हूँ।

राजा—(स्वगत) यह ब्राह्मण चञ्चल है। कदाचित् हमारी अभ्यर्थना को अन्तःपुर में न कह दे। अच्छा, इससे इस प्रकार कहता हूँ। (विदूषक का हाथ पकड़कर, प्रकट) मित्र ! ऋषि-गौरव के कारण आश्रम को जाता हूँ। निश्चय ही तपस्वी-कन्या में मेरी अभिलाषा नहीं है। देखो—

कहां हम और कहां हरिण-शावकों के साथ सम्बन्धित हुए काम-कला से सर्वथा अपरिचित जन ? हे मित्र ! परिहास में कहे गये वचनों को वास्तविक न समझ लेना।

(सब निकल जाते हैं)

द्वितीय अङ्क समाप्त।

—:०:—

टिप्पणी— १८ वें श्लोक में विषम एवं काव्यलिंग अलंकार हैं। वियोगिनी छन्द है। वियोगिनी छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

विषमे ससजा गुरुः समे, सभरालोऽथ गुर्वियोगिनी। परोक्षमन्मथः, परोक्षः मन्मथः यस्य सः बहु०, (मनो मथः, इति मन्मथः) मननम् मत्, मन+क्विप् भावे, मथति इति मथः, मथ+अच्। परिहासविजल्पितम् (परिहासेन विजल्पितम्, तत्पुरुषः) परि+हस+घञ् भावे, विरुद्धं जल्पितम्, विजल्पितम्।

द्वितीय अङ्क समाप्त।

तृतीयोऽङ्कः

अथ विष्कम्भकः

(ततः प्रविशति कुशामादाय यजमानशिष्यः)

शिष्यः—अहो ! महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः। प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति राजनि निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति।

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुँकारेणैव धनुषः सहि विघ्नानपोहति ॥१॥

अन्वयः—बाणसन्धाने का कथा? स हि ज्याशब्देन एव, धनुषः हुङ्कारेणैव विघ्नान् दूरतः अपोहति।

यावदिमान्वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपनयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च, आकाशे) प्रियंवदे ! कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते? (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि? आतपलङ्घनाद्बलवदस्वस्था शकुन्तला; तस्याः शरीरनिर्वापणायेति? तर्हि त्वरितं गम्यताम्। सखि ! सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्। अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि। (इति निष्क्रान्तः)

इति विष्कम्भकः

—o—

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा)

राजा—(निःश्वस्य)

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

अन्वयः—तपसः वीर्यं जाने, सा बाला परवती इति मे विदितम्, तथापि इदं हृदयं ततः निवर्तयितुम् अलं न अस्मि।

तीसरा अंक

[विष्कम्भक]

(इसके पश्चात् कुशा लेकर यजमान का शिष्य प्रवेश करता है)

शिष्य – राजा दुष्यन्त महाप्रभावशाली है। महानुभाव राजा के आश्रम में प्रवेश करने मात्र से ही हमारी यज्ञादि क्रियायें निर्बाध सम्पन्न हो रही हैं।

बाण चलाने की बात तो दूर रही, प्रत्यञ्चा की ध्वनिमात्र से ही, जैसे धनुष की हुँकार से ही, विघ्नों को दूर भगा दिया ॥१॥

जब तक मैं वेदी के आस्तरण के लिए इन कुशाओं को ऋत्विग् लोगों को जाकर देता हूँ। (टहलकर, देखकर आकाश में) प्रियंवदे ! यह खस का अनुलेपन और मृणालयुक्त नलिनीपत्र किसके लिये ले जा रही हो ? (सुनकर) क्या कहती हो ? धूप लग जाने के कारण शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ हो गई है। उसके शरीर के सन्ताप को दूर करने के लिये (मैं शीतल जल उपचार ले जा रही हूँ) तो शीघ्र जाओ।

हे सखि ! वह निश्चय ही पूज्य कुलपति कण्व की प्राण है। मैं भी तब तक यज्ञ-सम्बन्धी शान्तिजल (अभिमन्त्रित किया गया जल) इसके लिये गौतमी के हाथ भेज रहा हूँ।

(इस प्रकार निकल जाता है।)

विष्कम्भक समाप्त

(इसके पश्चात् मदनावस्था को प्राप्त राजा प्रवेश करता है।

राजा—(निःश्वास लेकर) मैं तप के प्रभाव को जानता हूँ। वह बाला (शकुन्तला) पराधीन है, यह भी मुझे विदित है। तो भी हृदय को उससे हटाने में असमर्थ हूँ ॥२॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। अनुष्टुप् छन्द है।

विष्कम्भकः—वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजकः ॥ दशरूपक

जो कथांश व्यतीत हो चुके हैं या आगे घटने वाले हैं, उनका संक्षेप में निदर्शक अर्थोपक्षेपक विष्कम्भया विष्कम्भक कहलाता है। इसका प्रयोग मध्य-कोटि के पात्र द्वारा किया जाता है। यह अङ्क के आरम्भ में ही होता है।

द्वितीय श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं उपमा अलङ्कार हैं। 'तापन' नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

कामयमानः (कम+णिङ्+शानच्)

निवर्तयितुम् (नि+वृत्+णिच्+तुमुन्)

भगवन् मन्मथ ! कुतस्तेकुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत् । (स्मृत्वा) आं ज्ञातम्—

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निजलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेनमुष्णः ॥३॥

(मदनबाधां निरूप्य) भगवन्कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः । कुतः,—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥४॥

अन्वयः—तव कुसुमशरत्वम् इन्दोः शीतरश्मित्वम्—इति द्वयं मद्विधेषु अयथार्थं दृश्यते । इन्दुः हिमगर्भैः मयूखैः अग्निं विसृजति, त्वम् अपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ।

(परिक्रम्य) क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः श्रमक्लान्तमात्मानं विनोदयामि ? (निःश्वस्य) किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् ? यावदेनामन्विष्यामि । (सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । तत्रैव तावद्गच्छामि । (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः ।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥५॥

अन्वयः—अनङ्गतप्तैः अङ्गैः अरविन्दसुरभिः मालिनीतरङ्गाणाम् कणवाही पवनः अविरलम् आलिङ्गितुम् शक्यम् ।

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया तया भवितव्यम् । तथा हि, (अधो विलोक्य)—

भगवान् कामदेव ! आप पुष्पबाण हैं, फिर आप में इस प्रकार की तीक्ष्णता कैसे ? (स्मरण करके) अच्छा समझ गया—आज भी तुम्हारे अन्दर अवश्य ही शिवजी की क्रोध रूप अग्नि उसी प्रकार जल रही है, जैसे कि समुद्र में वाड़वाग्नि जलती है। अन्यथा हे कामदेव ! भस्म रूप में शेष तुम मुझ जैसों के लिये कैसे इस प्रकार सन्ताप-कारक होते ॥३॥

(काम-बाधा का निरूपण करके) भगवान् कामदेव !

तुम्हारे और चन्द्रमा के द्वारा, जो विश्वसनीय है, कामीजनों का समूह ठगा जाता है। क्योंकि—

(हे कामदेव !) तुम्हारा पुष्पबाणत्व और चन्द्रमा का शीत रश्मित्व, ये दोनों मेरे जैसे के लिये यथार्थ (अन्वर्थ) नहीं हैं (क्योंकि) चन्द्रमा हिम है गर्भ में जिनके ऐसी किरणों से अग्नि फेंकता है और तुम भी कुसुमावणों को वज्रवत् कठोर बना लेते हो ॥४॥

(खेद के साथ टहलकर) यज्ञ-कर्म के पूर्ण हो जाने पर सदस्यों की आज्ञा प्राप्त करके मैं श्रम से थका हुआ कहाँ अपना मनोरञ्जन करूं। (गहरी साँस लेकर) प्रिया के दर्शन के अतिरिक्त मुझे और कहां शरण मिल सकती है। (जब तक इसे मैं खोजता हूं। सूर्य की तरफ देखकर) इस उग्रधूप की बेला को शकुन्तला अपनी सखियों के साथ प्रायः लतावलयों से युक्त मालिनी नदी के तट पर व्यतीत करती है। तब वहीं चलता हूँ। (टहलकर, वायु के स्पर्श का अभिनय करके।)

अरे, यह स्थान तीव्र वायु से रमणीक है।

कामदेव द्वारा सन्तप्त अङ्गों के द्वारा कमलों से सुरभित तथा मालिनी (नदी) की लहरों के कणों को ले जाने वाले पवन का गाढ़ालिङ्गन किया जा सकता है ॥५॥

(घूमकर और देखकर) इस बेंत की लता से आवृत लतामण्डप से उसे उपस्थित होना चाहिए। क्योंकि—(नीचे की ओर देखकर)

टिप्पणी—चौथे श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्ग एवं विरोध अलंकार हैं। राघवभट्ट ने यथासंख्य अलङ्कार भी माना है। मालिनी छन्द है।

कुसुमशरत्वम्—(कुसुमशर+त्वल्)

पंचम श्लोक में अनुप्रास, समाहित एवं समासोक्ति अलंकार है। आर्या छन्द है।

शक्यः—(शक्+यत्)

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥६॥

अन्वयः—अस्य पाण्डुसिकते द्वारे पुरस्तात् अभ्युन्नता जघनगौरवात् पश्चाद् अवगाढा अभिनवा पदपङ्क्तिः दृश्यते ।

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि । (परिक्रम्य तथा कृत्वा सहर्षम्) अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु, श्रोष्याम्यासां विश्रम्भकथितानि (इति विलोकयन्स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) हला सउंदले ! अवि सुहेदि दे णलिणीपत्तवादो ? [हला शकुन्तले ! अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः ?]

शकुन्तला—किं वीअअंति मं सहीओ ? (किं वीजयतो मां सख्यौ ?)

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः)

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते । (सवितर्कम्) तत्किमयमातपदोषः स्यात्, उत यथा मे मनसि वर्तते । (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं संदेहेन,—

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम् ।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो–
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥७॥

अन्वयः—प्रियायाः साबाधम् स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं इदम् वपुः किम् अपि कमनीयम् । कामम् मनसिजनिदाघप्रसरयोः समः तापः ग्रीष्मस्य तु युवतिषु एवम् सुभगम् अपराद्धं न ।

इस (लतामण्डप) के गौर वर्ण वाली बालुका से युक्त द्वार पर, आगे से ऊंची एवं पीछे के जंघाओं के भार के कारण गहरी नई पद-पंक्ति दिखलाई पड़ रही है ॥६॥

जब तक वृक्षों की शाखाओं के बीच में मे देखता हूं। (घूमकर, देखकर, सहर्ष) अरे नेत्रों का निर्माण (चरम आनन्द प्राप्त कर लिया। यह मेरी मनोरथरूपिणी प्रियतमा (शकुन्तला) कुसुमों के बिछौने से युक्त शिलातल पर शयन करती हुई दोनों सखियों के द्वारा सेवित हो रही है।

अच्छा, इनके विश्वस्त वार्तालाप को सुनूंगा। (इस प्रकार देखते हुए खड़ा रहता है।)

(इसके पश्चात् पूर्वोक्त कार्य करती हुई दोनों सखियों के साथ शकुन्तला प्रवेश करती है।)

दोनों सखियां—(पंखा करती हुई स्नेहपूर्वक) हे सखि शकुन्तले! कमलिनी के पत्ते की हवा क्या तुझे सुख दे रही है?

शकुन्तला—हे सखियों! तुम मेरी हवा किस लिए कर रही हो?

(दोनों सखियां विषाद का अभिनय करके परस्पर एक दूसरे को देखती हैं।)

राजा—यह शकुन्तला तो अत्यन्त अस्वस्थ शरीर वाली दिखाई पड़ती है।

(विचार करते हुए) तो क्या यह धूप का दोष है, या जैसा मेरे मन में है? (अभिलाषापूर्वक देखकर) अथवा सन्देह करना व्यर्थ है,—

प्रिया (शकुन्तला) का पीड़ा सहित, जिसके स्तनों पर उशीर (खस) रखी हुई है, ढीले मृणाल के ही जिसके वलय (कङ्कण हैं), ऐसा शरीर भी सुन्दर है। यद्यपि कामदेव और आतप (धूप) के वेग का सन्ताप समान है, परन्तु ग्रीष्म का युवतियों पर ऐसा सुन्दर अपराध नहीं होता ॥७॥

टिप्पणी—६ठे श्लोक में अनुभाव, स्वभावोक्ति एवं पर्यायोक्त अलङ्कार हैं। लब्धम् (लभ्+क्त)

सातवें श्लोक में व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, विशेषोक्ति एवं अनुप्रास अलङ्कार हैं।

कमनीयम् (कम्+अनीयर्)

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए! तस्स राएसिणो पढम-दंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउंदला। किं णु खु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे? [अनसूये! तस्य राजर्षेः प्रथम-दर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खलु तस्यास्तन्नि-मित्तोऽयमातङ्को भवेत्?]

अनसूया—सहि! ममवि ईदिसी आसंका हिअअस्स। होदु, पुच्छिस्सं दाव णं। [प्रकाशम्] सहि! पुच्छिदव्वासि किंपि। बलवं खु दे संदावो। [सखि ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु, प्रक्ष्यामि तावदेनाम्। (प्रकाशम्) सखि! प्रष्टव्यासि किमपि। बलवान्खलु ते संतापः।]

शकुन्तला—[पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय] हला! किं वत्तुकामासि? [हला! किं वक्तुकामासि?]

अनसूया—हला सउंदले! अणब्भंतरा खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तंतस्स। किंदु जादिसी इदिहासणिबंधेसु कामअमाणाणं अवत्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खामि, कहेहि किंणिमित्तं दे संदावो। विआरं खु परमत्थदो अजाणिअ अणारंभो पडिआरस्स। [हला शकुन्तले! अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किंतु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि, कथय किंनिमित्तं ते संतापः। विकारं खलु परमार्थतो-ऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।]

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः। नहि स्वाभिप्रायेण मेदर्शनम्।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) बलवं खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि णिवेदिदुं। [बलवान्खलु-मेऽभिनिवेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्।]

प्रियंवदा—(अलग से) हे अनसूये ! उस राजर्षि के प्रथम दर्शन से लेकर शकुन्तला-आतुर सी हो गई है, तो क्या इसका यह उपद्रव उसके कारण से है।

अनसूया—सखि ! मेरे हृदय को भी ऐसी आशंका है। अच्छा तो इससे पूछती हूँ। (प्रकट में) हे सखि ! तुमसे कुछ पूछता है। तुम्हारा सन्ताप निश्चय ही बलवान् है।

शकुन्तला—(शरीर के पूर्वार्द्ध से सेज से उठकर) हे सखि ! क्या कहना चाहती हो ?

अनसूया—सखि शकुन्तले ! हम दोनों काम सम्बन्धी वृत्तान्त से अपरिचित हैं। किन्तु इतिहास-निबन्धों में कामदेव से पीड़ितों की जैसी अवस्था सुनी जाती है, वैसी ही (अवस्था) तुम्हारी देख रही हूँ। बताओ तुम्हारे सन्ताप का क्या कारण है ? क्योंकि विकार को वास्तविक रूप से जाने बिना प्रतीकार का आरम्भ नहीं हो सकता।

राजा—अनसूया ने भी मेरा तर्क समझ लिया है। मेरा विचार अपने मनोरथ के कारण नहीं था।

शकुन्तला—स्वगत) निश्चय ही मेरा आग्रह बलवान् है। इस समय सहसा इनसे निवेदन करने में असमर्थ हूँ।

टिप्पणी—उत्थाय (उत्+स्था+क्त्वा+ल्यप्)।
परमार्थतः (परमार्थ से करणार्थ में तसि प्रत्यय है)।
दृश्+ल्युट् (दर्शनम्)।

प्रियंवदा—सहि सउंदले ! सुट्ठु एसा भणादि । किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि ? अणुदिअहं खु परिहीअसि अंगेहिं । केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुंचदि । [सखि शकुन्तले ! सुष्ठ्वेषा भणति । किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे ? अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।]

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि,—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पात्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ॥८॥

अन्वयः—आननं क्षामक्षामकपोलम् । उरः काठिन्यमुक्तस्तनम् । मध्यः क्लान्ततरः । अंसौ प्रकामविनतौ । छविः पाण्डुरा ! मदनक्लिष्टा इव पत्राणां शोषणेन मरुता स्पृष्टा माधवी लता इव, शोच्या च प्रियदर्शना च आलक्ष्यते ।

शकुन्तला—सहि ! कस्स वा अण्णस्स अहइस्सं ? आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं । [सखि ! कस्य वाऽन्यस्य कथयिष्यामि ? आयासयित्रीदानीं वां भविष्यामि ।

उभे—अदो एव्व खु णिव्वंधो । सिणिद्धजणसंविभत्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि । [अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति ।]

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो निवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण-
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥९॥

अन्वयः—समदुःखसुखेन जनेन पृष्टा इयं बाला मनोगतं आधिहेतुं न वक्ष्यति, न । अनया बहुशः विवृत्य सतृष्णं दृष्टः अपि अत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतः अस्मि ।

प्रियंवदा—हे सखि शकुन्तले ! यह ठीक कह रही है । तुम अपने उपद्रव की उपेक्षा किस लिए कर रही हो ? दिनोंदिन अपने अङ्गों से क्षीण हो रही हो। केवल सौन्दर्यमयी कान्ति तुम्हें नहीं छोड़ रही है ।

राजा—प्रियंवदा ने यथार्थ कहा है । क्योंकि—

मुख अत्यन्त क्षीर्ण कपोलों वाला हो गया है । वक्षस्थल काठिन्यरहित स्तनों वाला हो गया है । मध्यभाग (कटिभाग) कृशतर हो गया है । कन्धे अत्यन्त झुक गये हैं और कान्ति पाण्डु वर्ण वाली हो गयी है । कामदेव से पीड़ित यह (शकुन्तला) पत्तों को सुखाने वाली वायु से स्पृष्ट माधवी लता के समान शोचनीय तथा प्रियदर्शना दिखाई पड़ती है ॥८॥

शकुन्तला—हे सखि ! और किससे कहूँगी ? या इस समय (आप लोगों को) कष्ट देने वाली होऊंगी ।

दोनों—इसीलिए तो आग्रह है । क्योंकि प्रेमीजनों द्वारा बांटा गया दुःख वेदना सहन करने के योग्य होता है ।

राजा—समान दुःख सुख वाले सखिजन के द्वारा पूछी गयी यह बाला मन में स्थित, दुःख के कारण को नहीं बताएगी, (ऐसा) नहीं है । इसके द्वारा अनेक बार लौटकर अभिलाषापूर्वक देखा गया भी मैं इस अवसर पर सुनने के लिये अधीर हो गया हूँ ॥९॥

टिप्पणी—लावण्यमयी (लावण्य + मयट् + ङीप्)

८वें श्लोक में विरोधाभास, काव्यलिङ्ग, उपमा और अनुप्रास अलङ्कार हैं । शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

शोच्या, शोचितुं योग्या (शुच + ण्यत्)

आयासयित्री (आ + यस + णिच् + तृच्)

स्निग्ध (स्निह + क्त)

९वें श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है । वसन्ततिलका छन्द है ।

शकुन्तला—सहि ! जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो सो तेवोवणरक्खिदा रायसी, तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता । [सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः, तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता ।]

राजा—(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्;

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः ।

दिवस इवार्धश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ।।१०।।

अन्वयः—तपात्यये जीवलोकस्य अर्धश्यामः दिवस इव मे स्मरः एव तापहेतुः स एव निर्वापयिता जातः ।

शकुन्तला—तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा हामि । अण्णहा अवस्सं सिंचध तिलोदअं । [तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम् ।]

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) अणसूए, दूरगअमन्महा अक्खमा इअं कालहरणस्स । जस्सिं बद्धभावा एसा सो ललामभूदो पोरवाणं । ता जुत्तं से अहिलासो अहिणंदिदुं [अनसूये ! दूरगतमन्मथाक्षमेयं कालहरणस्य । यस्मिन्बद्धभावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम । तद्युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम् ।)

अनसूया—तह जह भणासि । (तथा यथा भणसि ।)

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) सहि, दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो । साअरं उज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ ? को दाणिं सहआरं अंतरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि ? [सखि ! दिष्ट्यानुरूपस्तेऽभिनिवेशः । सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ? क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ?]

शकुन्तला—हे सखि ! जब से मैंने तपोवन के रक्षक राजर्षि को देखा है, तभी से लेकर उनकी अभिलाषा (उनको प्राप्त करने की अभिलाषा) के कारण इस अवस्था को प्राप्त हो गई हूँ ।

राजा—(सहर्ष) सुनने योग्य सुन लिया, ग्रीष्म-ऋतु के बीत जाने पर जीवलोक के लिये अर्धश्याम (अपराह्न में मेघों से श्याम) दिवस के समान कामदेव ही मेरे सन्ताप का कारण था (और) वही (नायिकागत होकर) शान्ति प्रदान करने वाला हो गया ।

शकुन्तला—तो यदि तुम दोनों सहमत हो तो ऐसा करो कि जिससे (मैं) उस राजर्षि की अनुकम्पनीय (कृपा पात्र) हो जाऊँ । अन्यथा, मुझे अवश्य ही तिलोदक देना (अर्थात् मेरा प्राणान्त हो जायेगा और तब तुम लोग मुझे तिलाञ्जलि देना ।)

राजा—यह वचन सन्देह को दूर करता है ।

प्रियंवदा—(चुपके से) अनसूये ! काम के अधिक बढ़ जाने के कारण यह काल के विलम्ब को सहन करने में असमर्थ है । जिसमें इसका प्रेम-भाव बंधा है वह (दुष्यन्त) पौरवों में शिरोमणि है । अतः इसकी अभिलाषा का अनुमोदन करना उचित है ।

अनसूया—ठीक है, जैसा तुम कहती हो ।

प्रियंवदा—(प्रकट में) सखि ! भाग्य से तेरा प्रेमाग्रह अनुरूप (उचित) है । महानदी सागर को छोड़कर और कहां उतरती है ? आम्र-वृक्ष के बिना पल्लव-युक्त माधवी लता को कौन सहन करता है ! (अपनाता है)

टिप्पणी—तपोवनरक्षिता (तपोवन+रक्ष+तृच्)
दर्शनपथम् (ऋक्पूरब्धूपथमानक्षे, सूत्र से समासान्त अप्रत्यय है)
नवम् श्लोक में विरोधाभास एवं उपमा अलंकार है । आर्या छन्द है ।
निर्वापयिता—(निर्+वाप्+णिच+तृच्)
तपात्यये (तप+अति+इ+अच्)
अन्यथा (अन्य+थाल्)
संशयच्छेदि (संशय+छिद्+णिनि)
अक्षमा—(क्षम+अच् (स्त्री०) क्षमा, न क्षमा, अक्षमा)
अभिनिवेशः (अभि+नि+विश+घञ्)

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते ?

अनसूया—को उण उवाओ भवे जेण अविलंबिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेम्ह ? [कः पुनरुपायो भवेद्येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं संपादयावः ?]

प्रियंवदा—णिहुअंत्ति चिंतणिज्जं भवे। सिग्घंत्ति सुअरं। [निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्।]

अनसूया—कहं विअ ? [कथमिव ?]

प्रियंवदा—णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमाइं दिअहाइ पज्जाअरकिसो लक्खीअदि। [ननु स राजर्षिरेतस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाषः एतान्दिवसान् प्रजागरकृशो लक्ष्यते।)

राजा—सत्यमामित्थभूत एवास्मि। तथा हि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभि श्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥११॥

अन्वयः - निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्ग प्रसारिभिः अन्तस्तापाद् अशिशिरैः अश्रुभिः विवर्णमणीकृतम् अनभिलुलितज्याघाताङ्कम् इदं कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया मणिबन्धनात् मुहुः प्रतिसार्यते।

प्रियंवदा— (विचिन्त्य) हला ! मअणलेहो से करीअदु। इमं देव्वप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं। [हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। इमं देव प्रसादस्यापदेशेन सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।]

राजा—इसमें क्या विचित्र बात है ? यदि विशाखा नाम के नक्षत्र चन्द्रलेखा का अनुवर्तन करते हैं।

(इसी प्रकार प्रियंवदा और अनसूया का शकुन्तला का अनुवर्तन स्वाभाविक है।)

अनसूया—ऐसा कौन उपाय होना चाहिये, जिससे शीघ्र एवं चुपचाप सखि के मनोरथ को पूर्ण करें।

प्रियंवदा—(चुपचाप) इसी की चिन्ता है। (शीघ्र) यह तो सुकर है।

अनसूया—कैसे ?

प्रियंवदा—वह राजर्षि, जिसकी प्रेम भरी दृष्टि से इस शकुन्तला में अभिलाषा सूचित होती है, इन दिनों अधिक जागने के कारण कृश दिखाई पड़ता है।

राजा—सचमुच ऐसा ही हूँ। क्योंकि—

प्रत्येक रात्रि को भुजाओं पर रखे हुये नेत्रों के प्रान्त भाग से प्रवाहित होने वाले, आन्तरिक सन्ताप के कारण तप्त आंसुओं के द्वारा जिसकी मणियां विवर्ण (मलिन) हो गई हैं (और जिसने) धनुष की डोरी की रगड़ से उत्पन्न चिह्न का स्पर्श नहीं किया है, ऐसा यह स्वर्ण-कङ्कण बार-बार खिसक जाने पर मेरे द्वारा मणिबन्ध (कलाई) से ऊपर सरकाया जाता है।।११।।

प्रियंवदा—(विचार कर) सखि ! तो उसके लिये मदन-लेख (काम-पत्र) लिखो। इसे देवप्रसाद के बहाने से पुष्पों में छिपाकर उसके (दुष्यन्त के) हाथ में दूंगी

टिप्पणी - अविलम्बितम् (बि+लम्ब+क्त भावे बिलम्बितम्, अविद्यमानं विलम्बित यस्मिन् कर्मणि तत् तथा)।

निभृतम् (नितरांभृतम्, नि+भृ+क्त)।

सुकरम् (सुखेन क्रियते इति सुकरम्, सु+कृ+खल्)।

प्रजागरः (प्र+जागृ+घञ् भावे)।

मणिबन्धनः (मणि+बन्ध+ल्युट्)।

१०वें श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है एवं हरिणी छन्द है।

सुमनः शब्दः स्त्रियां बहुत्वे च वर्तते।

"आपः सुमनसोवर्षा अफरः, सिकता समाः।"

अनसूया—रोअदि मे सुउमारो पओओ। किं वा सउंदला भणादि? [रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति?]

शकुन्तला—को णिओओ विकप्पीअदि? (को नियोगो विकल्प्यते?)

प्रियंवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुव्वं चिंतेहि दाव ललिअपदबंधणं। (तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललित-पदबन्धनम्।)

शकुन्तला—हला! चिंतेमि अहं। अवहीरणभीरुअं पुणो वेवइ हिअअं। [हला! चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरु पुनर्वेपते मे हृदयम्।]

राजा—(सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
　विशङ्कसे भीरु! यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं,
　श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्? ॥१२॥

अन्वयः—भीरु! यतः अवधीरणाम् विशङ्कसे सः अयं ते सङ्गमोत्सुकः तिष्ठति। प्रार्थयिता श्रियं लभेत वा न वा, श्रिया ईप्सितः कथं दुरापः भवेत्।

सख्यौ—अयि अत्तगुणावमाणिणि! को दाणिं सरीरणिव्वावत्तिअं सारदिअं जोसिणिं पडंतेण वारेदि? [आत्मगुणावमानिनि! क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति?]

शकुन्तला—(सस्मितम्) णिओइआ दाणिं म्हि। (नियोजितेदानीमस्मि।] (इत्युपविष्टा चिन्तयति।)

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमिषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः,

अनसूया—यह सरल प्रयोग मुझे प्रिय है। परन्तु शकुन्तला क्या कहती है?

शकुन्तला—किस आज्ञा पर विकल्प किया जाता है? (अर्थात् ऐसी आज्ञा पर विकल्प का क्या प्रश्न?)

प्रियंवदा—तो फिर अपने उपन्यास (प्रसङ्ग एवं दशा) के अनुरूप सुन्दर पद-रचना को सोचो।

शकुन्तला—सखि! मैं सोचती हूं। किन्तु अपमान से डरने वाला मेरा हृदय कांप रहा है।

राजा—(सहर्ष) हे भीरु! जिससे तुम अपमान की आशङ्का कर रही हो, वह यह तुम्हारे सङ्गम के लिये उत्सुक बैठा है। याचक चाहे लक्ष्मी को प्राप्त करे या न प्राप्त करे, लक्ष्मी के द्वारा अभिलषित कैसे दुर्लभ होगा॥१२॥

दोनों सखियां—हे अपने गुणों का तिरस्कार करने वाली! कौन इस समय शरीर को शान्ति प्रदान करने वाली शरद् ऋतु की चांदनी को आंचल से रोकता है?

शकुन्तला—(मुस्कराकर) तो मैं (इस कार्य में) नियोजित हूँ।

(इस प्रकार बैठी हुई सोचती है।)

राजा—वास्तव में उचित अवसर पर निर्निमेष दृष्टि से प्रिया को देख रहा हूँ। क्योंकि—

टिप्पणी—उपन्यासः (उप+नि+अस्+घञ् भावे)
१२वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं वंशस्थ छन्द है।
प्रार्थयिता (प्रार्थ+णिच्+तृच्)
दुरापः (दुः+आप्+क)

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥१३॥

अन्वयः—पदानि रचयन्त्याः अस्याः उन्नमितैकभ्रूलतम् आननम् कण्टकितेन कपोलेन मयि अनुरागम् प्रथयति ।

शकुन्तला—हला ! चिंतिदं मए गीदवत्थु । ण क्खु सण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि । [हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि ।]

प्रियंवदा—इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि । [एतस्मिञ्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु ।]

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) हला ! सुणुह दाणिं संगदत्थं ण वेत्ति । [हला ! शृणुतमिदानीं सगंतार्थं न वेति ।]

उभे—अवहिदम्ह । [अवहिते स्वः ।]

शकुन्तला—(वाचयति)

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।
णिग्घिण ! तवइ बलिअ तुइ वुतमणोरहाइं अंगाइं ॥१४॥

(तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण ! तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ।]

अन्वयः—निर्घृण ! तव हृदयम् न जाने पुनः त्वयि वृत्तमनोरथानि मम अङ्गानि कामः दिवा अपि रात्रौ अपि बलीयः तपति ।

राजा—(सहसोपसृत्य)

तपति तनुगात्रि ! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ॥१५॥

अन्वयः—तनुगात्रि ! मदनः अनिशं त्वां तपति मां पुनः दहति एव । दिवसः यथा शशाङ्कं ग्लपयति कुमुद्वतीम् न तथा ।

पदों की रचना करती हुई इस (शकुन्तला) का मुख जिसकी एक भ्रूलता ऊपर उठी हुई है, रोमाञ्चित कपोल से मेरे प्रति प्रेम को सूचित कर रहा है ॥१३॥

शकुन्तला—हे सखि ! गीत का वस्तु विषय मैंने सोच लिया। लेखन के साधन तो समीपस्थ नहीं हैं।

प्रियंवदा—इस तोते के उदर के समान सुकुमार नलिनी-पत्र (कमलिनी का पत्ता) पर नखों से वर्णों को अङ्कित कर दो।

शकुन्तला—(यथोक्त का अभिनय करके) हे सखि ! अब तुम दोनों सुनो, अर्थसंगत है या नहीं ?

दोनों—(हम दोनों) सावधान हैं।

शकुन्तला—(पढ़ती है)

हे निष्कृप ! तेरे हृदय को नहीं जानती, परन्तु तुममें हो गई है अभिलाषा जिनकी, ऐसे मेरे अङ्गों को कामदेव दिन में और रात में भी अधिक सन्तप्त कर रहा है ॥१४॥

राजा—(सहसा समीप जाकर)

हे कृश शरीर वाली ! मदन तुम्हें सदा सन्ताप देता है, परन्तु मुझे तो जलाये ही देता है। दिन जैसे कि चन्द्रमा को कान्तिहीन करता है, वैसे कुमुदिनी को नहीं ॥१५॥

टिप्पणी—१३वें श्लोक में स्वभावोक्ति एवं उपमा अलंकार है।

आत्मगुणावमानिनि (आत्म + गुण + अव + मान + णिच् स्वार्थे + णिनि, सम्बोधने)

उन्नमित (उत् + नम् + णिच् + क्त)

१४वें श्लोक में काव्यलिङ्ग, अनुप्रास, रूपक और समासोक्ति अलंकार हैं।

१५वें श्लोक में विरोधाभास, दृष्टान्त, पुनरुक्तवदाभास एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं।

कुमुद्वतीम् (कुमुदानि सन्ति अस्याः, कुमुद + ड्वतुप्)

सख्यौ—(सहर्षम्) साअदं अविलंबिणो मणोरहस्स। [स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।]

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति)

राजा—अलमलमायासेन,—

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।

गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥१६॥

अन्वयः—सन्दष्टकुसुमशयनानि आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि गुरुपरितापानि ते गात्राणि उपचारं न अर्हन्ति ।

अनसूया—इदो सिलातलेक्कदेसं अलंकरेदु वअस्सो। [इतः शिलातलैकदेशमलंकरोतु वयस्यः ।]

(राजोपविशति, शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

प्रियंवदा—दुवेण्णं णु वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो । सहीसिणेहो मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि । [द्वयोर्ननु युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः । सखिस्नेहो मां पुनरुक्तवादिनीं करोति ।]

राजा—भद्रे ! नैतत्परिहार्यम् । विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति ।

प्रियंवदा—आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो । [आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष युष्माकं धर्मः ।]

राजा—नास्मात्परम् ।

प्रियंवदा—तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थंतरं भअवता मअणेण आरोविदा । ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलंबिदुं । [तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता । तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम् ।]

दोनों सखियां—(प्रसन्नतापूर्वक) शीघ्र फलदायी मनोरथ का स्वागत है।

(शकुन्तला उठना चाहती है)।

राजा—कष्ट से बस करो, बस करो—

जिनमें पुष्पास्तरण संलग्न है, जो उसी समय मलिन मृणाल-खण्डों से सुगन्धित है, ऐसे महान् सन्ताप-युक्त तेरे अङ्ग शिष्टाचार का निर्वाह करने के योग्य नहीं हैं।

अनसूया—इधर शिला-तल के एक देश को अलंकृत करें।

(राजा बैठता है, शकुन्तला लज्जा सहित स्थित रहती है)

प्रियंवदा—तुम दोनों का परस्पर अनुराग प्रत्यक्ष है। सखी का स्नेह मुझसे बार-बार कहलवा रहा है।

राजा—शुभे! यह त्याज्य नहीं है (अर्थात् कहने योग्य है) क्योंकि नहीं कहा गया अभीष्ट कथन पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है।

प्रियंवदा—राजा को अपने राज्य में रहने वाले दुःखी जन का दुःख दूर करने वाला होना चाहिये, यही आपका धर्म है।

राजा—इसके आगे कुछ नहीं।

प्रियंवदा—इसीलिये यह हमारी प्रिय सखि तुम्हारे कारण से ही भगवान् कामदेव के द्वारा इस अवस्थान्तर को पहुँचाई गई है। अतः अपने अनुग्रह द्वारा तुम्हें उसके जीवन को आश्रय देना चाहिये।

टिप्पणी—१६वें श्लोक में परिकर एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं। आर्या छन्द है।

संदष्ट (सम्+दन्श+क्त)।

शयनम् (शी+ल्युट्)।

उपचारम् (उपचर्यते अनेन, इति, उप+चर+घञ्)।

अनुरागः (अनु+रञ्ज+घञ् भावे)।

पुनरुक्तवादिनीम् (पुनरुक्त+वद्+णिनि, ताम्)।

आर्तिहरेण (आ+ऋ+क्तिन् आर्ति+हृ+अच् आर्तिहरः तेन)।

राजा—भद्रे ! साधारणोऽयं प्रणयः । सर्वथानुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला— (प्रियंवदामवलोक्य) हला ! किं अंतेउरविरह-पज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण ? [हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन ?]

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा,
हृदयसंनिहिते ! हृदयं मम ।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे !
मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥१७॥

अन्वयः—हृदयसन्निहिते ! यदि अनन्यपरायणं मम इदं हृदयम् अन्यथा समर्थयसे, मदिरेक्षणे ! मदनबाणहतः पुनः हतः अस्मि ।

अनसूया—वअस्स, बहुवल्लहा राआणो सुणीअंति । जह णो पिअसही बंधुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वत्तेहि । [वयस्य ! बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।]

राजा—भद्रे ! किं बहुना,—

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥१८॥

अन्वयः—परिग्रहबहुत्वे अपि मे कुलस्य द्वे प्रतिष्ठे समुद्रवसना उर्वी च युवयो इयम् सखी च ।

उभे—णिव्वुदम्ह । (निर्वृते स्वः ।)

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) अणसूए ! जह एसो इदो दिण्ण-दिट्ठी उस्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि ! एहि, संजोएम णं । [अनसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातर-मन्विष्यति । एहि; संयोजयाव एनम् ।] (इत्युभे प्रस्थिते)

राजा—भद्रे ! यह प्रार्थना सम्मान है। मैं सर्वथा अनुगृहीत हूँ।

शकुन्तला—(प्रियंवदा को देखकर) हे सखि ! अन्त:पुर के विरह से कातर राजर्षि के रोकने से क्या लाभ ?

राजा—हे हृदयस्थिते ! यदि अनन्यासक्त मेरे इस हृदय को अन्यथा समझती हो तो हे मस्त नेत्रों वाली ! कामदेव के बाणों से मारा हुआ मैं पुनः मारा गया ।।१७।।

अनसूया - वयस्य ! राजा लोग अनेक प्रियाओं वाले सुने जाते हैं, जिससे कि हमारी प्रिय सखि बन्धुजनों द्वारा शोचनीय न हो, ऐसा कीजिये।

राजा - भद्रे ! अधिक क्या ? अनेक स्त्रियों के रहने पर भी मेरे कुल के दो गौरव हैं—एक तो समुद्रवेष्टित पृथिवी और यह तुम दोनों की प्रिय सखि ।।१८।।

दोनों—हम सन्तुष्ट हैं।

प्रियंवदा—(दृष्टि डालते हुये) अनसूये ! जैसे कि यह मृग का बच्चा इधर ही दृष्टि लगाये माँ को ढूंढ़ रहा है। आओ, हम दोनों इसे मिला दें। (इस प्रकार दोनों प्रस्थान करती हैं।)

टिप्पणी—प्रणयः (प्र+नी+अच्)।

'प्रेमयाञ्चयोः' हेमः।

प्रणय शब्द के अर्थ प्रेम एवं याञ्चा दोनों हैं।

परायणम् (परा+अय+ल्युट्)।

मदिरेक्षणे (माद्यति आभ्याम् इति मदिरे-मदन किरच्, मदिरे ईक्षणे यस्याः सा, मदिरेक्षणा, सम्बोधने मदिरेक्षणे)।

परिग्रहः (परि+गृह्यते स्वीक्रियते इति, परि+ग्रह+अप्)।

प्रतिष्ठे (प्रतितिष्ठति अनयोः, प्रति+स्था+अड्)।

समुद्रः (मुद्राभिः सहितः)।

शकुन्तला—हला ! असरणम्हि । अण्णदरा वो आअच्छदु । [हला ! अशरणास्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु ।]

उभे—पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ । (पृथिव्याः शरणं स तव समीपे वर्तते]। (इति निष्क्रान्ते)

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व ? [कथं गते एव ?]

राजा— अलमावेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः ?
अङ्के निधाय करभोरु ! यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥१९॥

अन्वयः—करभोरु ! किम् शीतलैः क्लमविनोदिभिः नलिनीदलतालवृन्तैः आर्द्रवातान संवाहयामि उत ते पद्मताम्रौ चरणौ अङ्के निधाय यथा-ते सुखं संवाहयामि ।

शकुन्तला— ण माणणीएसु अत्ताणं अवराहइस्सं । [न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये ।] (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति)

राजा—सुन्दरि ! अनिर्वाणो दिवसः । इयं च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधा पेलवैरङ्गैः ? ॥२०॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)

अन्वयः नलिनीदल कल्पितस्तनावरणम् उत्सृज्य परिबाधापेलवैः अङ्गैः आतपे कथं गमिष्यसि ।

शकुन्तला—पौरव ! रक्ख अविणअं । मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि । [पौरव ! रक्षाविनयम् । मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।]

शकुन्तला—हे सखि ! मैं अशरण हूँ । तुम दोनों में से कोई एक आए ।

दोनों - जो पृथिवी का रक्षक है, वह तुम्हारे समीप वर्तमान है । इस प्रकार बाहर चली जाती हैं ।

शकुन्तला—क्या चली गई हो ?

राजा - अधीर मत होओ । यह सेवकजन तुम्हारे पास स्थित तो है ।

हे करभोरु ! क्या थकावट को दूर करने वाले, कमलिनी के पत्तों के पंखों से आर्द्र वायु का सञ्चार करूं अथवा कमल के समान ताम्रवर्ण वाले तुम्हारे चरणों को गोद में रखकर सुखपूर्वक दबा दूं ।।१९।।

शकुन्तला—माननीय के प्रति मैं अपने को अपराधिनी नहीं बनाऊंगी । (इस प्रकार उठकर जाना चाहती है ।)

राजा—हे सुन्दरी ! अभी दिन नहीं बीता है और तुम्हारे शरीर की यह दशा है । कमलिनी के पत्तों से निर्मित है स्तनों का आवरण जिसमें ऐसी कुसुम-शैया को छोड़कर सन्ताप से कोमल अङ्गों से आतप में किस प्रकार जाओगी ? ।।२०।।

(इस प्रकार बलपूर्वक रोकता है ।)

शकुन्तला—हे पुरुवंशी ! अविनय छोड़ो । मदन से सन्तप्त भी मैं अपने पर अधिकार नहीं रखती !

टिप्पणी—१९वें श्लोक में उपमा एवं परिणाम अलंकार हैं । वसन्ततिलका छन्द है ।

माला नामक नाट्य भूषण है । "माला स्यादभीष्टार्थ प्रकाशनम्" भरत
आराधयिता (आ+राध+णिच् स्वार्थे)
सञ्चारयामि (सम्+चल+णिच्=लट्-मि)
करभोरु (करभ+ऊरु+अङ्)
संवाहयामि (सम्+वह+णिच्)
अनिर्वाणः (निर्+वा=क्त निर्वाणः, न निर्वाणः)
आतपः (आतपयति इति, आ+तप+अच्)
२०वें श्लोक में परिकर एवं काव्यलिंग अलंकार हैं ।

राजा—भीरु अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः । अपि च,

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ॥२१॥

अन्वयः—बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः गान्धर्वेण विवाहेन परिणीताः श्रूयन्ते । ताः च पितृभिः अभिनन्दिताः ।

शकुन्तला—मुंच दाव मं । भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं । [मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये ।]

राजा—भवतु, मोच्यामि ।

शकुन्तला—कदा ? [कदा ?]

राजा—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्
कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते
सदयं सुन्दरि ! गृह्यते रसोऽस्य ॥२२॥

अन्वयः—सुन्दरि ! यावत् षट्पदेन अपरक्षितकोमलस्य नवस्य कुसुमस्य इव पिपासता मया ते अस्य अधरस्य रसः सदयं गृह्यते ।

[इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति,
शकुन्तला परिहरति नाट्यभावेन]

(नेपथ्ये)

चक्कवाकवहुए, आमंतेहि सहअरं । उवट्ठिआ रअणी । [चक्रवाकवधूः ! आमन्त्रयस्व सहचरम् । उपस्थिता रजनी ।]

राजा—डरपोक ! गुरुजनों का भय न करो। धर्मज्ञ आदरणीय कुलपति तुम्हें देखकर उस विषय में दोष नहीं पायेंगे । और भी—

अनेक राजर्षि-कन्यायें गान्धर्व-विवाह से विवाहित सुनी जाती हैं और पितृजनों द्वारा उनका अभिनन्दन भी किया गया है ।।२१।।

शकुन्तला—मुझे छोड़ो तो। मैं फिर सखी-जन से अनुमति प्राप्त करूंगी।

राजा—अच्छा, छोड़ दूंगा।

शकुन्तला—कब ?

राजा—हे सुन्दरि ! जब तक भ्रमर के द्वारा अक्षत, कोमल एवं नूतन पुष्प समान तुम्हारे अधर का रस पिपासु मेरे द्वारा नहीं पिया जाता ।।२२।।

(इस प्रकार शकुन्तला के मुख को ऊपर उठाना चाहता है, शकुन्तला अभिनयपूर्वक बचती हे)

(नेपथ्य में)

अरी चक्रवाक-वधू ! अपने सहचर को छोड़ दे। रात्रि आ गई है।

टिप्पणी—२०वें श्लोक में उपदिष्ट नामक नाटक लक्षण सूचित है।

"उपदिष्टं मनोहारिवाक्यं शास्त्रानुसारतः"

विदितधर्मा विदितः ज्ञातः धर्मः यस्य सः विदितधर्मा। समासान्तः अनिय् प्रत्ययः ।

२२वें श्लोक में उपमा अलङ्कार है।

अपरिक्षत (परि+क्षण) (हिंसायाम्) क्त कर्मणि, नञ् तत् पुरुष समासः ।

षट्पदः (षट् + पदानि अस्य इति षट्पदः)

चक्रवाकः (चक्र+वच+घञ् कर्मणि)

शकुन्तला—(ससंभ्रमम्) पोरव ! असंसअं मम सरीरवृत्तं-तोवलंभस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि । जाव विडवं-तरिदो होहि । [पौरव ! असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति । यावद्विटपान्तरितो भव ।]

राजा—तथा । (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति)

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी सख्यौ च)

सख्यौ—इदो इदो अज्जा गोदमी । [इत इत आर्या गौतमी ।]

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) जादे, अवि लहुसंदावाइं दे अंगाइं ? [जाते अपि लघुसंतापानि तेऽङ्गानि ?]

शकुन्तला—अत्थि मे विसेसो । [अस्ति मे विशेषः ।]

गौतमी—इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वच्छे, परिणदो दिअहो । एहि, उडजं एव्व गच्छम्ह । [अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । वत्से ! परिणतो दिवसः । एहि, उटजमेव गच्छामः ।]

(इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ, पढमं एव्व सुहोवणादे मणोरहे कादरभावं ण मुंचसि । साणुसअविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो ? (पदान्तरे स्थित्वा, प्रकाशम्) लदावलअ संदा-वहारअ, आमंतेमि तुमं भूओ वि परिभोअस्स [हृदय ! प्रथम-मेव सुखोपनते मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि । सानुशयविघं-

शकुन्तला—(घबराकर) हे पुरुवंशी ! निश्चय ही मेरे शरीर की स्थिति के जानने के लिये आर्या गौतमी इधर ही आ रही हैं। जब तक वृक्षों की आड़ में छिप जाओ।

राजा—ठीक है। (इस प्रकार अपने को छिपाकर स्थित होता है)।

(इसके पश्चात् पात्र हाथ में लिये गौतमी और दोनों सखियां प्रवेश करती हैं।)

शकुन्तला—मैं कुछ अच्छी हूँ।

गौतमी—इस कुशजल से तुम्हारा शरीर कष्ट-रहित हो जायेगा।

(शकुन्तला के शिर पर जल छिड़ककर) वत्से ! दिन समाप्त हो गया। आओ, कुटीर में ही चलें।

(इस प्रकार प्रस्थान करती है।)

शकुन्तला—(मन ही मन) हे हृदय ! पहले तो मनोरथ के सुख से प्राप्त हो जाने पर कातरता नहीं छोड़ी। अब पश्चात्ताप-युक्त एवं विघ्न को प्राप्त तुम्हारा सन्ताप कैसा ? (कुछ दूर खड़ी होकर, प्रकट में) हे सन्तापहारक लता-

---

टिप्पणी—अनुशयः (अनु + शी + अच् भावे)।

विघटितम् (वि + घट + णिच् + क्त)।

अनुशयेन सह सानुशयम्, सानुशयम् यथा-तथा विघटितम्, सानुशयविघटितम् तस्य सानुशयविघटितस्य।

सन्तापहारक (सन्ताप + हृ + ण्वुल्)।

परिभोगाय (परि + भुज + घञ् भावे)।

टितस्य कथं ते सांप्रतं संतापः ? लतावलय संतापहारक ! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय । (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः)

राजा— (पूर्वस्थानमुपेत्य, सनिःश्वासम्) अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः । मया हि—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः
कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२३॥

अन्वयः—पक्ष्मलाक्ष्याः मुहुः अंगुलिसंवृताधरोष्टम् प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् अंसविवर्तिमुखम् कथम् अपि उन्नमितम् न तुचुम्बितम् ।

क्व नु खलु संप्रति गच्छामि ? अथवा, इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि । (सर्वतोऽवलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि ॥२४॥

अन्वयः—इयम् शिलायाम् तस्याः शरीरलुलिता पुष्पमयी शैया, एष नलिनीपत्रे नखैः अर्पितः क्लान्तः मन्मथलेखः इदम् हस्तात् भ्रष्टम् बिसाभरणम् इति आसज्यमानेक्षणः शून्यात् अपि वेतसगृहात् सहसा निर्गन्तुम न शक्नोमि ।

[आकाशे]

राजन् !

मण्डप ! फिर तुम्हारा परिभोग (सेवन) करने के लिये विदा मांगती हूँ। (इस प्रकार शकुन्तला दूसरी सखियों के साथ निकल जाती है।)

राजा—(पहले स्थान पर जाकर दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये) अहो, मनोरथ का सिद्धियां भी विघ्नों से युक्त होती हैं। क्योंकि मेरे—

सुन्दर नेत्रोंवाली ! (शकुन्तला) के, बार-बार अंगुली से ढक दिया गया है अधरोष्ठ जिसका, मना करने वाले 'नहीं' 'नहीं' शब्दों के अस्पष्ट उच्चारण से जो दीन एवं अभिराम है तथा कन्धे की ओर मुड़े हुए, मुख को किसी प्रकार उठा तो लिया, परन्तु चुम्बन नहीं किया।

अब कहां जाऊं ? या यहीं पर प्रिया द्वारा सेवन करके छोड़े हुए लता-मण्डप में क्षणमात्र ठहरूंगा। (चारों ओर देखकर)

यह शिला पर उस (शकुन्तला) की, उसके शरीर से परिम्लान पुष्पमयी शैया है। यह कमलिनी के पत्ते पर नखों के द्वारा लिखा गया मुर्झाया हुआ मदन-लेख (काम-बाधा का सूचक प्रेम-पत्र) है। यह (उसके) हाथ का गिरा हुआ कमल-नाल का आभूषण है, इस प्रकार आसक्त है दृष्टि जिसकी, ऐसा मैं इस सूने वेत्र-लता-गृह से सहसा निकलने में समर्थ नहीं हूँ ॥२४॥

हे राजन् !

टिप्पणी—२३ वें श्लोक में स्वभावोक्ति एवं काव्यलिंग अलंकार हैं।

विघ्नवत्यः (विघ्नते एभिः इति विघ्नः, वि+हन्+क, करणेपत्रेण ते सन्ति बाहुल्येन आसु इति विघ्नवत्यः, विघ्न+मतुप्।

प्रार्थितार्थाः (प्रकर्षेण अर्थिताः प्रार्थिताः प्र+अर्थि+क्त प्रार्थिताः अर्थाः इति प्रार्थितार्थाः)

सिद्धयः (सिध = क्तिन् भावे)

प्रतिषेधः (प्रति+सिध+घञ् भावे)

अभिरामम् (अभि समन्तात् रमते अनेन इति, अभि+रम्+घञ्)

अंसविवर्ति (अंस+वि+वृत्+णिनि)

टिप्पणी—२४ वें श्लोक में विशेषोक्ति एवं विभावना के साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव के कारण सन्देह अलंकार है। चतुर्थ चरण में पुष्पं वाच्यं विशेष-वत्' धनिक की इस उक्ति के अनुरूप पुष्प नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्ग है। शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द है।

निर्गन्तुम् (निर्+गम्+तुमुन्)

सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते

वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः ।

छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः

संध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२५॥

अन्वयः—सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते हुताशनवतीम् वेदीं परितः प्रयस्ताः संध्यापयोदकपिशाः भयम् आदधानाः पिशिताशनानाम् छायाः बहुधा चरन्ति ।

राजा—अयमयमागच्छामि ! [इति निष्क्रान्तः]

इति तृतीयोऽङ्कः ।

सायंकाल के समय यज्ञकर्म के आरम्भ होने पर प्रज्ज्वलित अग्नि से युक्त वेदी के चारों ओर फैली हुई संध्या-काल के मेघों के समान पिङ्गल वर्ण वाली एवं भयोत्पादक मांस-भोजियों (राक्षसों) की छायायें बार-बार चक्कर लगा रही हैं।

राजा—मैं आ रहा हूं। (निकल जाता है।)

तृतीय अंक समाप्त।

टिप्पणी—२५वें श्लोक में काव्यलिंग एवं उपमा अलंकार हैं। वसन्ततिलका छन्द है।

संप्रवृत्ते (सम+प्र+वृत्+क्त कर्तरि संप्रवृत्तम् तस्मिन्)

हुताशनवतीम् (अश्नातीति अशनः, हुतस्य अशनः हुताशनः, तद्वतीम्)

आदधानाः (आ+धा+शानच् कर्तरि)

तृतीय अंक समाप्त।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ)

अनसूया—पिअंवदे, जइ वि गंधव्वेण विहिणा णिव्वुत्त-कल्लाणा सउंदला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्ते ति णिव्वुदं मे हिअअं, तह वि एत्तिअं चिंतणिज्जं। [प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलानुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्।]

प्रियंवदा—कहं विअ ? [कथमिव ?]

अनसूया—अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अंतेउरसमागदो इदो गदं वुत्तंतं सुमरदि वा ण वेत्ति। [अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतो गतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति।]

प्रियंवदा—वीसद्धा होहि। ण तादिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होंति। तादो दाणि इमं वुत्तंतं सुणिअ ण आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति। [विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृति-विशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति।]

अनसूया—जह अहं दक्खामि, तह तस्स अणुमदं भवे। [यथाहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत्।]

प्रियंवदा—कहं विअ ? [कथमिव ?]

अनसूया—गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्व एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो। [गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति ननु अप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः।]

चतुर्थ अंक

(तदनन्तर फूल चुनने का अभिनय करती हुयी दोनों सखियां प्रवेश करती हैं)

अनसूया—प्रियंवदा, यद्यपि गान्धर्व-विधि से सिद्ध मनोरथ वाली शकुन्तला योग्य पतियुक्त हो गयी है, इससे मेरा हृदय संतुष्ट हो गया है तो भी यह बात चिन्तनीय है।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया—आज वह राजा (दुष्यन्त) यज्ञ को समाप्त कर ऋषियों से विदा लेकर अपने नगर में प्रवेश कर अन्तःपुर में जाकर इस पूर्व वृतान्त को स्मरण करेगा या नहीं ?

प्रियंवदा—निश्चिन्त रहो। वैसी आकृतिविशेष गुण की विरोधी नहीं होतीं। (परन्तु) तात (कण्व) इस वृतान्त को सुनकर न जाने क्या सोचेंगे ?

अनसूया—जैसा मैं देखती हूँ, उनका अनुमोदन होगा।

प्रियंवदा—वह कैसे ?

अनसूया—कन्या गुणवान् को देनी चाहिए यह पहले ही से संकल्प है। उसका यदि भाग्य ही सम्पादन कर देता है तब निश्चय ही बिना प्रयास के गुरुजन कृतार्थ हो गये।

टिप्पणी—कुसुमावचयम् (कुसुमानाम् अवचयम् अव+चि+अच्)

गुणविरोधिनः (गुणान् विरुन्धन्ति, इति) गुण+वि = रुध + णिनि प्रत्ययः।

गुणवते—(गुणाः सन्ति अस्य, गुण+मतुप् , चतुर्थी विभक्ति)

अप्रयासेन—(न प्रयासः अप्रयासः तेन—प्र+यस+घञ)

प्रियंवदा— (पुष्पभाजनं विलोक्य) सहि। अवइदइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइ। [सखि! अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।]

अनसूया—णं सहीए सउंदलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ। [ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया।]

प्रियंवदा—जुज्जदि। (युज्यते)

(इति तदेवं कर्मारभेते)

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः।

अनसूया—[कर्णं दत्त्वा] सहि अविधीणं विअ णिवेदिदं [सखि! अतिथीनामिव निवेदितम्।]

प्रियंवदा— णं उडजसंनिहिदा सउंदला। (आत्मगतम्) अज्ज उण हिअएण असंणिहिदा। [ननूटजसनिहिता शकुन्तला। अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता]।

अनसूया—होदु, अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं। [भवतु; अलमेतावद्भिः कुसुमैः।)

(इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये)

आः अतिथिपरिभाविनि!

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥

अन्वयः—अनन्यमानसा यं विचिन्तयन्ती उपस्थितं तपोधनं मां न वेत्सि, स प्रमत्तः प्रथमं कृतां कथाम् इव बोधितः अपि सन् त्वां न स्मरिष्यति।

प्रियंवदा—(फूलों के पात्र को देखकर) सखि, बलि-कर्म के लिये पर्याप्त फूल हमने चुन लिये।

अनसूया—निश्चय ही, सखि शकुन्तला के सौभाग्य-देवता की पूजा की जानी है।

प्रियंवदा—ठीक हैं।

(दोनों उसी कार्य को प्रारम्भ करती हैं)

(नेपथ्य में)

अरे यह मैं (हूं)।

अनसूया—(सुनकर) अतिथि का-सा निवेदन है।

प्रियंवदा—कुटी पर शकुन्तला है। आज हृदय से अनुपस्थित है।

अनसूया—बस इतने ही पुष्प रहने दो।

(प्रस्थान करती है।)

(नेपथ्य में)

अरी, अतिथि का तिरस्कार करने वाली,

जिसको अनन्य मन से स्मरण करती हुई, उपस्थित मुझ तपस्वी को नहीं जान रही है वह तेरे याद दिलाने पर भी तुझे स्मरण नहीं करेगा जैसे उन्मत्त-पूर्व कही बात को (स्मरण) नहीं करता॥१॥

टिप्पणी—असन्निहिता (सम्+नि+धा+क्त, संनिहिता, न संनिहिता, असंनिहिता)

प्रथम श्लोक में काव्यलिंग, उपमा एवं श्लेष अलंकार हैं। वंशस्थ छन्द है।

अनन्यमानसा (मनः एव मानसम्, मनस्+अण्—अनन्यम् मानसम्, यस्याः सा, बहुव्रीहि समासः)

प्रियंवदा—हद्धी, हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं । कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउंदला । (पुरोऽवलोक्य) ण हु जस्सिं कस्सिं पि । एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी। तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो । को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहवदि ? [हा धिक्, हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला । (पुरोऽवलोक्य) न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः । तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः । कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति ?]

अनसूया—गच्छ। पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि । [गच्छ । पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि ।]

प्रियंवदा—तह [तथा ।] (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया— (पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अव्वो ! आवेग-क्खलिदाए गईए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं [अहो ! आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम् ।] (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)

(प्रविश्य)

प्रियंवदा—सहि, पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि ? किं वि उण साणुक्कोसो किदो। [सखि ! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति ? किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः ।]

अनसूया—(सस्मितम्) तस्सिं बहु एव्वं पि कहेवि । [तस्मिन्बह्वेतदपि कथय ।]

प्रियंवदा— जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए—भअवं । पढमं त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदव्वो । यदा निर्वर्तितुं

हाय ! हाय ! अनर्थ हो गया। किसी पूजनीय व्यक्ति के प्रति शून्य हृदय-वाली शकुन्तला ने अपराध कर दिया। (सामने देखकर) किसी साधारण व्यक्ति के प्रति नहीं है, यह तो शीघ्र क्रोधित दुर्वासा ऋषि हैं। इस प्रकार शाप देकर वेग की शक्ति से युक्त, रोकने में कठिन गति से लौटे जा रहे है। अग्नि के अतिरिक्त जलाने में अन्य कौन समर्थ है ?

अनसूया—जा पैरों में प्रणाम करके इन्हें लौटा ले, तब तक मैं अर्घ और जल तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा—ऐसा ही हो, (निकल जाती है।)

अनसूया—(दूसरे पग पर लड़खड़ाने का अभिनय कर) आवेग के कारण लड़खड़ाती गति से मेरे हाथ के अग्रभाग से फूलों का पात्र गिर गया। (पुष्प-चयन करने का अभिनय करती है।)

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—सखि ! स्वभाव से कुटिल वह किसका अनुनय ग्रहण करता है। पुनरपि वह क्रोध रहित किया गया।

अनसूया -(मुस्कराते हुए) उससे इतना भी बहुत है। कहो।

प्रियंवदा—जब लौटने की इच्छा नहीं की, तब मैंने प्रार्थना की। भगवन् !

टिप्पणी—पूजार्हे (पूजाम् अर्हति, इति पूजार्हः तस्मिन्, पूजा+अर्ह+अच्)

अपराद्धा (अप+राध+क्त कर्त्तरि)

सानुक्रोशः (अनुक्रोशेन कृपया सह, सानुक्रोशः, अनु+क्रुश+घञ्)

नेच्छति तदा विज्ञापितो मया—भगवन्! प्रथम इति प्रेक्ष्या-ऽविज्ञाततपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षितव्य इति)

अनसूया—तदो तदो ? (ततस्ततः ?)

प्रियंवदा—तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णारिहदि। किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मंतअं ता सअं अंतरिहिदो। [ततो मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति, किंत्वभिज्ञाना-भरणादर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः।)

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा सपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुलीअअं सुमरणीअंत्ति सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोवाआ सउंदला भविस्सदि। (शक्यमिदानीमाश्वा-सयितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कित-मङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।)

प्रियंवदा—सहि, एहि देवकज्जं दाव णिव्वत्तेम्ह। (सखि! एहि, देवकार्यं तावन्निर्वर्तयावः।)

(इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) अणसूए, पेक्ख दाव। वामहत्थोव-हिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही। भत्तुगदाए चिंताए अत्ताणं पि ण एसा विभावेदि। किं उण आअंतुअं ? [अनसूये! पश्य तावत्, वामहस्तोपहितवदनालिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति। किं पुनरागन्तुकम् ?]

तप के प्रभाव को न जानने वाली पुत्रियों के प्रथम अपराध को क्षमा कर देना चाहिये ।

अनसूया—तब क्या हुआ ?

प्रियंवदा—मेरा वचन असत्य होने योग्य नहीं है परन्तु पहचान के आभरण के दर्शन से शाप निवर्तित हो सकता है, ऐसा कहते हुये वह स्वयं अन्तर्धान हो गये ।

अनसूया—अब धैर्य धारण किया जा सकता है । उस राजा ने स्वयं जाते समय अपने नाम से युक्त अंगूठी स्मृति रूप में (इसे) पहनाई थी । उससे शकुन्तला उपाय में स्वतन्त्र हो जायेगी ।

प्रियंवदा—सखि, आओ ! तब तक देवपूजा समाप्त कर लें ।

(दोनों घूमती हैं)

प्रियंवदा—(देखकर) अनसूया, देखो तो वाम हाथ पर मुख रखे हुये प्रिय सखि चित्रलिखित-सी है । पति में लगे हुये ध्यान वाली अपने को भी नहीं जानती है । फिर आने वाले को तो क्या (जानती) ?

टिप्पणी—अन्तर्हितः (अन्तर+धा+क्त)
संप्रस्थितेन (सम्+प्र+स्था+क्त)
आगन्तुकम् (आ+गम्+तुमुन्, आगच्छति इति आगन्तुकः, तम्)

अनसूया—पिअंवदे ! दुवेणं एव्व णं णो मुहे एसो वुत्तंतो चिट्ठदु । रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही । (प्रियंवदे ! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी) ।

प्रियंवदा—को णाम उण्होदएण णोमालिअं सिंचेदि ? (को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ?)

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

इति विष्कम्भकः

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः)

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति । (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम् । तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥२॥

अन्वयः– एकतः ओषधीनां पतिः अस्तशिखरं याति, एकतः अरुणपुरःसरः अर्कः आविष्कृतः । तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम् लोकः आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इव ।

अपि च,

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।

अनसूया—प्रियंवदा, निश्चय ही यह वृत्तान्त हम दोनों के मुख में ही रहे। स्वभाव से कोमल प्रिय सखि की निश्चय ही रक्षा करनी चाहिये।

प्रियंवदा—कौन उष्ण जल से नवमालिका को सीचेगा ?

(दोनों निकल जाती है)

विष्कम्भक समाप्त

(तदनन्तर सोकर उठे हुए शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—प्रवास से लौटे हुये पूज्य काश्यप महर्षि कण्व ने समय का निश्चय करने के लिये मुझे आदेश दिया है। तब तक प्रकाश में आकर देखूं रजनी कितनी अवशिष्ट रह गई। (घूमकर देखता है) ओह ! प्रभात (हो गया) क्योंकि—

एक ओर चन्द्रमा अस्ताचल को जा रहा है, दूसरी ओर अरुण (सारथि) को आगे करके सूर्य निकल रहा है; इस प्रकार दो तेजों के एक साथ अस्त और उदय के कारण इस संसार को अपनी दुःख-सुखात्मक अवस्थाओं के विषय में (मानों) शिक्षा दी जा रही है ॥२॥

और भी—चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वह स्मरण करने योग्य शोभा वाली कुमुदिनी मेरी दृष्टि को आनन्दित नहीं करती। प्रियजन के प्रवास से उद्भूत

टिप्पणी—विष्कम्भकः विष्कम्भक के सम्बन्ध में तृतीय अङ्क के अन्तर्गत कहा जा चुका हैं। प्रस्तुत स्थल में दुर्वासा संस्कृत एवं अनुसूया प्राकृत को अपनाते हैं। इसके अतिरिक्त सभी पात्र मध्यम श्रेणी के हैं। इसलिये यहां शुद्ध विष्कम्भक कहा जायगा।

यहां तुल्ययोगिता, समासोक्ति, यथासंख्य एवं उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

एकतः--(यहां सप्तमी के अर्थ में तसि प्रत्यय है)

अस्तशिखरम्—(अस्तस्य अस्ताचलस्य शिखरम्)

ओषधीनाम्—ओषः पाकः धीयते, अस्याम् इति ओषधिः, ओष+धा+क्ति)

आविष्कृतः—(आविस्+कृ+क्त)

अरुणपुरःसरः— (पुरः अग्रे सरति गच्छति, इति पुरःसरः, पुरस्+सृ+ट, अरुणः पुरःसरः यस्य सः)

अर्कः—(अर्च्यते इति अर्कः, अर्च+घञ्)

द्वितीय श्लोक में समासोक्ति, काव्यलिङ्ग एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं। वसन्ततिलका छन्द है !

अन्तर्हिते--(अन्तर+धा+क्त, सप्तमी)

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥३॥

अन्वयः – शशिनि अन्तर्हिते सा एव कुमुदवती संस्मरणीयशोभा (सती) मे दृष्टिं न नन्दयति। नूनं इष्टप्रवासजनितानि अबलाजनस्य दुःखानि अतिमात्रसुदुःसहानि।

अपि च,

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात्खुरविलिखितादुत्थितश्चैष सद्यः
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गमायच्छमानः ॥४॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया—जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स वि जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउंदलाए अणज्जं आअरिदं। [यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्यापि जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्।]

शिष्य—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि।

[इति निष्क्रान्तः]

अनसूया—पडिबुद्धा वि किं करिस्सं? ण मे उइदेसु वि णिअकरणिज्जेसु हत्थपाआ पसरंति। कामो दाणिं सकामो होदु, जेण असच्चसंधे जणे सुद्धहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा, दुव्वाससो कोवो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मंतिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि? ता इदो अहिण्णाणं अंगुलीअअं से विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअदु? णं सहिगामी दोसो त्ति व्ववसिदा वि ण पारेमि, पवासपडिणिउत्तस्स तादकस्सवस्स दुस्संतपरिणीदं

अबलाओं के दुःख निश्चित ही अत्यन्त असहनीय होते हैं ।।३।।

(बिना परदा उठाये हुए प्रवेश करके)

अनसूया—यद्यपि विषयों से पराङ्मुख (मुझको) यह ज्ञात नहीं है फिर भी उस राजा ने शकुन्तला के प्रति अनुचित आचरण किया है।

और भी—प्रातःकालीन सन्ध्या बेर की झाड़ियों पर पड़ी ओस की बूंदों को लाल रंग का बना रही है। जागा हुआ मोर कुश-निर्मित कुटी की छत को छोड़ रहा है। खुर से खोदे हुए यज्ञ-वेदी के किनारे से उठा हुआ यह मृग अपने अङ्गों को फैलाता हुआ पीछे की ओर से उठ रहा है। (स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं मन्दाक्रान्ता छन्द है।)

शिष्य—तब तक गुरु से निवेदन करता हूँ कि यक्ष का समय हो गया।

(निकल जाता है)

अनसूया—जागी हुयी भी (मैं) क्या करूं ? उचित दैनिक कार्यों में भी मेरे हाथ-पांव नहीं चलते, अब कामदेव सफल मनोरथ वाले हों, जिसने असत्य प्रतिज्ञा वाले व्यक्ति में मेरी सखी का प्रेम या विश्वास कराया अथवा दुर्वासा का शाप विपरीत आचरण करा रहा है। अन्यथा कैसे वह राजर्षि (दुष्यन्त) वैसी बातें कहकर इस समय तक लेख, पत्रादि नहीं भेजता। अतः यहां से चिन्ह-स्वरूप अंगूठी को उसके पास भेजते हैं। कष्टपूर्वक जीवन वाले कौन तपस्वी प्रार्थनीय हैं ? निश्चय ही सखी का दोष है। अतः उद्यत हुए भी प्रवास से लौटे हुए तात कण्व से दुष्यन्त के द्वारा परिणीत व गर्भ को धारण कराई हुई शकुन्तला का निवेदन

टिप्पणी—सुदुःसहानि (सु+दुः+सह्+खल्)

यहां शकुन्तला के दुष्यन्त के समीप जाने का अर्थ गूढ़ होने के कारण तृतीय पताका स्थानक है।

❀ निर्णय सागर संस्करण में 'करिष्यामि' के स्थान पर 'करिष्ये' (करूंगी) पाठ है।

तपस्विजने (तपस्विनाम् जनः समूहः तस्मिन्)

आपन्नसत्त्वाम् (सत्त्वम् आपन्ना, आपन्नसत्त्वा ताम्, तत्पुरुष समासः)

❀ निर्णय सागर संस्करण में 'करणीयेषु' के स्थान पर कार्येषु' पाठ है।

आवण्णसत्तं सउंदलं णिवेदिदुं । इत्थंगए अम्हेहिं किं करणिज्जं ? [प्रतिबुद्धापि किं करिष्यं ? न म उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपाद प्रसरति । काम इदानीं सकामो भवतु । येनासत्यसंधे जने शून्यहृदया सखी पद कारिता । अथवा, दुर्वाससः कोप एष विकारयति । अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति ? तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः । दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् ? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि, प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम् । इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम् ?]

[प्रविश्य]

प्रियंवदा—[सहर्षम्] सहि, तुवर सउंदलाए पत्थाणकोदुअं णिव्वत्तिदुं । [सखि] त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम् ।]

अनुसूया—सहि, कहं एदं ? [सखि ! गथमेतत् ?]

प्रियंवदा—सुणाहि । दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउंदलासआसं गदम्हि । तदो जाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकस्सवेण एव्वं अहिणंदिदं–दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्व आहुदी पडिदा । वच्छे, सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जा संवुत्ता । अज्ज एव्व इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो सआसं विसज्जेमित्ति । [शृणु, इदानीं सुखशयितपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गतास्मि । ततो यावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम्—दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामि—इति ।]

करने को समर्थ नहीं पा रही हूं। ऐसी परिस्थिति में हमारे द्वारा क्या करना चाहिये ?

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा—(हर्ष सहित) सखि, शकुन्तला का प्रस्थान-कार्य पूरा करने के लिये शीघ्रता कर।

अनसूया- सखि, यह कैसे ?

प्रियंवदा सुन, 'रात में कष्ट रहित शयन हुआ या नहीं' यह जानने के लिये शकुन्तला के पास गयी थी, तब पिता काश्यप ने लज्जा से झुके मुख वाली शकुन्तला का आलिङ्गन करके कहा— भाग्य से धूम से व्याकुल दृष्टि वाले यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी। पुत्री ! योग्य शिष्य को दी गयी विद्या की भांति तुम अशोचनीया हो। आज ऋषियों से रक्षित तुम्हें पति के पास भेज दूंगा।

टिप्पणी सुखशयितपृच्छिका (सुखेन शयितम् सुखशयितुम्, तत् पृच्छति इति, शी+क्त भावे शयितम्, सुखशयित+पृच्छ+ण्वुल् स्त्रियाम्)

अनसूया—अह केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तंतो ? [अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः ?]

प्रियंवदा—अग्गिसरणं पविट्ठस्स शरीरं विणा छंदोमईए वाणिआए। (अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं बिना छन्दोमय्या वाण्या।)

(संस्कृतमाश्रित्य)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥५॥

अन्वयः—ब्रह्मन्, दुष्यन्तेन आहितं तेजः भुवः भूतये दधानां तनयाम् अग्निगर्भां शमीमिव अवेहि।

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि ! पिअं मे; किंदु अज्ज एव्व सउंदला णीअदित्ति उक्कंठासाधारणं परितोसं अणुहोमि। [सखि ! प्रियं मे; किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि।]

प्रियंवदा—सहि, आवां दाव उक्कंठं विणोदइस्सामो। सा तवस्सिणी णिव्वुदा होदु। [सखि ! आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृता भवतु।]

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलंविदे णारिएरस मुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालंतरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसंणिहिदं करेहि। जाव अहंपि से मिअलोअणं तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआणित्ति मंगलसमालंभणाणि विरएमि। [तेन ह्येतस्मिश्चूतशाखावलम्बिते नालिकेरसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्तसंहितां कुरु। यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भानि विरचयामि।

अनसूया—किसने तात काश्यप को यह वृत्तान्त बताया ?

प्रियंवदा—अग्निशाला में प्रविष्ट होने पर छन्दोमयी वाणी के द्वारा।

(संस्कृत का आश्रय लेकर)

हे ब्रह्मन्, दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज को पृथ्वी के कल्याण के लिये धारण करने वाली दुहिता को अग्नि है गर्भ में जिसके ऐसे शमी-वृक्ष के समान समझो ॥४।

अनसूया— (प्रियंवदा का आलिङ्गन करके) सखि, यह मेरा प्रिय है; किन्तु आज ही शकुन्तला ले जाई जा रही है। अतः (जाने के कारण) विषादयुक्त संतोष का अनुभव कर रही हूँ।

प्रियंवदा—सखी, हम दोनों दुःख को सहन कर लेंगी। वह तपस्विनी सुखी हो।

अनसूया—इस आम्र वृक्ष की डाली में लटकते हुये नारियल की पिटार में इस निमित्त के लिये बहुत काल तक रहने वाली, मेरे द्वारा केसर-पुष्पों की माला रखी गई थी, तो तुम इसको अपने हाथ में लो। तब तक मैं उसके लिये मृग-रोचना, तीर्थ-स्थल की मिट्टी, दूर्वा घास और किसलय आदि माङ्गलिक वस्तु सामग्री को एकत्र करती हूँ।

टिप्पणी—चतुर्थ श्लोक के अन्तर्गत उपमा अलङ्कार है। मार्ग नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है। अनुष्टुप् छन्द है।

अवेहि —(अव+आ+इ लोट् मध्यम पुरुष एकवचन)

अग्निगर्भाम् —(अग्निः गर्भे यस्याः तथा विधाम् बहुब्रीहि समासः)

मङ्गलसमालम्भनानि—(समालभ्यन्ते एभिः इति समालम्भनानि, सम्+आ+लभ+ल्युट्, मङ्गलार्थानि समालम्भनानि अलङ्करणानि, इति मङ्गलसमालम्भनानि)

प्रियंवदा—तह करीअदु। (तथा क्रियताम्।)

(अनसूया निष्क्रान्ता, प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति)

(नेपथ्ये)

गौतमि, आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय।

प्रियंवदा—(कर्णं दत्त्वा) अनुसूय, तुवरसु। एदे खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअंति। [अनसूये ! त्वरस्व, एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषय आकार्यन्ते।]

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया—सहि, एहि, गच्छम्ह। [सखि ! एहि, गच्छावः।]

(इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा—(विलोक्य) एसा सुज्जोदए एव्व सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवाअणकाहिं तावसीहिं अहिणंदीअमाणा सउंदला चिट्ठइ। उपसप्पम्ह णं। [एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठितनोवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसोभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। उपसर्पाव एनाम्।]

(इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापाराऽऽसनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) जादे, भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेईसद्दं लहेहि। [जाते ! भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।]

द्वितीया—वच्छे, वीरप्पसविणी होहि। [वत्से ! वीरप्रसविनी भव।]

तृतीया—वच्छे, भत्तणो बहुमदा होहि। [वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव।]

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

प्रियंवदा—ऐसा ही करो।

(अनसूया निकल जाती है। प्रियंवदा अभिनयपूर्वक फूल ग्रहण करती है।)

(नेपथ्य में)

गौतमी, शार्ङ्गरव आदि को शकुन्तला को ले जाने के लिये आदेश दो।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया, शीघ्रता कर; ये हस्तिनापुर को जाने वाले ऋषि बुलाये जा रहे हैं।

(माङ्गलिक वस्तु हाथ में लिये प्रवेश करके)

अनसूया—सखि ! आओ चलें।

(चारों ओर घूमती हैं)

प्रियंवदा (देखकर) यह शकुन्तला सूर्योदय के समय चोटी से स्नान करके नीवार हाथ में लेकर, स्वस्ति-वाचन का पाठ करती हुई तपस्वियों के द्वारा अभिनन्दित बैठी है। इसके पास चलते है।

(दोनों उसके पास जाती हैं)

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त रूप में आसन पर स्थित शकुन्तला प्रवेश करती है।)

एक तपस्विनी—(शकुन्तला से) पुत्रि ! पति के बहुत आदर-सूचक महादेवी पद को प्राप्त कर।

दूसरी—पुत्रि ! वीर पुत्र को उत्पन्न करने वाली हो।

तृतीय—पुत्रि ! पति के बहुत अधिक सम्मान को प्राप्त कर।

(आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर (सभी) निकल गईं।)

टिप्पणी—**शिखामज्जिता** (शिखायाम् मज्जिता, मस्ज+णिच्+क्त कर्मणि)

प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः (प्रतिष्ठिताः नीवाराः इति प्रतिष्ठितनीवाराः ते हस्ते यासाम् ताभिः, प्रति+इष+क्त, प्रतिष्ठः, नितराम् व्रियन्ते इति नीवाराः, नि+वृ+घञ्)

स्वस्तिवाचनिकाभिः (स्वस्तिवाचनम् प्रयोजनम् यासाम् ताभिः)

बहुमानसूचकम् (बहुमानस्य सम्मानस्य सूचकम्, मन+घञ् भावे मानः)

वीरप्रसविनी (वीर+प्र+सू+इनि)

गौतमीवर्जम् (गौतमी+वर्जि+णमुल्)

सख्यौ—(उपसृत्य) सहि, सुहमज्जणं दे होदु । [सखि ! सुखमज्जनं ते भवतु ।]

शकुन्तला—साग्रयं मे सहीणं । इदो णिसीदह । [स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम् ।]

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय, उपविश्य) हला ! सज्जा होहि । जाव मंगलसमालंभणं विरएम । [हला ! सज्जा भव । यावन्मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः ।]

शकुन्तला—इदं पि बहु मंतव्व । दुल्लहं दाणिं मे सहीमंडणं भविस्सदि त्ति । [इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यतीति ।] (इति बाष्पं विसृजति)

उभे—सहि, उइदं ण दे मंगलकाले रोइदुं ।[सखि ! उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् ।] (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः)

प्रियंवदा—आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि । [आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते ।]

(प्रविश्योपायनहस्तौ)

ऋषिकुमारकौ—इदमलङ्करणम् । अलङ्क्रियतामत्रभवती ।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी—वच्छ णारअ, कुदो एदं ? (वत्स नारद ! कुत एतत् ?)

प्रथमः—तातकाश्यपप्रभावात् ।

गौतमी—किं माणसी सिद्धि ? (किं मानसी सिद्धिः ?)

द्वितीयः—न खलु, श्रूयताम् । तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तला हेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरत इति । तत इदानीं,—

दोनों सखियां— (पास जाकर) सखि ! तुम्हारा अभ्यङ्गस्नान सुखदायक हो ।

शकुन्तला—मेरी सखियों का स्वागत है, यहां बैठो ।

दोनों सखियां—(मंगलपात्रों को लेकर, बैठकर) सखि, तैयार हो जाओ । तब तक हम माङ्गलिक सज्जा करती हैं ।

शकुन्तला —इसे ही बहुत मानो, अब मेरा सखियों के द्वारा अलंकृत होना दुर्लभ हो जायेगा ।

(रोती है)

दोनों सखियां—सखि, इस मङ्गल समय में रोना उचित नहीं है । (आँसुओं को पोंछकर अभिनयपूर्वक सजाती हैं)

प्रियंवदा--आभरणों के योग्य रूप आश्रम में सुलभ प्रसाधनों से विकृत हो रहा है ।

(आभूषणों को हाथ में लेकर प्रवेश करके)

दोनों ऋषिकुमार—यह अलंकार हैं। इस देवी को अलंकृत करो ।

(सब देखकर विस्मित होते हैं)

गौतमी—पुत्र नारद ! यह कहां से मिले हैं ?

प्रथम ऋषि कुमार—पिता काश्यप के प्रभाव से ।

गौतमी तो क्या मानसिक सिद्धि से ?

द्वितीय ऋषि कुमार—कदापि नहीं, सुनो, पूजनीय ऋषि ने आज्ञा दी कि शकुन्तला के लिए वनस्पतियों से पुष्प ले आओ । और तब

टिप्पणी—सज्जा (सज्जते इति सज्जा, सस्ज+अच् कर्त्तरि, स्त्रियाम्)
रोदितुम् (रुद्+तुमुन् भावे)
प्रसाधनैः (प्रसाध्यते एभिः इति तैः, प्र+साध्+णिच्+ल्युट् तृ० बहु०)
विप्रकार्यन्ते (वि+प्र+कृ+णिच् लट्)
वनस्पतिभ्यः (अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयः) तेभ्यः, वन+पति

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥५॥

अन्वयः—केनचित् तरुणा इन्दुपाण्डु माङ्गल्यं क्षौमम् आविष्कृतम् । केनचित् चरणोपभोगसुलभः लाक्षारसः निष्ठ्यूतः अन्येभ्यः आपर्वभागोत्थितैः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः वनदेवताकरतलैः आभरणानि दत्तानि ।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) **हला ! इमाए अब्भुववत्तीए सूइया ते भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छित्ति** (हला ! अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति ।

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति)

प्रथमः—गौतम ! एह्येहि । अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।

द्वितीयः—तथा ।

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ—**अए, अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो । वित्तकम्भपरिअएण अंगेसु दे आहारणविणिओअं करेम्ह ।** (अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः ।

शकुन्तला—**जाणे वो णेउणं ।** (जाने वां नैपुणम् ।)

(उभे नाट्येनालंकुरुतः)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यपः)

काश्यपः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

किसी वृक्ष के द्वारा चन्द्रमा के समान श्वेत माङ्गलिक रेशमी वस्त्र प्रकट किया गया, किसी के द्वारा पैरों के उपयोग के योग्य लाक्षारस दिया गया; अन्य वृक्षों के द्वारा कलाई तक उठे हुए और अपनी नयी खिली कलियों के कारण प्रति-द्वन्द्वी वन-देवताओं के हाथों से आभूषण दिये गये।

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) सखी; इस अनुग्रह से तेरा पति के घर में राज-लक्ष्मी का भोग सूचित होता है।

(शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है।)

प्रथम—गौतम ! आओ। स्नान से उठे हुये काश्यप को वृक्षों की सेवा बतायें।

द्वितीय—ऐसा ही हो।

(दोनों निकल जाते हैं)

दोनों सखियां—अरी, हमने कभी आभूषणों का उपयोग नहीं किया। चित्र-कर्म के परिचय से ही तेरे अङ्गों पर आभूषण सजाती हूं।

शकुन्तला—तुम्हारी निपुणता को जानती हूँ।

(दोनों अलङ्कार पहनाने का अभिनय करती हैं)

तदन्तर स्नान से उठे हुये काश्यप प्रवेश करते हैं)

काश्यप—आज शकुन्तला जायेगी ऐसा सोचकर मेरा हृदय विषाद से भर गया, आँसुओं के प्रवाह के अवरुद्ध होने के कारण मेरा कण्ठ रुंध गया है, चिन्ता के

टिप्पणी—पंचम श्लोक के अन्तर्गत उपमा अलंकार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

क्षौमम् - क्षुमायाः विकारः क्षौमम्, (क्षौमं शाणं वा ब्राह्मणस्यै—वाचस्पति)

माङ्गल्यम् 'माङ्गले साधु माङ्गल्यम् (मङ्गल+अण् स्वार्थिक' माङ्गल+यत्)'

निष्ठ्यूतम् (नि+ष्ठिव+क्त)

प्रतिद्वन्द्विभिः (प्रतिद्वन्द्व+इनि)

अभिषेकोत्तीर्णाय (अभि+सिच्+घञ्, अभिषेकः, उद्+तृ+क्त=उत्तीर्णः, अभिषेकात् उत्तीर्णः, तस्मै)

षष्ठ श्लोक में व्यतिरेक अलंकार एवं शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

संस्पृष्टम् सम्=सम्यक् स्पृष्टम्, संस्पृष्टम्, सम्+स्पृश्+क्त)

स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुशः (स्तम्भिता=अवरुद्धा वाष्पवृत्तिः=अश्रुप्रवृत्तिः, तया कलुषा, स्तम्भ+णिच्+क्त)

शाकुन्तल के प्रसिद्ध चतुर्थ अङ्क के ४ श्लोकों में से यह भी एक है। अन्य तीन इसी अङ्क के १७, १८ एवं १९ श्लोक हैं।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥६॥

अन्वयः—अद्य शकुन्तला यास्यति इति हृदयम् उत्कण्ठया संस्पृष्टम्, कण्ठस्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः, दर्शनं चिन्ताजडम्। अरण्यौकसः मम तावत् स्नेहात् ईदृशम् इदं वैक्लव्यम्, गृहिणः नवैः तनयाविश्लेषदुःखैः कथं न पीड्यन्ते।

(इति परिक्रामति)

सख्यौ—हला सउंदले, अवसिदमंडणासि। परिधेहि संपदं खोमजुअलं। (हला शकुन्तले! अवसितमण्डनासि। परिधत्स्व सांप्रतं क्षौमयुगलम्।)

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौमती—जादे! एसो दे आणंदपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजंतो विअ गुरु उवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स। (जादे! एष त आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः आचरं तावत्प्रतिपद्यस्व।)

शकुन्तला—(सव्रीडम्) ताद, वदामि। (तात! वन्दे।) [इति वन्दते]

काश्यपः—वत्से,

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥७॥

अन्वयः—वत्से, ययातेः शर्मिष्ठा इव, भर्तुः बहुमता भव। त्वम् अपि सम्राजं सुतं सा पुरुम् इव अवाप्नुहि!

गौतमी—भअवं, वरो क्खु एसो, ण आसिसा। [भगवन्! वरः खल्वेषः; नाशिषः।]

काश्यपः—वत्से, इतः सद्योहुताग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

कारण दृष्टि जड़ हो गयी है, मेरी जब स्नेह-वश इतनी विकलता है तब गृहस्थ लोग क्यों न पुत्री के वियोग के नवीन दुःखों से पीड़ित हों ॥६॥

(चूमता है)

दोनों सखियां—तेरा प्रसाधन-कार्य पूर्ण हो चुका। अब रेशमी वस्त्र के जोड़े को पहन।

(शकुन्तला उठकर पहनती है)

गौतमी—पुत्री, यह तेरे पिता आनन्द बहाने वाले नेत्रों से आलिङ्गन करते हुए उपस्थित हैं। अब आचार का पालन कर।

शकुन्तला—(लज्जापूर्वक) पिता जी ! प्रणाम करती हूं।

काश्यप—पुत्रि !

ययाति के द्वारा शर्मिष्ठा के समान पति-प्रिया हो। तू भी चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त कर जिस प्रकार उसने (शर्मिष्ठा) पुत्र को प्राप्त किया ॥७॥

गौतमी—भगवन् ! यह तो निश्चय ही वर है, आशीर्वाद नहीं।

काश्यप—पुत्री, अभी-अभी डाली गयी आहुति से युक्त अग्नि की प्रदक्षिणा करो।

(सब घूमते हैं)

टिप्पणी—अवसितमण्डना (अवसितम् मण्डनम् यस्याः सा बहुव्रीहिः, अव+सि+क्त अवसितम्)

सप्तम श्लोक में उपमा अलंकार है। अनुष्टुप् छन्द है। क्रम नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग एवं आशीः नामक नाट्यालङ्कार है।

प्रदक्षिणीकुरुष्व (प्रदक्षिण+च्वि+कृ+स्व, लोट्)

काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः

समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।

अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै-

र्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥८॥

अन्वयः—वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्त, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः अमी वैतानाः वह्नयः हव्यगन्धैः दुरितम् अपघ्नन्तः त्वां पावयन्तु ।

प्रतिष्ठस्वेदानीम् । (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः ?

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन् ! इमे स्मः ।

काश्यपः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

काश्यपः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः,

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥९॥

अन्वयः—युष्मासु अपीतेषु या प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति, या प्रियमण्डना अपि भवतां स्नेहेन पल्लवं न आदत्ते । वः आद्ये कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः उत्सवः भवति । सा इयं शकुन्तला पतिगृहं याति, सर्वैः अनुज्ञायताम् ।

(कोकिलारवं सूचयित्वा)

अनुमतगमना शकुन्तला

तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।

काश्यप—(ऋग्वेद के छन्द से आशीर्वाद देते हैं।)

वेदी के चारों ओर निश्चित स्थानों वाली समिधाओं से युक्त, प्रान्त भाग में बिछे हुये कुशों से युक्त, यज्ञीय अग्नियां हवि की सुगन्ध से पापों को दूर भगाती हुई तुझे पवित्रता को प्राप्त करायें ॥८॥

अब प्रस्थान करो (दृष्टि डालकर) शार्ङ्गरव आदि कहां हैं ?

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन् ! हम दोनों यह हैं।

काश्यप—बहिन को मार्ग का निर्देश करो।

शार्ङ्गरव—आप इधर चलें।

(सब घूमते हैं)

काश्यप—हे, समीपस्थ तपोवन के वृक्षो !

जो तुम्हें बिना जल पिलाये पहले स्वयं जल नहीं पीती थी, जो अलङ्कारों को प्रेम करने पर भी तुम्हारे स्नेह के कारण कलियों को नहीं तोड़ती थी, प्रथम बार पुष्पों की उत्पत्ति के समय जिसका उत्सव होता था, वही शकुन्तला पति के घर जा रही है, सब आज्ञा दें ॥९॥

(कोयल की ध्वनि सुनने का अभिनय करके)

वन में रहने के कारण बन्धुओं के समान इन वृक्षों के द्वारा शकुन्तला ने

टिप्पणी—८वें श्लोक के अन्तर्गत परिकर अलंकार एवं त्रिष्टुप् (वैदिक) छन्द है।

क्लृप्तधिष्ण्याः (क्लृप्तानि धिष्ण्यानि येषान्ते बहुब्रीहि समासः)

समिद्वन्तः (समिधः सन्ति एषाम् इति समिद्वन्तः समिध्+मतुप्)

अष्टम् श्लोक में समासोक्ति एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अपीतेषु, पीतम्=पानम् अस्ति येषाम्, ते पीताः, न पीताः, अपीताः, तेषु।

प्रियमण्डना (प्रियं मण्डन यस्याः सा, बहुब्रीहि समासः)

दशम श्लोक में परिणाम अलंकार एवं अपरवक्त्र नामक छन्द है।

अनुमतगमना (अनुमतम् गमनम् यस्याः सा बहु० अनु+मन्+क्त) अनुमतम्

परभृतविरुतं कलं यथा
प्रतिवचनीकृतमेभिरिदृशम् ॥१०॥

अन्वयः—वनवासबन्धुभिः तरुभिः इयं शकुन्तला अनुमतगमना, यथा कलं परभृतविरुतम् एभिः ईदृशं प्रतिवचनीकृतम्।

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥११॥

अन्वयः—अस्याः पन्था कमलिनीहरितैः सरोभिः अन्तरः रम्यः छायाद्रुमैः नियमितार्कमयूखतापः, कुशेशयरजोमृदुरेणुः शान्तानुकूलपवनः च शिवः भूयात्।

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी—जादे! णादिजणसिणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं (जाते! ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः। प्रणम भगवतीः।)

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य जनान्तिकम्) हला पिअंवदे! (हला प्रियंवदे।)

णं अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअंतीए दुक्खेण मे चलणा पुरदो पवट्टंति। (नन्वार्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।)

प्रियंवदा—ण केवलं तवोवणविरहकादरा सहि एव्व। तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ। (न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते।)

अनुमति ग्रहण कर ली है, क्योंकि सुन्दर कोयल की वाणी को उन्होंने इस प्रकार प्रत्युत्तर रूप बनाया है । ॥१०॥

(आकाश में)

इसका मार्ग, हरे वर्ण वाली कमलिनियों के कारण हरे (दिखाई देने वाले) तालाबों से मध्य-२ में रमणीय, छाया वाले वृक्षों से अवरुद्ध सूर्य की किरणों का ताप वाला, कमल के पराग तुल्य कोमल धूल युक्त, शान्त व अनुकूल वायु युक्त (तथा) कल्याणकारी हो ॥११॥

(सब आश्चर्य के साथ सुनते हैं)

गौतमी -पुत्री ! बंधुजनों के समान स्नेहयुक्त तपोवन के देवताओं ने तुझे जाने की अनुमति दे दी है । कल्याणी, प्रणाम कर ।

शकुन्तला—(प्रणाम सहित घूमकर, अलग में) सखी प्रियंवदा ! निश्चित ही आर्य-पुत्र के दर्शनों की उत्सुकता होने पर भी आश्रम को छोड़ने के कारण दुःख से मेरे चरण आगे नहीं बढ़ते ।

प्रियंवदा—सखी तपोवन के विरह से केवल तू ही व्याकुल नहीं है । तुझसे विरह उपस्थित होने पर तपोवन की भी वैसी अवस्था दिखाई देती है ।

टिप्पणी—एकादश श्लोक में तुल्ययोगिता, परिकर, हेतु एवं काव्यलिंग अलंकार हैं । वसन्ततिलका छन्द है ।

कुशेशयरजोमृदुरेणुः (कुशे+जले शेते इति कुशेशयः, कुशे+शी+अच्, कुशेशयानाम्=कमलानाम् रजांसि परागाः तैः मृदवः कोमलाः रेणवः यस्मिन् सः)

उग्गलिअदब्भकवला मिश्रा परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।

ओसरिअपंडुपत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ ॥१२॥

[उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तनाः मयूराः ।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥]

अन्वयः—मृग्यः उद्गलितदर्भकवलाः, मयूराः परित्यक्तनर्तनाः लताः अपसृतपाण्डुपत्रा अश्रूणि मुञ्चन्ति इव ।

शकुन्तला—(स्मृत्वा) ताद ! लदावहिणिअं वणज्जोसिणिं दाव आमंतइस्सं । [तात ! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये ।]

काश्यपः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम् । इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला—(लतामुपेत्यालिंग्य) वणज्जोसिणि ! चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इतो गदाहिं साहावाहाहिं । अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी भविस्सं । [वनज्योत्स्ने ! चूतसंगतापि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शखाबाहुभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी भविष्यामि ।

काश्यपः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः ॥१३॥

अन्वयः—प्रथमम् मया तवार्थे एव संकल्पितम आत्मसदृशं भर्तारं त्वं सुकृतैः गता । इयं नवमालिका चूतेन संश्रितवती । सम्प्रति अहम् अस्यां त्वयि च वीतचिन्तः ।

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

मृगों ने दर्भाङ्कुरों को छोड़ दिया है, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया है, लतायें पीले पत्तों को छोड़ती हुयी (मानों) आंसू छोड़ रही हैं ।।१२।।

शकुन्तला—(स्मरण करके) तात, तब तक अपनी भगिनी वनज्योत्स्ना नामक लता से अनुमति ले लूं ।

काश्यप—जानता हूं कि तेरा भगिनी का सा स्नेह है। यह दाहिनी ओर है।

शकुन्तला (लता से चिपट कर) वनज्योत्स्ना, तू आम्र से युक्त है तथापि इधर फैली हुई शाखाओं रूपी बाहुओं से आलिङ्गन कर आज मैं दूरवर्तिनी हो जाऊंगी।

काश्यप—पहिले ही मेरे द्वारा तेरे लिये विचार किये हुये आत्म-सदृश पति को तूने (अपने) पुण्य कर्मों से प्राप्त कर लिया, यह नवमल्लिका आम्र के आश्रय से युक्त हो गयी है, अब मैं तेरे व इसके सम्बन्ध में चिन्तारहित हो गया हूं ।।१३।।

अब यहां से मार्ग पर जाओ।

टिप्पणी—१२ वें श्लोक में उत्प्रेक्षा एवं समासोक्ति अलंकार है। आर्या छन्द है।

उद्गलितदर्भकवलाः—(उद्गलितः दर्भकवलः याभिः ताः बहुव्रीहि समासः)

१३वें श्लोक में समासोक्ति, तुल्ययोगिता, सम एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं। वसन्ततिलका छन्द है।

संश्रितवती—(सम + श्रि + क्त = संश्रित + मतुप्)

वीतचिन्तः—(विशेषेण + ई + क्त, वीताचिन्ता यस्य सः बहुव्रीहि समासः)

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) हला ! एसा दुवे णं वो हत्थे णिक्खेवो। [हला ! एषा द्वयोर्युवयोर्ननु हस्ते निक्षेपः।]

सख्यौ—अअं जणो कस्स हत्थे समप्पिदो? [अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः?] (इति वाष्पं विसृजतः।)

काश्यपः—अनसूये ! अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

शकुन्तला—तात ! एसा उडजपज्जंतचारिणी गब्भमंथरा मिअवहू जदा अणघप्पसवा होइ तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह। [तात ! एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदानघसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ।

काश्यपः—नेदं विस्मरिष्यामः।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) को णु खु एसो णिवसणे मे सज्जइ? [को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते?] इति परावर्तते)

काश्यपः—वत्से।

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

अन्वयः—यस्य कुशसूचिविद्धे मुखे त्वया व्रणविरोपणम् इङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत, सः अयं श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः पुत्रकृतकः ते पदवीं न जहाति।

शकुन्तला (दोनों सखियों के प्रति) सखियो, यह तुम दोनों के हाथ में धरोहर है।

दोनों सखियां—इन जनों को किसके हाथ में समर्पित करती हो ?

(दोनों आसुओं को बहाती हैं)

काश्यप—अनसूया, रोने से बस। तुम दोनों को ही चाहिए कि शकुन्तला को धैर्य बंधाओ।

(सब चारों ओर घूमती हैं)

शकुन्तला—तात ! कुटी के पास घूमने वाली, गर्भ के कारण मन्थर गति वाली यह मृगी जब सुख से प्रसव करे, तब मुझ पर किसी प्रिय निवेदन करने वाले को भेजियेगा।

काश्यप—हम इसे नहीं भूलेंगे।

शकुन्तला—(गति में रुकावट का अभिनय करके) ये कौन है, जो मेरे वस्त्रों से चिपट रहा है।

(घूमती है)

काश्यप—पुत्री !

जिसके कुश के अग्रभागों से विद्ध मुख में घाव को भरने वाला इंगुदी का तेल तेरे द्वारा लगाया जाता था, वह यह श्यामक नामक तृण धान्यविशेष की मुट्ठी से पाला गया (और) पुत्रवत् मृग तेरा रास्ता नहीं छोड़ रहा है।।१४।।

टिप्पणी—१४ वें श्लोक के अन्तर्गत स्वभावोक्ति अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

व्रणविरोपणम् (व्रणानाम् विरोपणम्, वि+रूह+णिच्+ल्युट्)
न्यषिच्यत (नि+सिच्+लङ्+क्त)
कुशसूचिविद्धे—(कुशानाम्—दर्भाणाम् सूचिभिः विद्धे, तत्पुरुष समासः, व्यध+क्त, विद्धः)

शकुन्तला—वच्छ ! किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि ? अचिरप्पसूदाए जणणिए विना वड्ढिदो एव्व । दाणिं पि मए विरहिदं तुम तादो चिंतइस्सदि । णिवत्तेहि दाव । (वत्स ! किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि ? अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव । इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत्)

(इति रुदती प्रस्थिता)

काश्यपः—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
वाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥१५॥

अन्वयः—उत्पक्ष्मणोः नयनयोः उपरुद्धवृत्तिं वाष्पं स्थिरतया विहतानुबंधं कुरु । अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे अस्मिन् मार्गे ते पदानि खलु विषमीभवन्ति ।

शार्ङ्गरवः—भगवन् ! उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् । अत्र संविश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

काश्यपः—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयामः ।

(सर्वे परिक्रम्य स्थिताः)

काश्यपः— (आत्मगतम्) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभि संदेष्टव्यम् ? (इति चिन्तयति)

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) हला, पेक्ख । णलिणीपत्तंतरिदं वि सहअरं अदेक्खंती आदुरा चक्कवाई आरडदि दुक्करं अहं करेमि त्ति तक्केमि ।। (हला ! पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति दुष्करमहं करोमीति तर्कयामि ।)

अनसूया—सहि, मा एव्वं मतेहि (सखि ! मैवं मन्त्रय ।)

शकुन्तला—पुत्र, क्यों सहवास का परित्याग करने वाली का अनुगमन कर रहा है ? शीघ्र ही उत्पन्न करके जननी से रहित (मेरे द्वारा) पाला गया है। इस समय भी मेरे से वियुक्त तेरी तात चिन्ता करेंगे। इसलिए लौट जा।

(रोती हुई प्रस्थान करती है)

काश्यप—ऊपर उठी हुयी बरौनियों से युक्त नयनों की वृत्ति को रोकने वाले अपने निरन्तर बहने वाले आंसुओं को धैर्य धारण करके रोक। जहाँ ऊंचे नीचे भूमि-भाग नहीं दिखाई दे रहे हैं, ऐसे इस मार्ग में तेरे कदम निश्चित रूप से लड़खड़ा रहे हैं ॥१५॥

शार्ङ्गरव—भगवन् ! ऐसा सुना जाता है कि प्रिय-जन का जल तक अनुसरण करना चाहिए। यह सरोवर है। यहां बैठकर आप लौट सकते हैं।

काश्यप—तो इस क्षीर वृक्ष की छाया में थोड़ा बैठ लें।

(सब घूमकर बैठते हैं)

काश्यप—(मन में) आदरणीय दुष्यन्त के योग्य हमारे द्वारा क्या संदेश देना चाहिये ? (विचार करते हैं)

शकुन्तला—(अलग से) सखी, देख कमलिनी के पत्ते में छिपे अपने प्रिय को न देख आतुर चकवी आवाज कर रही है—"मैं दुष्कर कर्म कर रही हूं।"

अनसूया—सखी, यह मत कहो।

टिप्पणी—सहवास परित्यागिनीम् (सहवास+परि+त्यज्+घिनुण्)

१५वें श्लोक के अन्तर्गत काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

उत्पक्ष्मणोः उद्गतानि पक्ष्माणि=लोमानि ययो. तयोः बहुव्रीहि समासः

युक्तरूपम् (अतिशयेन युक्तम् इति युक्तरूपम्, युक्त+रूपम्)

एसा वि पिएण विणा गमेइ एअ्ररिंग विसाअ्रदीहअ्ररं ।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबंधो सहावेदि ॥१६॥

[एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् ;
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ॥]

अन्वयः— एषा अपि प्रियेण विना विषाददीर्घतरां रजनीं गमयति । आशाबन्धः गुरु अपि विरहदुःखं साहयति ।

काश्यपः—शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान् ।

काश्यपः—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैःकुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥१७॥

अन्वयः - संयमधनान् अस्मान् , आत्मनः उच्चैः कुलं च, अस्याः त्वयि कथमपि अबान्धवकृतां तां स्नेहप्रवृत्तिं च साधु विचिन्त्य त्वया इयं सामान्य-प्रतिपत्तिपूर्वकं दारेषु दृश्या। अतः परं भाग्यायत्तम। तद् वधूबन्धुभिः न खलु वाच्यम् ।

शार्ङ्गरवः—गृहीतः संदेशः ।

काश्यपः—वत्से, त्वमिदानीमनुशासनीयासि । वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।

काश्यपः— सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य,—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।

यह प्रिय से रहित विषाद के कारण लम्बी (प्रतीत होने वाली) रात्रि को व्यतीत करती है, आशा का बंधन भारी विरहजन्य दुःख को भी सहन कराता है।१७

काश्यप—शार्ङ्गरव ! तेरे द्वारा शकुन्तला को आगे करके मेरे वचनों को राजा से कहा जाना चाहिये।

शार्ङ्गरव—आप आदेश दीजिये।

काश्यप—संयम धन वाले हमको, और अपने ऊंचे कुल को, और इसके प्रति अपने, बन्धुओं से न किये जाने वाले, उस प्रेम व्यापार को भली-भांति विचार कर तुम्हारे द्वारा यह सामान्य आदर के साथ, पत्नियों में देखी जानी चाहिए. इसके आगे भाग्याधीन है। वह वधु के कुल वालों से नहीं कहा जाना चाहिए।

शार्ङ्गरव—आपका सन्देश ग्रहण कर लिया।

काश्यप—पुत्री, अब तुझे शिक्षा देनी चाहिए। हम वनवासी होने पर भी लौकिक व्यवहार के जानने वाले हैं।

शार्ङ्गरव—प्रशस्त बुद्धियुक्त जनों के लिए निश्चय ही कोई विषय अगोचर नहीं हैं।

काश्यप—वह तुम यहां से पति के घर को प्राप्त कर :—

गुरुओं की सेवा करना, अपनी सपत्नियों के साथ प्रिय सखी के समान व्यवहार करना, पति द्वारा उपेक्षित होने पर भी क्रोधपूर्वक विपरीत कार्य न करना, सेवकों पर उदार बनना, समृद्धियुक्त होने पर गर्व रहित रहना, इस प्रकार की

टिप्पणी—१६वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, आर्या छन्द है।

१७वें श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

संयमधनान् (सम्+यम+अप्, संयमः स एव धनम् येषाम् तान् बहुव्रीहि समासः)

भाग्यायत्तम् (भाग्ये आयत्तम्, आ+यत्+क्त, आयत्तम्)

१८वें श्लोक में रूपक, हेतु, अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। उपदिष्ट नामक नाट्यलक्षण है। शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

शुश्रूषस्व (श्रु+सन्+लोट्)
सपत्नीजने (समानः पतिः यासाम् ताः सपत्न्यः)
विप्रकृता (वि+प्र+कृ+क्त+टाप्)
रोषणतया (रूष्+युच्+तल्+टाप्)

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥१८॥

अन्वयः – गुरून् शुश्रूषस्व, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं मा स्म गमः, परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्सेकिनी (भव)। एवं युवतयः गृहिणीपदं यान्ति, वामाः कुलस्य आधयः।

कथं वा गौतमी मन्यते ?

गौतमी—एत्तिओ बहूजणस्स उवदेसो। जादे एदं खु सव्वं ओधारेहि। [एतावान्वधूजनस्योपदेशः। जाते ! एतत्खलुसर्वमवधारय।]

काश्यपः—वत्से, परिष्वजस्व मां सखीजनं च।

शकुन्तला—ताद, इदो एव्व किं पिअंवदा मिस्साओ सहीओ णिवत्तिस्संति ? [तात ! इत एव किं प्रियंवदामिश्राः सख्यः निवर्तिष्यन्ते ?]

काश्यपः—वत्से ! इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतरुम्मूलिआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं ? (कथमिदानीं तातस्याङ्कात्परिभ्रष्टा मलयतरुन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये ?)

काश्यपः—वत्से ! किमेवं कातरासि ?

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से ! शुचं गणयिष्यसि ॥१९॥

अन्वय – वत्से, त्वम् अभिजनवतः भर्तुः श्लाघ्ये गृहिणीपदे स्थिता, तस्य विभवगुरुभिः कृत्यैः प्रतिक्षणम् आकुला, प्राची इव अर्कं अचिरात् पावनं तनयं प्रसूय च मम विरहजां शुचं न गणयिष्यसि।

युवतियां गृहिणी पद को प्राप्त करती हैं, इसके विपरीत कुल के लिये दुःख उत्पन्न करने वाली होती हैं ।।१८।।

गौतमी का क्या विचार है ?

गौतमी—वधू के लिए इतना (पर्याप्त) उपदेश है। पुत्री ! इस सबको निश्चय ही समझ ।

काश्यप पुत्री, मेरा तथा (दोनों) सखियों का आलिङ्गन कर।

शकुन्तला—पिताजी, यहां से प्रियंवदा आदि सखियां (क्यों) लौट रही हैं ?

काश्यप—पुत्री, ये भी दी जायेंगी । इनका वहां जाना युक्तिसंगत नहीं है, तेरे साथ गौतमी जायेगी ।

शकुन्तला—(पिता का आलिङ्गन करके) किस प्रकार तात की गोद में गिरी (पली) मलयानल द्वारा उन्मूलित चन्दनलता के समान मैं दूसरे देश में जीवन धारण करूंगी ?

काश्यप--बेटी, क्यों व्याकुल होती हो ?

पुत्री ! तुम सत्कुलोत्पन्न पति के प्रशंसनीय गृहिणी पद पर आसीन होकर पति के ऐश्वर्यशाली बड़े-बड़े (यज्ञोत्सवादि) कृत्यों में प्रत्येक क्षण व्यस्त रहकर, सूर्य को उत्पन्न करने वाली पूर्व दिशा के समान शीघ्र ही पवित्र पुत्र को उत्पन्न करोगी (तब) मेरे विरह से उत्पन्न शोक को भूल जाओगी ।।१९।।

टिप्पणी—१९ वें श्लोक में उपमा, समुच्चय एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है। हरिणी छन्द है।

अभिजनवतः—(अभिजन = मतुप षष्ठी विभक्ति)

(शकुन्तला पितुः पादयो पतति)

काश्यपः—यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) हला ! दुवे वि मं समं एव्व परिस्सजह । [हला ! द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम् !]

सख्यौ—(तथा कृत्वा) सहि ! जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमंथरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअंकिअं अंगुलीअअं दंसेहि । [सखि ! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय ।

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकंपिदम्हि । [अनेन संदेहेन वामाकम्पितास्मि ।)

सख्यौ—मा भाआहि । सिणेहो पावसंकी । [मा भैषीः, स्नेहः पापशङ्की ।)

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) ताद, कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं ? [तात ! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ?]

काश्यपः—श्रूयताम्,

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२०॥

अन्वयः-चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा, अप्रतिरथं दौष्यन्तिं तनयं निवेश्य तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा सार्धं शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुनः पदं करिष्यसि ।

(शकुन्तला पिता के चरणों में गिरती है)

काश्यप—मैं जो चाहता हूं वह हो। (मेरी इच्छाये पूर्ण हों)

शकुन्तला—(सखियों के पास जाकर) तुम दोनों मेरा एकसाथ आलिङ्गन करो।

दोनों सखियां—(वैसा करके) सखि ! यदि वह राजा (तुम्हें) पहिचानने में देर करे तो उसे उसके नाम से अङ्कित अंगूठी दिखा देना।

शकुन्तला—तुम्हारे इस सन्देह से मैं भय से कम्पित हो रही हूं।

दोनों सखियां—भयभीत मत हो, प्रेम अमंगल की आशंकायुक्त होता है।

शाङ्‌र्ङ्गरव—सूर्य दूसरे विभाग (मध्याह्न) पर चढ़ गया है। देवी शीघ्रता कीजिये।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुख करके) पिताजी, पुनः कब तपोवन को देखूंगी ?

काश्यप—सुनो,—

चतुः समुद्र पर्यन्त व्याप्त पृथ्वी की बहुत समय तक सपत्नी होकर, वीरता में प्रतिद्वन्दी रहित दुष्यन्त के पुत्र को अभिषिक्त करके, कुटुम्ब का भार उसको सौंप देने वाले पति के साथ (तू) पुनः इस शान्त आश्रम में निवास करेगी। ॥२०॥

टिप्पणी—सविता (सुवति, प्रेरयति, इति सविता, सू+तृच्

२०वें श्लोक के अन्तर्गत मालादीपक अलङ्कार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

दौष्यन्तिम् (दुष्यन्तस्य पुत्रः दौष्यन्तिः तम्, दुष्यन्त+इञ्)

अप्रतिरथम् (नास्ति प्रतिरथः प्रतिद्वन्द्वी यस्य सः तम्, बहुव्रीहि समासः)

निवेश्य (नि+विश्+णिच्+क्त्वा+ल्यप्)

गौतमी--जादे, परिहीअदि गमणवेला। णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मंतइस्सदि। णिवत्तदु भवं। (जाते ! परिहीयत गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैं मन्त्रयिष्यते निवर्ततां भवान्।)

काश्यपः—वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।

शकुन्तला -- (भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कठिदुं। (तपश्चरण पीडितं तातशरीरम्। तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्।)

काश्यपः—(सनिःश्वास म्)

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से ! त्वया रचितपूर्वम् ?
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥२१॥

अन्वयः—वत्से, त्वया पूर्वम् रचितं उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः मम शोकः कथं नु शमम् एष्यति।

गच्छ, शिवास्ते पन्थानः सन्तु।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च)

सख्यौ--(शकुन्तलां विलोक्य) हद्धी हद्धी। अंतलिहिदा सउंदला वणराईए। (हा धिक्, हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।)

काश्यपः— (सनिःश्वासम्) अनसूये ! गतवती वां सहधर्मचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।

उभे—ताद, सउंदलाविरहिदं सुण्णं विअ तवोवणं कहं पविसावो ? (तात ! शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः ?)

गौतमी—पुत्री, जाने का समय निकल रहा है। पिता को भेज दो, अथवा चिरकाल तक पुनः पुनः ऐसे ही कहती रहेगी (अतः) आप (कण्व) लौटिये।

काश्यप—मेरे तप का अनुष्ठान अवरुद्ध हो गया।

शकुन्तला—(पुनः पिता का आलिङ्गन करके) आपका शरीर तपस्या के कारण पीड़ित है अतः मेरे लिए अधिक उत्कण्ठित न हों।

काश्यप—(लम्बी सांस लेकर)

बेटी, तेरे द्वारा पूर्व, पक्षियों के खाने के लिये फैलाये गये कुटी के द्वार पर उगे नीवारों को देखकर मेरा शोक कैसे शान्ति को प्राप्त कर सकता है? ॥२१॥

जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याणयुक्त हो।

(शकुन्तला और उसके साथ जाने वालों का प्रस्थान)

दोनों सखियां—(शकुन्तला को देखकर)। हाय-हाय वन-पंक्तियों ने शकुन्तला को छिपा दिया।

काश्यप—(निःश्वास के साथ) अनसूया! तुम लोगों की धर्म सम्बन्धी कामों की सहचरी गयी। शोक को रोककर मेरा (आश्रम की ओर जाने वाले का) अनुसरण करो।

दोनों—तात, शकुन्तला से विरहित शून्य तपोवन में कैसे प्रवेश करें।

टिप्पणी—२१ वें श्लोक के अन्तर्गत काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।

उटजद्वार विरूढम् (उटजस्य द्वारम उटजद्वारम् तस्मिन् उटजद्वारे विरूढम, तत्पुरुष समासः)।

सहधर्मचारिणी—धर्मं चरति इति धर्मचारिणी, (सह+धर्म+चर+णिनि) एवंदर्शिनी (एवम्+दृश+णिच्+णिनि)

काश्यपः— स्नेहप्रवृत्तिरेवं दर्शिनी । (सविमर्शं परिक्रम्य) हन्त भो शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः,

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥२२॥

अन्वयः—कन्या हि परकीयः एव अर्थः, अद्य तां परिग्रहीतुः संप्रेष्य मम अयम् अन्तरात्मा प्रत्यर्पितन्यास इव प्रकामं विशदः जातः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

काश्यप—प्रेम के आधिक्य के कारण ऐसा ही प्रतीत होता है। (विचारते हुए घूमकर) ओह, शकुन्तला को पति के घर भेजकर मेरे मन को शान्ति हुई क्योंकि, वास्तव में, कन्या दूसरे का ही धन है। उसको आज पति के घर भेजकर मेरी अन्तरात्मा उसी प्रकार निश्चित हो गयी जैसे किसी की धरोहर लौटा दी हो ॥२२॥

(सब निकल जाते हैं)

चतुर्थ अङ्क समाप्त

टिप्पणी—२२वें श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं इन्द्रवज्रा छन्द है।

प्रत्यर्पितन्यासः (प्रत्यर्पितः पुनः अर्पितः न्यासः निक्षेपः येन सः बहुब्रीहि समासः इसका अर्थ है—धरोहर लौटा दी है जिसने।)

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स, संगीतसालंतरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदित्ति। [भो वयस्य! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।]

राजा—तूष्णीं भव। यावदाकर्णयामि।

(आकाशे गीयते)

अहिणवमहुलोलुवो भवं
तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो
महुअर! विम्हरिओ सि णं कहं ॥१॥

[अभिनवमधुलोलुपोभवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥]

अन्वयः—मधुकर, अभिनवमधुलोलुपः त्वं चूतमञ्जरीं तथा परिचुम्ब्य कमलवसतिमात्रनिर्वृतः एनां कथं विस्मृतः असि।

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो? [किं तावद्गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः?]

राजा—(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माढव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।

पञ्चम अंक

(तत्पश्चात् आसनस्थ राजा एवं विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक—(कान लगाकर) हे मित्र ! सङ्गीतशाला में ध्यान दो, धीमे, श्रुतिसुखदायक व शुद्ध रूप से गाये हुये गीत का स्वरालाप सुनाई दे रहा है। ऐसा लगता है कि श्रीमती हंसपदिका गानक्रियाभ्यास कर रही हैं।

राजा—चुप रहो। जिससे मैं सुनूं।

(आकाश में गाया जाता है)

"हे भ्रमर ! आप अभिनय पुष्परस के लोभी आम्र-मञ्जरी का चुम्बन करके कमल में रहने से सुखी हो गये, इसको (आम्र-मञ्जरी) किस प्रकार विस्मृत कर दिया ? ॥१॥

राजा—ओह, अनुराग (प्रेम) को करने वाला गीत है।

विदूषक—क्या उस गीत के शब्दों के अर्थ को जान गये ?

राजा—(सस्मित) एक बार मैंने इससे प्रणय किया था, उसका देवी वसुमती के लक्ष्य से मुझ पर उलाहना है। मित्र माढव्य, हंसपदिका को मेरी ओर से कहो बड़ी निपुणता से मुझे उपालम्भ दिया है।

टिप्पणी—आकर्णयामि (आ सम्यक् कर्णेन गृह्णामि) आ+कर्ण+णिच् लट् मिप्।

प्रथम श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। अपरवक्त्र नामक छन्द है।

विस्मृतः (वि+स्म्+क्त कर्तरि)

कमलवसतिमात्रनिर्वृतः (कमले वसतिः निवासः तन्मात्रेण निर्वृतः सन्तुष्टः सन्, तत्पुरुष समासः कमल में निवासमात्र से सन्तुष्ट)

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (उत्थाय) भो वअस्स, गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहंडए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीदराअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो। [यद्भवानाज्ञापयति। भो वयस्य! गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।]

राजा—गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषकः—का गई? [का गतिः?] (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥२॥

अन्वयः--रम्याणि वीक्ष्य मधुरान् शब्दान् च निशम्य यत् सुखितः अपि जन्तुः पर्युत्सुकीभवति तत (स) नूनं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि अबोधपूर्वं चेतसा स्मरति।

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था ॥३॥

अन्वयः—राज्ञः अवरोधगृहेषु मया आचारः इति अवहितेन या वेत्रयष्टिः गृहीता सा एव बहुतिथे काले गते प्रस्थानविक्लवगतेः मम अवलम्बनार्था जाता।

भोः, कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य, तथापीदानीमेव

विदूषक—जो आपकी आज्ञा। (उठकर) हे मित्र, (जब) वह दूसरी (सेविकाओं) के हाथ से मेरी चोटी पकड़वा कर मुझे मारेगी तब अप्सरा के द्वारा पकड़े गये वीतराग महात्मा की तरह मुझे छुटकारा नहीं मिलेगा।

राजा—जाओ, शिष्टव्यवहार पूर्वक उसे बता दो।

विदूषक—और कोई उपाय नहीं। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

राजा—(मन में क्या बात है मैं भावयुक्त गीत को सुनकर, प्रियजन के विरह से शून्य भी अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ। अथवा रमणीय पदार्थों को देखकर, मधुर शब्दयुक्त गीत को सुनकर सुखी व्यक्ति भी (प्रियजन के विरह से रहित) उत्कण्ठित हो जाता है, तब वह अवश्य ही हृदय में वासना रूप में स्थित जन्मान्तर के प्रणय-व्यवहारों को जाने बिना ही अपने चित्त के द्वारा स्मरण करता है। (इसलिये सुखी व्यक्ति भी भावपूर्ण गीतों को सुनकर क्षुब्ध हो जाता है) ॥२॥

(ऐसा सोचकर व्याकुल होकर बैठता है)

(तत्पश्चात् कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—ओह, मैं निश्चय ही (वृद्धावस्था के कारण) इस दशा को प्राप्त हो गया हूँ।

राजा—(दुष्यन्त) के अन्तःपुर में कुशल मेरे द्वारा नियमपालन के लिये वेत्रलता ग्रहण की गई थी वही अत्यधिक समय व्यतीत हो जाने पर (वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर) जाते समय स्खलित गति वाले मेरा अवलम्बन (शरीर धारण करने के लिये सहारे के रूप में) हो गयी है ॥३॥

ठीक है। महाराज का धार्मिक कृत्यों में विलम्ब नहीं होना चाहिए। फिर

टिप्पणी—द्वितीय श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। वसन्ततिलका छन्द है।

रम्याणि (रम्+यत्)

निशम्य (नि+शम्+क्त्वा+ल्यप्)

जननान्तरसौहृदानि (जननान्तराणाम् अन्येषाम् जन्मनाम सौहृदानि प्रमाणि, सुहृदयस्य भाव: सौहृदम् तानि, सुहृदय+अण्, "हृदयस्य हृव् लेखयदण लाभेषु")

निर्णयसागर संस्करण में 'पर्युत्सुकोभवति' के स्थान पर 'पर्युत्सुकीभवति' उत्कण्ठित होता है) पाठ है।

तृतीय श्लोक में काव्यलिङ्ग, विभावना एवं समाहित अलङ्कार है। वसन्ततिलका छन्द है।

कञ्चुकी (कञ्चुक+इनि)

अनतिपात्यम् (अति+पत+णिच् यत् कर्मणि अतिपात्यम्, न अतिपात्यम्)

प्रस्थानविक्लवगतेः (प्रस्थाने विक्लवा स्खलिताः गति पादक्षेप यस्य तस्य)

धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥४॥

अन्वयः—सकृत् युक्ततुरङ्गः भानुः एव, रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति (एव) सदैव आहितभूमिभारः शेषः (अस्ति) षष्ठांशवृत्तेः अपि एषः धर्मः (वर्तते)।

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवतेऽशान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥५॥

अन्वयः—रविप्रतप्तः द्विपेन्द्रः यूथानि दिवा संचार्य शीतं स्थानम् इव (तथैव राजा) स्व प्रजाः इव प्रजाः तन्त्रयित्वा अशान्तमनाः विविक्तम् निषेवते ।

(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसंदेशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः संप्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।

राजा—(सादरं) किं काश्यपसंदेशहारिणः ?

कञ्चुकी—अथ किम् ?

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः—अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । इति निष्क्रान्तः)

राजा—(उत्थाय) वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

भी अभी धर्मासन से उठे हुये महाराज को पुनः रोकने वाला कण्व के शिष्यों के आगमन का समाचार निवेदन में उत्साहयुक्त नहीं हूँ, अथवा लोकतन्त्र के अधिकार में (को प्राप्त करने पर) विश्राम कहां ? क्योंकि—

एक बार ही घोड़ों को जोड़े हुये सूर्य है, दिन-दिन बहने वाला वायु, बहता है, सदैव भूमि के भार को धारण किये हुये शेषनाग है। प्रजाओं से छठे अंशभाग से निर्वाह करने वाला राजा भी इसी प्रकार का धर्म लिये हुये है। ॥४॥

मैं अपना कर्तव्य पूरा करूं। (इधर-उधर घूमकर व देखकर) यह देव हैं।

जिस प्रकार से तीव्र सूर्य किरणों से सन्तप्त नागराज अपने झुंड को दिनभर घुमा फिराकर शीत प्रधान स्थान में बैठ जाता है, वैसे ही अपनी सन्तानों की भाँति समस्त प्रजा को उचित मार्गों में व्यवस्थित करके थका हुआ यह राजा भी एकान्त का सेवन कर रहा है। ॥५॥

(पास जाकर) महाराज की जय हो। ये हिमालय पर्वत की तराई के अरण्यों में रहने वाले तपस्वी महर्षि काश्यप (कण्व) के सन्देश को लेकर स्त्रियों सहित आये हैं। सुनकर देव जैसा निश्चय करें।

राजा—(आदर सहित) क्या महर्षि कण्व के सन्देशवाहक हैं ?

कञ्चुकी—और क्या ?

राजा—मेरी आज्ञा से आचार्य सोमरात से कहो, इन आश्रमवासियों का वेदोक्त विधि से सत्कार करके स्वयं प्रवेश करायें। मैं यहाँ तपस्वियों के दर्शनों के लिये उपयुक्त स्थान पर बैठा हुआ प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। (ऐसा कहकर निकल जाता है)

राजा—(उठकर) वेत्रवती ! यज्ञशाला का रास्ता बताओ।

प्रतिहारी—इधर से, महाराज इधर से आइये।

टिप्पणी—चतुर्थ श्लोक में मालाप्रतिवस्तूपमा, परिसंख्या अप्रस्तुतप्रशंसा एवं श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार हैं।

तुरङ्गः (तुरेण वेगेन गच्छति, इति तुरङ्गः तुर+गम्+खच् कर्तरि)

रात्रिन्दिवम् (रात्रौ च दिवा च, तयोः समासः)

आहितभूमिभारः (आहितः धृतः भूमेः भारः येन सः)

५वें श्लोक में उपमा एवं यमक अलङ्कार हैं। उपजाति छन्द है।

आदाय (आ+दा+क्त्वा+ल्यप्)

प्रवेशयितुम् (प्र+विश+णिच्+तुमुन्)

उपाध्यायः (उपेत्य अधीयते अस्मात् इति, उप+अधि+इङ्+घञ्

राजा—(परिक्रामति, अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥६॥

अन्वयः—प्रतिष्ठा औत्सुक्यमात्रम् अवसाययति, लब्धपरिपालनवृत्तिः एनं क्लिशनाति। राज्यं आतपत्रम् इव नस्वहस्तधृतदण्डम् अतिश्रमापनयनाय न यथा श्रमाय।

(नेपथ्ये)

वैतालिकौ—विजयतां देवः।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥७॥

अन्वयः—(त्वं) स्वसुखनिरभिलाषः (सन्) लोकहेतोः प्रतिदिनं खिद्यसे, अथवा ते वृत्ति एवं विधा एव। हि पादपः तीव्रम् उष्णम् मूर्ध्ना अनुभवति, छायया संश्रितानां परितापं शमयति।

द्वितीयः—

नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥८॥

अन्वयः—(त्वं) आत्तदण्डः कुमार्गप्रस्थितान् नियमयसि, विवादं प्रशमयसि, रक्षणाय कल्पसे, अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम तु प्रजानां बन्धु कृत्यं त्वयि परिसमाप्तम्।

राजा—(चारों ओर घूमता है, अधिकार जन्य खेद का अभिनय करके) सब लोग इच्छानुसार प्रिय वस्तु प्राप्त कर सुखी होते हैं। परन्तु राजा की (राज्य-प्राप्ति की) इच्छा पूर्ति दुःखदायी है।

प्रतिष्ठा–उच्च पद स्थिति केवल उत्कण्ठा-भर को पूर्ण कर देती है। पालन की उत्तरदायित्वपूर्ण वृत्ति कष्ट ही देती है। राज्य उस छाते के समान है जिसका अपने हाथ में पकड़ा हुआ दण्ड थकान को उतना दूर नहीं करता जितना कि थकान को बढ़ाता है ॥६॥

(नेपथ्य में)

दो स्तुतिपाठक—महाराज की जय हो।

प्रथम—(राजन्) अपने सुख के लिये इच्छा शून्य, केवल लोक के लिये, आप प्रतिदिन कष्ट उठाते हो अथवा यह आपकी सदा की वृत्ति ही है, क्योंकि वृक्ष तीव्र ऊष्मा को अपने सिर से झेलता है किन्तु छाया से अपने आश्रितों की गर्मी को शान्त करता है ॥७॥

दूसरा—आप दण्ड धारण कर कुमार्गों पर जाने वालों को रोकते हैं, कलह को शान्त करते हैं, रक्षा-कार्य में समर्थ होते हैं, अत्यधिक ऐश्वर्य हो जाने पर प्रजाओं के बहुत से स्वजन हो जायें (परन्तु) आप तो प्रजाओं के बन्धुकार्य की (कुमार्ग से रोकना, कलहशमन आदि) समाप्ति हैं। (बांधवों द्वारा किए जाने योग्य कार्यों की पूर्णता आपके द्वारा ही होती है) ॥८॥

टिप्पणी—छठे श्लोक में परिसंख्या, उपमा एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं।

चरितार्थता (चरितः कृतः (लब्धः) अर्थः प्रयोजनम् येन सः चरितार्थः तस्य-भावः)।

प्रतिष्ठा (प्रति+स्था+अङ् भावे)।

लब्धपरिपालनवृत्ति लब्धस्य प्राप्तस्य परिपालने वृत्तिः व्यापारः, तत्पुरुष समासः) प्राप्त हुये की रक्षा-कार्य।

वैतालिकौ विविधाः तालोः विताला, वितालगानम् शिल्पम् अनयोः, विताल+ठक्=वैतालिकौ)।

निर्णयसागर संस्करण में 'यथाश्रमाय' के स्थान पर 'न च श्रमाय' पाठ है। (थकान के लिये)।

सप्तम श्लोक में काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त एवं आक्षेप अलंकार है। मालिनी छन्द है।

स्वसुखनिरभिलाषाः (स्वस्यसुखे निरभिलाषः, तत्पुरुष समासः)।

परिसमाप्तम् (परि+सम्+आप्+क्त), सर्वतोभावेन निष्पन्नमिति भावः)

आत्तदण्डः (आत्तः दण्डः येन सः, बहुव्रीहि समासः)।

निर्णय सागर संस्करण में विमार्ग० के स्थान पर कुमार्ग० पाठ है।

अष्टम श्लोक में व्यतिरेक, काव्यलिङ्ग और दीपक अलंकार हैं।

राजा--एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । (इति परिक्रामति) ।

प्रतिहारी--एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिद-होमधेणू अग्गिसरणालिंदो । आरुहदु देवो, (एषोऽभिनवसम्मार्जनसश्रीकः संन्निहितहोमधेन्वग्निशरणालिन्दः । आरोहतु । देवः ।)

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) वेत्रवति ! किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ?

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित्प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः । ९॥

अन्वयः—उपोढतपसां व्रतिनां तपः विघ्नैः किं तावत् दूषितम् । उत केनचित् धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु असत् चेष्टितम् । आहोस्वित् मम अपचरितैः वीरुधां प्रसवः विष्टम्भितः । इति आरूढबहुप्रतर्कं मे मनः अपरिच्छेदाकुलं (अस्ति) ।

प्रतिहारी—सुचरिदणंदिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअ-देत्ति तक्केमि । (सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि ।)

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः, पुरश्चैष कञ्चुकी पुरोहितश्च)

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः ।

शार्ङ्गरव—शारद्वत !

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरहो
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥१०॥

राजा—क्लान्त मन वाला मैं पुनः उत्साहयुक्त हो गया हूं। (चारों ओर घूमता है।)

प्रतिहारी—यह अभी साफ करके सुन्दर बनाया हुआ, पास ही में हवन के लिये उपयोगी बंधी हुई गाय से युक्त यज्ञशाला का प्रकोष्ठ है। देव चढ़िये।

राजा (चढ़कर, परिजनों (सेवकों) के कंधे का सहारा लेकर खड़ा होता है) हे वेत्रवती! किस कारण से महर्षि काश्यप ने मेरे समीप ऋषियों को भेजा है? क्या तपधारी व्रतधारण करने वाले (ऋषियों) के तप में विघ्न तो नहीं हो रहा है अथवा धर्म का आचरण करने वालों के ऊपर कोई हिंसादि का प्रयोग तो नहीं हो रहा है, क्या मेरे बुरे आचारों के कारण वन की लताओं का प्रसव तो नहीं रुक गया? इस प्रकार तर्क-वितर्कों से युक्त मेरा मन व्याकुल है ॥९॥

प्रतीहारी—मैं समझती हूं आपके अच्छे व्यवहार से प्रसन्न ऋषि-लोग महाराज का अभिनन्दन करने के लिये आये हैं।

(तत्पश्चात् गौतमी सहित, शकुन्तला को आगे किये हुए मुनि-गण आते हैं। आगे कञ्चुकी व पुरोहित)।

कञ्चुकी—आप लोग इधर उधर से आइये।

शार्ङ्गरव—शारद्वत, "आश्चर्य है कि मर्यादापालक राजा अत्यधिक भाग्यशाली है जो (इसके राज्य में नीच जाति के पुरुष भी बुरे रास्ते पर नहीं जाते।

टिप्पणी—नवम् श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार एवं शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

व्रतिनाम् (व्रत+इनि)

अपोढ़तपसाम् (उप+वह+क्त कर्मणि, उपोढम् प्रारब्धम् तपः यैः तेषाम्) राघवभट्टमते तु, उपोढमधिकम तपः येषाम् तेषाम्।

अपचरितैः (अप+चर+त्य भावे)

अपरिच्छेदाकुलम् (परि+छिद्+घञ् भावे, परिच्छेदः न परिच्छेदः अपरि-) च्छेदः तेन आकुलम्)

सुचरितनन्दिनः (चर+त्य भावे, चरितानि, सु शोभनानि चरितानि सुचरितानि, तैः साधु नन्दन्ति इति सुचरित+नन्द+णिनि, सुचरितनन्दिनः)

सभाजयितुम् (सभाज चुरादि+णिच्स्वार्थे+तुमुन्)

महाभाग (महान् भागः औदार्य्यादि गुणसमवापः यस्य सः)

१० वें श्लोक में विभावना, विशेषोक्ति एवं उपमा अलङ्कार हैं। शिखरिणी छन्द है।

अन्वयः अहो यद्यपि अभिन्नस्थितिः नरपतिः कामम् महाभागः वर्णानाम् अपकृष्टः अपि कश्चित् अपथं न भजते, तथापि इदं जनाकीर्णं शश्वत्परि-चितविविक्तेन मनसा हुतवहपरीतं गृहम् इव मन्ये।

शारद्वतः—जाने भवान्पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि,—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्धः इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥११॥

अन्वयः—सुखसङ्गिनं जनं इह अवैमि स्नातः अभ्यक्तमिव, शुचिः अशुचिमिव, प्रबुद्धः सुप्तमिव, स्वैरगतिः बद्धमिव।

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अम्महे, किं मे वामेदरं णअणं विस्फुरदि? [अहो, किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति?]

गौतमी—जादे। पडिहदं अमंगलं। सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरंदु। [जाते! प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु।] (इति परिक्रामति)

पुरोहितः— (राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः! असावत्रभवन् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण! काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः कुतः,-

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥१२॥

अन्वयः—तरवः फलागमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति)। सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः (भवन्ति) परोपकारीणां एषः स्वभाव एव।

फिर भी लोगों से भरे प्रांगण को निरन्तर एकान्तवासी मैं, मन से अग्नि-ज्वालाओं, से घिरे स्थान के समान समझता हू ।।१०।।

शारद्वत—मैं समझता हूं कि आप नगर में आने के कारण इस प्रकार (उद्विग्न) हो गये हैं । मैं भी—

सांसारिक-भोगों मे लिप्त लोगों को उसी प्रकार समझता हूँ कि जैसे स्नान किया पुरुष तैलानुलिप्त को, शुद्ध अशुद्ध को, जागा हुआ सोते को, ज्ञानी अज्ञानी को) स्वाधीन गति वाला पराधीन का समझता है ।।११।।

शकुन्तला—(अपशकुन सूचित कर) क्यों यह मेरी दायीं आंख फड़कने लगी ?

गौतमी—पुत्री ! तेरा अमगल नष्ट हो । तेरे पति-कुल के देवता तुझे सुख दें । (घूमती है)

पुरोहित—(राजा को दिखाकर) देखो यह वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) और आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) के रक्षक पहले से ही आसन छोड़कर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

शार्ङ्गरव—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! भले यह कार्य प्रशंसनीय है फिर भी हम इस विषय में तटस्थ हैं, क्योंकि—

पादप फलों के आने (फलोत्पत्ति से) अधोमुखी (नीचे झुक जाते हैं) हो जाते हैं । बादल नवीन जल-युक्त होकर बहुत नीचे झुक जाते हैं । सज्जन धन-सम्पत्ति से विनीत होते हैं । परहित-लग्न व्यक्तियों का यह स्वाभाविक धर्म ही है ।।१२।।

टिप्पणी—सुखसङ्गिनम् (सुख सङ्गः यस्यास्ति, इति सुखसङ्गी, तम् , इनि प्रत्यय) ।

अभ्यक्तम्—(अभि+अञ्ज+क्त)

११वें श्लोक मे मालोपमा अलंकार है ।

रक्षिता—(रक्ष+तृन् साधु रक्षतीति)

मध्यस्थाः—(मध्ये तिष्ठन्ति, इति, मध्य+स्था+क)

दूरविलम्बिनः—(दूरं साधु विलम्बन्ते इति, दूर+वि+लम्ब+णिनि)

परोपकारिणाम्—(परेषामुपकारः परोपकारः सः अस्ति एषाम् इति परोपकारिणाम्, परोपकार+इनि)

१२वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास, माला प्रतिवस्तूपमा, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं ।

प्रतीहारी-- देव ! पसएणमुहवएणा दीसंति । जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ । [देव ! प्रहन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते । जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः ।]

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती,—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

अन्वयः--पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयमिव तपोधनानां (मध्ये) अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या का स्वित् (वर्तते)।

प्रतीहारी--देव ! कुतूहलगम्भोपहिदो ण मे तक्को पसरदि । णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि । [देव कुतूहलगर्भोपहितो न मे तर्कः प्रसरति । ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते ।]

राजा--भवतु, अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् ।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा, आत्मगतम्) हिअअ ! किं एव्वं वेवसि ? अज्जउत्तस्स भावं ओहारिअ धीरं दाव होहि । [हृदय ! किमेवं वेपसे ? आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद्भव।]

पुरोहितः— (पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः । कश्चिदेषामुपाध्यायसंदेशः । तं देवः श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) विजयस्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवादये ।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व ।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ?

प्रतिहारी—महाराज ! ऋषिजन प्रसन्न मुख वाले दिखाई पड़ रहे हैं। अतः मैं समझती हूं कि ये शान्तिपूर्ण कार्य से आये हैं।

राजा—(शकुन्तला को देखकर) यह देवी कौन है ? (जीर्ण) पीले पत्तों के मध्य में नवपल्लव (कोपल) के समान, तपस्वियों (के बीच में) अप्रकट शारीरिक कान्तिवाली, यह घूंघट वाली (स्त्री) कौन है ? ॥१३॥

प्रतिहारी—महाराज ! कुतूहल से युक्त मेरी बुद्धि अवरुद्ध हो रही है, पुनरपि इसकी आकृति मनोहर दिखाई देती है।

राजा—आंह, परस्त्री पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

शकुन्तला—(हाथों को छाती पर रखकर, मन में) हृदय ; क्यों कांपते हो, आर्यपुत्र के प्रेम को ठीक समझकर (स्मरण करके) थोड़ा धीरज धरो।

पुरोहित—(आगे बढ़कर) ये विधिपूर्वक पूजित तपस्वी हैं, ये आचार्य का सन्देश लेकर आये हैं। उसे महाराज सुन लें।

राजा—मैं सावधान हूं।

ऋषि लोग—(हाथ उठाकर) महाराज की जय हो।

राजा—सबको प्रणाम करता हूं।

ऋषि लोग—इष्ट वस्तु को प्राप्त करो।

राजा—आप लोगों की तपस्या निर्विघ्न तो है ?

टिप्पणी—१३वें श्लोक में उपमा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। आर्या छन्द है।

नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या—(न अति परिस्फुटम्, प्रकटम् शरीरस्य वपुषः लावण्यं सौन्दर्यं यस्याः सा, बहुव्रीहि)

जिसके शरीर का सौन्दर्य अत्यधिक प्रकट नहीं है।

अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्—परस्त्री को विशेष ध्यान से नहीं देखना चाहिये। "परदारान् न वीक्षेत्" विष्णुसूत्रात्।

ऋषय :—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ? ॥१४॥

अन्वयः—त्वयि रक्षितरि सतां धर्मक्रियाविघ्नः कुतः, घर्मांशौ तपति तमः कथम् आविर्भविष्यति ।

राजा—अर्थवान्खलु मे राजशब्दः । अथ भगवाँल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः ।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ।

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः—

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः,
शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।
समानयस्तुल्यगुणं वधूवरं,
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥१५॥

अन्वय :—त्वम् नः अर्हतां प्राग्रसरः स्मृतः असि (यत्) शकुन्तला च मूर्तिमती सत्क्रिया, (तत्) तुल्यगुणं वधूवरं समानयन् चिरस्य प्रजापतिः वाच्यं न गतः ।

तदिदानीमापन्नसत्त्वा प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति ।

गौतमी—अज्जा ! किंपि वत्तुकामम्हि । ण मे वअणावसरो अत्थि । कहंत्ति ।

णावेक्खिओ गुरुअणो इमाइ ण हु पुच्छिदो अ बंधुअणो ।
एक्कक्कमे व्व चरिए भणामि किं एक्कमेक्कस्स ॥१६॥

(आर्य ! किमपि वक्तुकामास्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति ।

[नापेक्षितो गुरुजनोऽनया न खलु पृष्टश्च बन्धुजनः ।
परस्परस्मिन्नेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥१६॥]

अन्वय :—अनया गुरुजनः न अपेक्षितः, च (त्वया) बन्धुजनः न पृष्टः खलु परस्परस्मिन् एव चरिते एकं एकस्य किं भणामि ।

ऋषि लोग—

(आपके दुष्यन्त के) सत्पुरुषों के पालक होने पर धार्मिक क्रियाओं में विघ्न कैसे सम्भव है, उष्णरश्मि भगवान् भास्कर के देदीप्यमान रहने पर तम (अंधकार) किस प्रकार हो सकता है ? ॥१४॥

राजा - मेरा राजा कहलाना सार्थक हुआ । भगवान् काश्यप संसार के कल्याण के लिए कुशलपूर्वक तो हैं ।

ऋषि लोग—सिद्ध पुरुषों की कुशलता उनके आधीन होती है । उन्होंने आपका आरोग्य पूछते हुये कहा है ।

राजा – भगवान् ने क्या आज्ञा दी है ?

शाङ्गरव—जो आपने मेरी कन्या से गान्धर्व विवाह किया है, उसकी मैं प्रसन्न होकर आप दोनों को अनुमति देता हूं, क्योंकि—

आप हमारे पूजनीयों में अग्रणी माने जाते हो और शकुन्तला शरीर-धारिणी पुण्य क्रिया है । समान गुणों वाले वर-वधू को (विवाह रूप क्रिया से) मिलाते हुए प्रजापति चिरकाल के अनन्तर निन्दा को प्राप्त नहीं हुये । (अपने को दोषी ठहराये जाने से बचा लिया तथा प्रशंसा के पात्र हुए) ॥१५॥

तो इस गर्भवती को अपने साथ धर्माचरण के लिए स्वीकार करो ।

गौतमी आर्य ! मैं कुछ कहना चाहती हूँ । मेरे कहने का अवसर नहीं है क्योंकि –

इसके द्वारा (शकुन्तला के द्वारा) गुरुजनों से अनुमति नहीं ली गयी और (आपके द्वारा) आत्मीयों से नहीं पूछा गया (तुम) दोनों के परस्पर इस कार्य में (गान्धर्व विवाह में) एक को क्या कहूं । (अर्थात् तुम दोनों का दोष समान है, अतः एक को ही क्या कहूं) ॥१६॥

टिप्पणी - १४वें श्लोक के अन्तर्गत दृष्टान्त अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है ।

धर्मक्रियाविघ्नः (धर्मस्य क्रियासु यज्ञादिकर्मसु विघ्नः, तत्पुरुषः) धर्म की यज्ञादि क्रियाओं में विघ्न ।

अर्हताम् (अर्ह + शतृ)

प्रग्रसरः (अग्रे पुरः सरति गच्छति, इति अग्रसरः, प्रकर्षेण अग्रसरः, इति प्रग्रसरः, प्र + अग्र + सृ + ट)

स्मृतः (स्मृ + क्त)

सत्क्रिया (सत् + कृ + श भावे)

१५वें श्लोक में सम, काव्यलिङ्ग एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं । वंशस्थ छन्द है ।

वक्तुकामा वक्तुम् कामः यस्याः सा, बहुब्रीहि समासः

१६वें श्लोक में अर्थापत्ति अलङ्कार एवं आर्या छन्द है ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं णु क्खु अज्जउत्तो भणादि ? [किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति ?]

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पावओ खु वअणोवण्णासो । [पावकः खलु वचनोपन्यासः ।]

शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम ? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः—

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां
जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते
प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥१७॥

अन्वयः—जनः ज्ञातिकुलैकसंश्रयां भर्तृमतीं सतीं अपि अन्यथा विशङ्कते अतः स्वबंधुभिः प्रिया अप्रिया वा प्रमदा परिणेतुसमीपे इष्यते ।

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

शकुन्तला—(सविषादम्, आत्मगतम्) हिअअ, संपदं दे आसङ्का । (हृदय ! सांप्रतं त आशङ्का ।]

शार्ङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो, धर्मं प्रतिविमुखता, कृतावज्ञा ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

शार्ङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥१८॥

अन्वयः—कृतकार्यद्वेषः किम् धर्मं प्रतिविमुखता किम कृतावज्ञा किम प्रायेण ऐश्वर्यमत्तेषु अमी विकाराः मूर्च्छयन्ति ।

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि ।

शकुन्तला – (स्वगत) आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा –आप लोग यह क्या कह रहे हैं ?

शकुन्तला –(अपने आप) इनका कथनारम्भ अग्नि के समान दाहक है।

शार्ङ्गरव –आप कैसे कहते हैं ? आप तो निरन्तर लोक-व्यवहार में प्रवीण हैं—सदैव पिता के घर रहने वाली सधवा सती नारी के विषय में लोग दूसरी शङ्कायें (व्यभिचार आदि बुराइयों की शङ्का) करते हैं, अतएव पति की प्रिय हो अथवा न हो—स्त्री के बन्धु-बान्धवों के द्वारा पति के पास छोड़े जाने की इच्छा की जाती है ॥१७॥

राजा –क्या इस देवी से मैंने पूर्व विवाह किया है ?

शकुन्तला—(विषाद सहित मन में) हृदय ! तुम्हारी आशङ्का सत्य है।

शार्ङ्गरव—क्या किए कार्य के प्रति द्वेष है (अथवा) धर्म के प्रति पराङ्-मुख हो रहे हो, (अथवा) किये कार्य का तिरस्कार कर रहे हो।

राजा – इन असत्य कल्पनाओं का प्रश्न ही कहां है ? (अर्थात् मैंने तो इससे विवाह ही नहीं किया।)

शार्ङ्गरव –प्रायः ऐश्वर्य से उन्मत्त हुए व्यक्तियों में ये दोष (किये हुए कार्य के प्रति द्वेष, धर्म के प्रति विमुखता व अवज्ञा) वृद्धि प्राप्त करते रहते हैं ॥१८॥

राजा –मैं बहुत अधिक अपमानित हुआ हूं।

टिप्पणी—निष्णाताः (नि + स्ना + क्त)

ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् (ज्ञातिकुलम् पितृगृहम् एकः केवलः संश्रयः आश्रयः यस्याः ताम्, ज्ञा + क्तिच् कर्तरि)

१७वें श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। वंशस्थ छन्द है।

१८वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।

गौतमी—जादे, मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दाव दे ओउठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि। (जाते! मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्। ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।) (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीत स्यान्न वेति व्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥१९॥

अन्वयः—एवम् उपनतम् अक्लिष्टकान्ति इदं रूपं प्रथमपरिगृहीतं स्यात् न वा इति व्यवस्यन् विभाते भ्रमर अन्तस्तुषारं कुन्दं इव न च खलु परिभोक्तुं नैव हातुम् शक्नोमि।

(इति विचारयन्स्थितः)

प्रतीहारी—अहो धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि? [अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।]

शार्ङ्गरवः—भो राजन्, किमिति जोषमास्यते?

राजा—भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये?

शकुन्तला—(अपवार्य) अज्जस्स परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा? [आर्यस्य परिणय एव संदेहः! कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा?]

शार्ङ्गरवः—मा तावत्।

गौतमी—पुत्री ! थोड़ी देर के लिये लज्जा छोड़ो, तेरा घूंघट हटाती हूँ। तब तेरा पति तुझे पहचान लेगा। (ऐसा कहकर वैसा ही करती है)।

राजा—(शकुन्तला को अच्छी तरह देखकर, मन ही मन)।

इस प्रकार (बिना यत्न के) प्राप्त इस उज्ज्वल कान्ति से युक्त रूप को मैंने पूर्व पत्नीरूप में स्वीकार किया था अथवा नहीं, इस प्रकार निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करता हुआ मैं प्रभातकाल में ओस के कणों से युक्त कुन्दपुष्प को भौंरे के समान न ही उपभोग कर सकता हूँ न ही छोड़ सकता हूँ। (धर्मभय के कारण ग्रहण भी नहीं करता तथा सुन्दरता के कारण छोड़ना भी नहीं चाहता) ॥१९॥

(ऐसा विचार करता हुआ बैठता है)।

प्रतिहारी—ओह महाराज की धर्मनिष्ठा। ऐसे स्वयं प्राप्त रूप को देखकर कौन दूसरा विचार करता है ?

शाङ्गरव—महाराज ! आप चुप क्यों बैठे हैं ?

राजा—हे तपस्वियो ! सोचता हुआ भी इसके साथ विवाह को स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, तब किस प्रकार अभिव्यक्त गर्भ-लक्षणों से युक्त इसके प्रति अपने को क्षेत्री (पति) मानकर इसको स्वीकार करूं।

शकुन्तला—(एक ओर मुंह करके) महाराज को विवाह में सन्देह है, अब मेरी महत्वाकांक्षा कहां ? (अर्थात् अब मेरी आशायें पूर्ण नहीं हो सकतीं।)

शाङ्गरव—मत स्वीकार करो।

ऐश्वर्यमत्तेषु (ऐश्वर्येण समृद्ध्या मत्तेषु प्रमत्तेषु)।

अन्तस्तुषारम् (अन्तः मध्ये तुषारः हिमं यस्यतत् बहुब्रीहि समासः)।

परिभोक्तुम्(परि+भुज्+तुमुन्)।

हातुम्—(हा+तुमुन्)।

१९वें श्लोक में उपमा एवं सन्देश अलंकार हैं तथा छन्द मालिनी है।

यहां संशय नामक नाटकीय लक्षण है, जिसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है:—

संशयोऽज्ञानतत्त्वस्य वाक्ये स्याद् पदनिश्चयः।

(सा० दर्पण ६—१७९)

क्षेत्रिणम् (क्षेत्रम् पत्नी यस्यासौ क्षेत्री तं क्षेत्रिणम् "क्षेत्रं पत्नी शरीरयोः" इति अमरकोशः)।

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः
सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं
पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥२०॥

अन्वयः—कृताभिमर्शाम् सुताम् अनुमन्यमानः मुनिः त्वया विमान्यः नाम, मुष्टं येन (त्वं) स्वम् अर्थं प्रतिग्राहयता दस्युः इव पात्रीकृतः असि ।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम् । शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभिः । सोऽयमत्रभवानेवमाह । दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम् ।

शकुन्तला—(अपवार्य) इमं अवत्थंतरं गदे तारिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं । (प्रकाशम्) अज्जउत्त, (इत्यर्धोक्ते) संसइदे दाणिं ण एसो समुदाहारो ! पोरव ! ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं [इदमवस्थान्तरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन ? आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत् । आर्यपुत्र ! संशयित इदानीं नैष समुदाचारः । पौरव ! न युक्तं नाम ते तथा पुराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् ।]

राजा—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम् ।
व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ?
कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ॥२१॥

अन्वयः—कूलंकषा सिन्धुः प्रसन्नम् अम्भः तटतरुं च इव व्यपदेशम् आविलयितुम् इमं जनं च पातयितुं किम् ईहसे ।

शकुन्तला—होदु । जई परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुह आसंकं अवण-

तुम्हारे द्वारा स्पर्श (बलपूर्वक स्पर्शादि अन्य सूरत भोग की गयी) पुत्री का अनुमोदन करते हुए मुनि (कण्व) आपके द्वारा तिरस्कृत होने योग्य हैं, जिसके द्वारा चुराये हुए अपने धन (शकुन्तला) को चोर को लौटा देने वाले के समान हैं, आपको (जो कि बलपूर्वक उपभोग करने के कारण चोर हैं) सुपात्र (विवाह के योग्य) बना दिया गया है ।।२०।।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! तुम अब चुप रहो, शकुन्तले ! जो कुछ कहे जाने योग्य था हमने कह दिया। वे ये महाराज ऐसा कहते हैं। इनको विश्वसनीय प्रत्युत्तर दो।

शकुन्तला—(अलग से) वह प्रेम इस अवस्था को प्राप्त हो गया है, तब स्मरण कराने से क्या ? अब यह निश्चित है, मैं स्वयं शोक करने योग्य हो गई हूँ। (प्रकट में) आर्य-पुत्र ! (आधा कहकर रुक जाती है) संशय होने पर (विवाह हुआ ही नहीं है), अब यह आचार (सम्बोधन सम्बन्धी आचार, उचित नहीं। पौरव ! आपके लिए यह ठीक नहीं है, पहले आश्रम में सरल हृदय वाले व्यक्ति को (मुझको) शपथपूर्वक दबाकर इस प्रकार के अक्षरों द्वारा अपमानित किया जाये।

राजा—(कान को छूकर) पाप शान्त हो।

(क्या तुम) किनारों को तोड़ने वाली, स्वच्छ जल को (मैला करती हुयी) तटवर्ती वृक्षों को (तोड़ती हुयी) नदी के समान अपने कुल को कलङ्कित करना तथा मुझको पतित करना चाहती हो ? ।।२१।।

शकुन्तला—यदि आप मुझे परस्त्री ग्रहण की शंका से ऐसा कहते हैं तब

२०वें श्लोक में सम, विषम एवं उपमा अलङ्कार है तथा उपजाति छन्द है।

कृताभिमर्शाम् (कृतः अभिमर्शः बलाद् घर्षणं यस्याः सा ताम्, अभिमृश+घञ् भावे=अभिमर्श)

विमान्यः (वि+मान+णिच्+यत्)

शान्तम् (शम्+णिच्+कर्मणि)

व्यपदेशम् वि+अप+दिश+घ्=व्यपदेशः, तम् व्यपदेशम्, व्यपदिश्यते अनेन इति तम्)

आविलयितुम् (आविलं कर्त्तुमिति आविल+णिच्+तुमुन्)

कूलङ्कषा (कूल तट+कषति भिनत्ति, इति कूलङ्कषा। कूल+कष+खच् कर्तरि—स्त्रियाम्।)

२१वें श्लोक में समुच्चय अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।

इस्सं। [भवतु, यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना त्वयैवं वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि ।]

राजा--उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) हद्धी, अंगुलीअअसुण्णा मे अंगुली। [हा धिक्, अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः ।] (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते ।]

गौतमी—णूणं दे सक्कावदारब्भंतरे सचीतित्थसलिलं वंदमाणाए पब्भट्टं अंगुलाअअं। [नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम् ।]

राजा—(सस्मितम्) इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।

शकुन्तला--एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं । अवरं दे कहिस्सं। [अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि ।

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृतम् ।

शकुन्तला—णं एक्कस्सिं दिअहे णोमालिआमंडवे णलिणीपत्तभाअणगअं उअअं तुह हत्थे सण्णिहिदं आसि। [नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत् ।

राजा—शृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला—तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहापंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअंपिणा उवच्छंदिदो उअएण। ण उण दे अपरिच्चिआदो हत्थब्भासं उवगदो। पच्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिले णेण किदो पणओ। तदा तुमं पहसिदो सि एत्थं-सव्वो सगंधेसु विस्ससिदि दुवेधि एत्थ आरण्णा त्ति। [तत्क्षणं स मे पुत्रकृतको दीर्घा-

इस अभिज्ञान (पहचान के चिह्न) से आपकी शङ्का दूर करती हूँ।

राजा—(यह) उपयुक्त प्रस्ताव है।

शकुन्तला—(अंगूठी के स्थान (अंगुली) को छूकर) हाय, धिक्कार है, मेरी अंगुली अंगूठी से शून्य है। (ऐसा कहकर विषादपूर्वक गौतमी को देखती है।)

गौतमी—अवश्य शक्रावतार (नामक तीर्थ) में पवित्र शची तीर्थ के जल की वन्दना करते हुये तुम्हारी अंगूठी अंगुली से निकल गयी।

राजा—(मुस्करा कर) यही है वह (कहावत) जो कहा जाता है कि "स्त्रियां प्रत्युत्पन्नमति होती हैं।"

शकुन्तला—यहां भाग्य ने अपना बल दिखा दिया। आपसे (स्मरण दिलाने के लिये) दूसरी बात कहती हूँ।

राजा—यह बात मेरे द्वारा सुनने योग्य है।

शकुन्तला—एक दिन चमेली के कुञ्ज में कमलिनी के पत्ते से निर्मित पात्र में लिया हुआ जल आपके हाथ में था।

राजा—मैं सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—उस क्षण मेरे द्वारा पुत्र रूप में माना गया दीर्घापाङ्ग नामक मृगशावक वहां उपस्थित था। तब आपके द्वारा 'पहले यह जल पीले' ऐसा अनुकम्पा से, दिये गये जल पीने के लिये आमन्त्रित किया। परन्तु वह परिचय न

टिप्पणी—अंगुलीयकम् (अंगुली + इ (ईय) + स्वथिकक:) अंगूठी।

आरण्यकौ—अरण्यस्य अयं जनः इति, अरण्य + वञ् = आरण्यकः "आरण्यमनुष्यानवुञ्" (शकुन्तला) अरण्यस्य अयं मृगः इति अरण्य + ण = आरण्यः, स एव आरण्यकः (कन् स्वार्थे आरण्यकश्च, इति आरण्यकौ=शकुन्तला हरिणौ इत्याशयः)।

पाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः त्वयायं तावत्प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्यासमुपगतः । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि—सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति । द्वावप्यत्रारण्यकौ–इति ।]

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।

गौतमी—महाभाअ, ण अरुहसि एव्वं मंतिदुं । तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अयं जणो कइदवस्स । [महाभाग ! नार्हस्येवं मन्त्रयितुम् । तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य ।]

राजा—तापसवृद्धे,

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥२२॥

अन्वयः—अमानुषीषु स्त्रीणां अशिक्षितपटुत्वं संदृश्यते याः प्रतिबोधवत्यः किमुत, खलु परभृताः अन्तरिक्षगमनात् प्राक् स्वम् अपत्यजातं अन्यैः द्विजैः पोषयन्ति ।

शकुन्तला— (सरोषम्) अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि । को दाणिं अण्णो धम्मकंचुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदी ? [अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ?]

राजा—(आत्मगतम्) संदिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा ह्यनया ।

होने के कारण आपके समीप नहीं गया। बाद को मेरे द्वारा ग्रहण किये जाने पर उसी जल को पी लिया। आपने हंसकर यह कहा, "सब अपने साथियों पर ही विश्वास करते हैं। तुम दोनों ही वनवासी हो ना' ऐसा।

राजा—अपने कार्य को बनाने वाली, स्त्रियों के असत्य से भरे हुये वचनों से तो कामी लोग ही आकृष्ट होते हैं।

गौतमी—महाभाग ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये। तपोवन में पला हुआ यह जन (शकुन्तला) छल-कपट से अनभिज्ञ है।

राजा—वृद्धा तपस्विनी !

मानव जाति से भिन्न (पशु-पक्षी आदि) जाति की स्त्रियों में (भी) शिक्षा के बिना ही चतुरता देखी जाती है, ज्ञान रखने वालियों का तो कहना क्या ? कोयल आकाश में उड़ने से पूर्व अपने बच्चों को दूसरे पक्षियों से (कौवे से) पलवाती है। ।।२२।।

शकुन्तला—(क्रोध सहित) अनार्य ! अपने हृदय के अनुमान से (तू सबको ऐसा ही) समझता है। धर्म के चोगे को पहने हुए, तिनकों से ढके कुयें के समान तुझ जैसे का कौन अनुकरण कर सकता है ? (अर्थात् तेरे समान और कोई इतना नीचतापूर्ण कार्य नहीं कर सकता)

राजा—(अपने मन में) इसका क्रोध कपट-रहित सा दिखाई पड़ता है जो कि मेरी बुद्धि को भी सन्देह में डालता। क्योंकि—

टिप्पणी—अमानुषीषु (मनोरपत्यानि मानुष्यः, न मानुष्यः अमानुष्यः तासु।

प्रतिबोधवत्यः(प्रतिबुध्यते अनेन इति प्रति+बुध्+अञ् करणे प्रतिबोधः, सः अस्ति आसाम् ताः प्रतिबोध+मतुप् स्त्रियाम्)।

अन्तरिक्षम्—(अन्तः मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि अस्य इति अन्तरिक्षम (पृषोदरादि)

द्विजैः—(द्विजाता इति तैः द्वि+जन+ड कर्त्तरि।

२२ वें श्लोक में व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशंसा एव अर्थान्तरन्यास अलङ्कार हैं।

मय्येवं विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

अन्वयः—तथाहि, अनया विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ रहः कृतं प्रणयम् अप्रतिपद्यमाने मयि एवं, (अतएव) अतिरुषा अतिलोहिताक्ष्या अनया कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनं भग्नं इव ।

(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्षये ।

शकुन्तला—सुट्ठु दाव अत्त सच्छंदचारिणी किदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा । [सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि, याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता ।] (इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदति ।)

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहतं चापलं दहति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥२४॥

अन्वयः—अतः विशेषात्संगतं रहः परीक्ष्य कर्तव्यं, अज्ञातहृदयेषु एवं सौहृदं वैरीभवति ।

राजा—अयि भोः, किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संयुतदोषाक्षरैः क्षिणुथ ?

शार्ङ्गरवः— (सासूयम्) श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥२५॥

विस्मृति के कारण कठोर हृदय वाले तथा एकान्त में किये गये प्रेम को मेरे द्वारा अस्वीकार करने पर, अत्यन्त क्रोध से लाल आंखों वाली, इसने टेढ़ी भौहों को चढ़ाकर कामदेव का धनुष ही मानों तोड़ दिया है।

(प्रकट) देवी दुष्यन्त का चरित्र तो सर्वविदित है; तथापि मैं ऐसा (वञ्चकता) नहीं देखता।

शकुन्तला—मैं यहां अच्छी तरह से दुश्चरित्र बता दी गई हूं, जो मैं इस पुरुवंश के विश्वास से मुख में मधु व हृदय में विष भरे के हाथ में पड़ी। (ऐसा कहकर वस्त्र से मुख को ढककर रोती है)

शार्ङ्गरव—इस प्रकार अपने आप की हुई चञ्चलता रुकने पर दुःख देती है। अतः विशेष रूप से एकान्त-मिलन परीक्षा करके ही करना चाहिये, अज्ञात हृदयों की मित्रता वैर रूप में परिणत हो जाती है॥२४॥

राजा—हे महानुभावो! क्यों इस पर विश्वास करके दोषयुक्त वाक्यों से मुझे चोट पहुंचाते हो?

शार्ङ्गरव—(तिरस्कारपूर्वक) आपने यह निकृष्ट उत्तर सुना—

जिसने जन्म से शठता नहीं सीखी उस व्यक्ति का वचन तो अविश्वसनीय है,

---

टिप्पणी—२३वें श्लोक में 'संकेतोरोषभाषणम्' इस विश्वनाथ के कथन के अनुसार संकेत नामक विमर्श सन्ध्याङ्ग है। उत्प्रेक्षा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। वसन्ततिलका छन्द है।

२४वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास एवं अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। अनुष्टुप छन्द है।

अज्ञातहृदयेषु (अज्ञातम् हृदयम् चित्तम् येषाम् तेषु) परस्पर अज्ञात् हृदय वाले व्यक्तियों के साथ।

२५वें श्लोक में 'द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादि सम्भवा' इस उक्ति के अनुसार 'द्रव' नाम सन्ध्यङ्ग है। अप्रस्तुतप्रशंसा एवं रूपक अलङ्कार हैं; उपजाति छन्द है।

परातिसन्धानम् (परेषाम् अतिसन्धानम्, तत्पुरुषसमासः। अति+सम्+धा+ल्युट् अतिसन्धानम्।

अन्वयः—यः आजन्मनः शाठ्यम् अशिक्षितः तस्य जनस्य वचनम् अप्रमाणम् यैः परातिसंधानं विद्या इव अधीयते ते किल आप्तवाचः सन्तु।

राजा—भोः सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसंधाय लभ्यते?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः।

राजा—विनिपात पौरवैः प्रार्थ्यतः इति न श्रद्धेयम्।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण? अनुष्ठितो गुरोः संदेशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। (राजानं प्रति)

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥२६॥

अन्वयः—तदेषा भवतः कान्ता एनाम् त्यज वा गृहाण वा दारेषु सर्वतोमुखी प्रभुता उपपन्ना।

गौतमि, गच्छाग्रतः।

(इति प्रस्थिताः)

शकुन्तला—कहं इमिणा किदवेण विप्पलद्धम्हि? तुम्हे वि मं परिच्चअह? [कथमनेन कितवेन विप्रलब्धास्मि? यूयमपि मां परित्यजथ?] (इत्यनुप्रतिष्ठते)

गौतमी—(स्थित्वा) वच्छ संगरव, अणुगच्छदि इअं क्खु णो करुणपरिदेविणी सउंदला। पच्चादेसपरुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु? [वत्स शार्ङ्गरव! अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु?]

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे?

(शकुन्तला भीता वेपते)

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले,

श्रौर जो दूसरों को धोखा देना विद्या के रूप में सीखते हैं, वे विश्वसनीय वचन वाले होते हैं ।।२५।।

राजा—हे सत्यवादी, तो हमने यह मान लिया, फिर इसको ठगकर हमें क्या मिलता ?

शार्ङ्गरव—पतन ।

राजा—"पौरव पतन की इच्छा करते हैं" यह (बात) विश्वासयोग्य नहीं है ।

शारद्वत—शार्ङ्गरव ! उत्तर-प्रत्युत्तर से क्या ? हमने गुरु का सन्देश कह दिया । हमें लौट चलना चाहिये । (राजा के प्रति)

यह श्रापकी पत्नी है । (इसे) त्यागो श्रथवा ग्रहण करो । क्योंकि स्त्री पर सब प्रकार का श्रधिकार स्वीकार किया जाता है ।। २६।।

गौतमी ! श्रागे चलो ।

(ऐसा कहकर प्रस्थान करते हैं)

शकुन्तला—कैसे, इस ठग से छली गई । तुम भी मुझे छोड़ रहे हो ।

(उनके पीछे-पीछे जाती है)

गौतमी—(रुककर) पुत्र शार्ङ्गरव ! करुण विलाप करती हुई शकुन्तला हमारे पीछे श्रा रही है । पति के कठोर हो जाने पर, परित्याग कर देने पर (श्रब) मेरी पुत्री क्या करे ?

शार्ङ्गरव—(क्रोध सहित मुड़कर) हे दुष्टा, क्या तू स्वतन्त्रता का श्रवलम्बन करती है ?

(शकुन्तला भयभीत होकर कांपती है)

शार्ङ्गरव—शकुन्तला !

टिप्पणी— दारेषु (दारयन्ति भेदयन्ति इति दाराः, दृ+णिच्+घञ् कर्तरि)

२६ वें श्लोक में श्रर्थान्तरन्यास श्रलङ्कार है । श्रनुष्टुप् छन्द है ।

उत्कुलया—(कुलात् उत्क्रान्ता, कुलम् उत्क्रान्ता वा उत्कुला तथा कुलटया)

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥२७॥

अन्वयः—यदि त्वं तथा असि यथा क्षितिपः वदति, त्वया पितुः उत्कुलया किम् अथ तु आत्मनः व्रतं शुचि वेत्सि पतिकुले तव दास्यम् अपि क्षमम्।

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

राजा—भोस्तपस्विन्, किमत्रभवतीं विप्रलभसे?

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशीनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥२८॥

अन्वयः—शशांकः कुमुदानि एव, सविता पङ्कजानि एव बोधयति हि वशिनां वृत्तिः परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी (भवति)।

शार्ङ्गरवः— यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः?

राजा—(पुरोहितं प्रति) भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।
मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥२९॥

अन्वयः—अहं मूढः स्याम् वा एषा मिथ्या वदेत् इति संशये अहं दारत्यागी भवामि आहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।

पुरोहितः—(विचार्य) यदि तावदेवं क्रियताम्।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोहितः— अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यत इति चेत्। त्वं साधुभिरादिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यतीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

यदि तू वैसी ही है जैसी राजा कहता है तो तुझ कुल को कलङ्कित करने वाली से पिता को क्या प्रयोजन ? यदि तू अपने व्रत (आचरण) को शुद्ध मानती है तब पति के घर में तेरा दासत्व उचित है ॥२७॥

राजा—हे तपस्वी ! आप इनको क्यों धोखा देते हैं ?

चन्द्रमा कुमुदनियों को व सूर्य कमलों को ही विकसित करता है। जितेन्द्रियों की मनोवृत्ति सदैव दूसरों की स्त्री के स्पर्श से विमुख होती है ॥२८॥

शार्ङ्गरव—जब तुम अन्य (स्त्रियों के संसर्ग) से पूर्व हुए वृत्तान्त को भूल गये हो तब अधर्म से डरने वाले कैसे ?

राजा—(पुरोहित के प्रति) आप से ही अच्छाई वा बुराई को पूछता हूँ। मैं भूल गया हूँ अथवा यह झूठ बोल रही है, इस संशय में स्त्री का त्याग करने वाला बनूं अथवा परस्त्री के स्पर्श से कलंकित होऊं ॥२९॥

पुरोहित—(विचार कर) यदि ऐसा है तो ऐसा कीजिए।

राजा—आप मुझे आज्ञा दीजिए।

पुरोहित—यह देवी प्रसवकाल तक मेरे घर में रहे। ऐसा क्यों, यदि आप ऐसा कहें तब, साधुओं के द्वारा कहा गया है कि आप प्रथम चक्रवर्ती पुत्र को जन्म देंगे। यदि यह मुनि का पौत्र चक्रवर्ती लक्षणों से युक्त होगा, तो आप इसको आदर सहित रनिवास में रख लीजिए, यदि विपरीत हुआ तो इनको पिता के समीप भेज देना निश्चित है।

टिप्पणी—२७वें श्लोक में काव्यलिंग अलंकार एवं द्रुतविलम्बित छन्द है। परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी (पररूप अन्यस्य यः परिग्रहः कलत्रं तस्य संश्लेषात् सपर्कात् पराङ्मुखी)

२८वें श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा एवं मालादृष्टान्त अलंकार है।

राजा—'भोः सत्यवादिन् !' से प्रस्तुत स्थल (२९वें श्लोक) तक विरोध नामक सन्ध्यंग है। विरोध का लक्षण है—'उत्तरोत्तरो वाक्यन्तु विरोधः'

चक्रवर्तिनम् (चक्र+वृत+णिनि कर्तरि)

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोहितः—वत्से, अनुगच्छ माम्।

शकुन्तला—भअवदि वसुहे, देहि मे विवरं [भगवति वसुधे! देहि मे विवरम्।] (इति रुदती प्रस्थिता, निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च)

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति)

(नेपथ्ये)

आश्चर्यम्—

राजा—(आकर्ण्य) किं नु खलु स्यात्।

(प्रविश्य)

पुरोहितः—(सविस्मयम्) देव, अद्भुतं खलु संवृत्तम्।

राजा—किमिव?

पुरोहितः—देव, परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु,

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा—किं च।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा-
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥

अन्वयः—सा बाला स्वानि भाग्यानि निन्दन्ती बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं प्रवृत्ता च। अप्सरस्तीर्थम् आरात् स्त्रीसंस्थानम् एकं ज्योतिः एनाम् (अङ्के) उत्क्षिप्य जगाम च।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

राजा—भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते? विश्राम्यतु भवान्।

राजा—जैसे गुरु जी को उचित लगे।

पुरोहित—पुत्री ! मेरे पीछे आओ।

शकुन्तला—देवी वसुन्धरा ! मुझे (अपने अन्दर) स्थान दे (ऐसा कहकर रोती हुयी प्रस्थान करती है। तपस्वियों व पुरोहित के साथ बाहर जाती है)

(राजा शाप से अवरुद्ध स्मरण वाला होकर शकुन्तला के सम्बन्ध में सोचता है)

(नेपथ्य में) आश्चर्य है।

राजा—(सुनकर) ऐसी क्या बात हो सकती है?

(प्रवेश करके)

पुरोहित—(आश्चर्य सहित) देव ! अद्भुत बात हुई।

राजा—कैसी ?

पुरोहित—महाराज ! कण्व ऋषि के शिष्यों के लौट जाने पर वह बालिका अपने भाग्य की निन्दा करते हुए बाहें उठाकर क्रन्दन करने लगी।

राजा—और क्या ?

पुरोहित—अप्सरातीर्थ के समीप स्त्री के आकार वाली एक ज्योति उसको ऊपर उठाकर चली गई ॥३०॥

राजा—भगवन् ! वह वस्तु पहले ही हमारे द्वारा लौटा दी गई। अब व्यर्थ तर्क क्यों करते हो ? आप विश्राम कीजिए।

टिप्पणी—बाहूक्षेपम् (बाहू उत् क्षिप्य इति, बाहू+उत्+क्षिप+णमुल भावे)

स्त्रीसंस्थानम् (संस्थीयते अनेन इनि संस्थानम्, सम्+स्था+ल्युट्, स्त्रियाः संस्थानम्, स्त्रीसंस्थानम्)

३०वें श्लोक में 'शक्ति' नामक सन्ध्यंग है। उपमा एवं क्रियासमुच्चय अलंकार तथा मालिनी छन्द है।

पुरोहितः—(विलोक्य) विजयस्व। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वेत्रवती, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः] (इति प्रस्थिता)

राजा—

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम्॥३१॥

अन्वयः—कामं प्रत्यादिष्टां मुनेः तनयां परिग्रहं न स्मरामि तु बलवत् दूयमानं मे हृदयं प्रत्याययति इव।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति पञ्चमोऽङ्कः

पुरोहित – (देखकर) महाराज की जय हो। (निकल जाता है)

राजा—वेत्रवती ! मैं उद्विग्न हो रहा हूँ, मुझे शयन-गृह का मार्ग बताओ।

प्रतीहारी – (महाराज) इधर से आइये (ऐसा कहकर प्रस्थान करती है)

राजा – माना लौटायी हुयी मुनि की कन्या को मैं पत्नी रूप में स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, किन्तु पीड़ित मेरा हृदय (मैंने इसके साथ विवाह किया है) मुझको विश्वास सा दिला रहा है ॥३१॥

(सब प्रस्थान कर जाते हैं)

—:o:—

टिप्पणी—परिग्रहम् (परिग्रह्यते इति परिग्रहः तम् परि+ग्रह+अप् कर्मणि)

प्रत्याययति (प्रति+इ+णिच+लट् ति)

पञ्चम अङ्क समाप्त।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च ।)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुंभीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किरणणामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए ? [अरे कुम्भीरक ! कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम् ?]

पुरुष :—(भीतिनाटितकेन) पशीदंतु भावमिश्शे। हगे ण ईदिशकम्मकाली । [प्रसीदन्तु भावमिश्राः अहं नेदृशकर्मकारी ।]

प्रथमः—किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे ? [किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राजा प्रतिग्रहो दत्तः ?]

पुरुषः—सुणध दाणिं । हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले । [शृणुतेदानीम् । अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः ।]

द्वितीय—पाडच्चला, किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा ?
(पाटच्चर ! किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ?)

श्यालः—सूअअ, कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अंतरा पडिबंधह । [सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरे प्रतिबन्धय ।]

उभौ—जं आवुत्ते आणवेदि कहेहि । [यदावुत्त आज्ञापयति । कथय ।

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबंधणोवाएहिं कुडुंबभलणं कलेमि । (अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायै कुटुम्बभरणं करोमि।)

षष्ठ अंक

(इसके पश्चात् नागरिक, श्याल एवं पीछे बँधे हुए, एक पुरुष को पकड़े हुए दो रक्षकों का प्रवेश)

दोनों रक्षक—(पीटकर) अरे चोर ! तुझे, जिस पर मणि के जड़ाव पर नाम खुदा हुआ है—ऐसी राजा की अंगूठी कहाँ मिली ?

पुरुष—(भय का अभिनय करते हुए) महानुभाव ! आप कृपा करें। मैं ऐसा कर्म करने वाला नहीं हूँ।

प्रथम—तो क्या शोभन ब्राह्मण जानकर राजा ने प्रतिग्रह (उपहार) दिया है ?

पुरुष—अब सुनिये। मैं शक्रावतार का निवासी धीवर हूं।

दूसरा—अरे चोर ! क्या हमने तेरी जाति पूछी है ?

श्याल—सूचक ! इसे सक्रम कहने दो। बीच में मत टोको।

दोनों—श्रीमान् की जैसी आज्ञा। कहो।

पुरुष—मैं जाल एवं कटिया आदि मछली पकड़ने के उपायों के द्वारा परिवार का पालन-पोषण करता हूं।

टिप्पणी :—नागरिकः (नगर+ठक्)

अवतार (अव+तॄ+घञ्)

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो । [विशुद्ध इदानीमाजीवः ।

पुरुषः—

शहजे किल जे विणिदिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालण कम्मदालुणे अणुकंपामिदु जेव्व शोत्तिए ॥१॥

सहजं किल यद्विनिन्दितं खलु न तत्कर्म विवर्जनीयम्
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥]

अन्वयः—सहजं यत् कर्म विनिन्दितं किल, तत् खलु न विवर्जनीयम् । पशुमारणदारुणः श्रोत्रियः अनुकम्पामृदुः एव ।

श्यालः—तदो तदो ? [ततस्ततः ?]

पुरुषः—एक्कश्शि दिअशे खंडशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव तश्श उदलब्भंतले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअं । पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुंचेह वा । अअं शे आअमवुत्तंते । (एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितः । यावत्तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्चत वा । अयमस्यागमवृत्तान्तः ।]

श्यालः—जाणुअ, विस्सगंधी गोहादी मच्छबंधो एव्व णिस्संसअं । अंगुलीअअदंसणं शे विमरिसिदव्वं । राअउलं एव्व गच्छामो । [जानुक ! विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छामः ।]

रक्षिणौ—तह । गच्छ, अले गंडभेदअ ! (तथा । गच्छ, अरे गण्डभेदक !)

(सर्वे परिक्रामन्ति)

श्याल—तेरी आजीविका तो विशुद्ध है।

पुरुष—स्वाभाविक कर्म चाहे निन्दित भी हो तो भी नहीं छोड़ना चाहिये। पशुमारण कर्म में दारुण श्रोत्रिय ब्राह्मण दया से मृदुल ही होता है ॥१॥

श्याल—आगे कहो।

पुरुष—एक दिन जैसे ही मैंने रोहित मछली के टुकड़े किये तो उसके पेट के अन्दर यह चमकती हुई रत्नजटित अगूंठी देखकर उसके बाद मैं उसे बेचने के लिए दिखाते हुए आप महानुभावों द्वारा पकड़ा गया। चाहे मारो या छोड़ो। यही इसके प्राप्त करने की कथा है।

श्याल—जानुक इससे कच्चे मांस की गन्ध आ रही है, जिससे यह निश्चय ही गोहभक्षी मछुआ है। इसका अंगूठी प्राप्त करना विचारणीय है। राजकुल ही चलें।

दोनों रक्षक—अच्छा, अरे चोर ! चल।

(सब घूमते हैं)

टिप्पणी—सह + जन् + ड = सहजम्, उद् + गृ + घञ् = उद्गाल।

श्रोत्रियः—(श्रोत्र + घन्) प्रथम श्लोक में विषमालङ्कार है।

श्यालः—सूअअ, इमं गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणो णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि। (सूचक ! इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथागमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि।)

उभौ—पविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श। (प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय।)

(इति निष्क्रान्तः श्यालः)

प्रथमः—जाणुअ, चिलाअदि क्खु आवुत्ते। जानुक ! चिरायते खल्वावुत्तः।)

द्वितीयः—णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो। (नन्ववसरोपसर्पणीया राजानः।)

प्रथमः—जाणुअ, फुस्लंति मे हत्था इमश्श वहस्स शुमणा पिणद्धुं। (जानुक ! प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्।) (इति पुरुषं निर्दिशति)।

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भाविदुं। (नार्हति भावोऽकारणमारणं भावयितुम्।)

द्वितीयः—(विलोक्य) एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देक्खीअदि। गिद्धवली भविश्शशि शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि। [एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यति, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।)

(प्रविश्य)

श्यालः—सुअअ, मुंचेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु अंगुलीअअस्स आअमो। (सूचक ! मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वङ्गुलीयकस्यागमः।)

श्याल--सूचक ! यहीं नगर द्वार पर सावधान होकर धीवर की देखभाल करना । जब तक मैं मुद्रिका के यथागमन (यथा प्राप्ति) की कथा स्वामी से निवेदन करके और आज्ञा प्राप्त करके लौटकर आता हूं ।

दोनों –श्रीमान्, स्वामी को प्रसन्न करने के लिए प्रवेश करें ।

(श्याल जाता है)

पहला—जानुक ! श्रीमान् विलम्ब कर रहे हैं ।

द्वितीय—राजाओं से तो अवसर देखकर बात होती है ।

पहला –जानुक ! इसके वध के लिए पुष्पमाला पहिनाने के लिए मेरे हाथ फड़क रहे हैं । (पुरुष की ओर निर्देश करता है)

पुरुष—श्रीमान् को अकारण ही मुझे मारने का विचार नहीं करना चाहिए ।

द्वितीय—(देखकर) ये हमारे स्वामी जिनके हाथ में पत्र है, राजाज्ञा लेकर इधर ही मुख किये दिखाई पड़ रहे हैं । तू गिद्धों की बली बनेगा या कुत्ते का मुंह देखेगा ।

(प्रवेश करके)

श्याल—सूचक ! इस जलोपजीवी (मछुए) को छोड़ दो । इसका अंगूठी प्राप्त करना उचित है ।

टिप्पणी—प्रतीक्ष (प्रति+इक्ष+क्त्वा+ल्यप्)

चिरायते (चिर+क्यङ्+लट्)

मारणाम् (मृ+णिच्+ल्युट्)

उपपन्नः (उप+पत्+क्त प्रत्यय)

सूचकः—जह आवुत्ते भणादि । [यथावुत्तो भणति ।]

द्वितीयः--एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते । [एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृतः ।] (इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे ? [भर्तः ! अथ कीदृशो म आजीवः ।]

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो । [एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसंमितः प्रसादोऽपि दापितः ।] (इनि पुरुषाय स्वं प्रयच्छति)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) हट्टा, अणुग्गहिदम्हि । [भर्तः ! अनुगृहीतोऽस्मि ।

सूचकः—एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिकक्कंधे पडिट्टाविदे । [एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ।]

जानुकः—आवुत्त, पलिदोषं कहेहि । तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं । [आवुत्त ! परितोषं कथय । तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम् ।]

श्यालः—ण तस्सिं महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि । तस्य दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जनो सुमराविदो । मुहुत्तअं पकिदिगंभीरो वि पज्जुस्सुअणअणो आसि । (न तस्मिन्महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत् ।)

सूचकः—शेविदं णाम आवुत्तेण (सेवितं नामावुत्तेन ।)

जानुकः—णं भणाहि इमश्श कए मच्छिआभत्तुणोति । (ननु भण, अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति ।) (इति पुरुषमसूयया पश्यति)

सूचक— जैसा श्रीमान् कहते हैं।

दूसरा —यह यमराज के घर जाकर लौट आया! (इस प्रकार पुरुष को बन्धन से मुक्त करना है)

पुरुष—(श्याल को प्रणाम करके) स्वामिन्! तो मेरी आजीविका कैसी है?

श्याल—यह स्वामी ने अंगूठी के मूल्य के समान पारितोषिक भी दिलाया है। (इस प्रकार पुरुष को धन देता है)

पुरुष—(प्रणामपूर्वक ग्रहण करके) स्वामिन्! अनुगृहीत हूँ।

सूचक—यह अनुग्रह ही है कि इसे (फांसी की) शूली से उतार कर हाथी के कन्धे पर बैठा दिया।

जानुक मान्य! पारितोषिक कहिए। वह अंगूठी स्वामी को बहुत प्रिय होनी चाहिए।

श्याल –अंगूठी में बहुमूल्य रत्न होने से प्रिय नहीं। उस (अंगूठी) के दर्शन से महाराज को अपने प्रियजन का स्मरण हो आया है। प्रकृति से गम्भीर होने पर भी क्षणमात्र के लिए व्याकुल नयनों वाले हो उठे।

सूचक – तब तो मान्य आपने (राजा की) सेवा की है।

जानुक –ऐसा कहो कि इस मछुओं के स्वामी के लिए। (इस प्रकार पुरुष को ईर्ष्या से देखता है।)

टिप्पणी - प्रसादः (प्र+सद+घञ्)

मूल्यम् (मूल+यत् प्रत्यय)

प्रणम्य (प्र+नम्+क्त्वा+ल्यप्)

अभिमतः (अभि+मन्+क्त)

स्मारितः (स्मृ+णिच्+क्त)

मात्स्यिक (मत्स्य+ठक्)

पुरुषः—भट्टालक, इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्लं होदु। (भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु ।)

जानुकः—एत्तके जुज्जइ । (एतावद्युज्यते ।)

श्यालः—धीवर, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो । कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोंडिआपणं एव्व गच्छामो । (धीवर ! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्तः । कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमशोऽभिमतमिष्यते । तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः ।)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

प्रवेशकः

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सरा)

सानुमती—णिव्वट्टिदं मए पज्जाअणिव्वत्तणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। सपदं इमस्स राएसिणो उदंतं पच्चक्खीकरिस्सं । मेणआसंबंधेण सरीरभूदा मे सउंदला । ताए अ दुहिदुणिमित्त आदिट्ठपुव्वम्हि । (समन्तादवलोक्य) किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारंभ विअ राअउल दीसइ ? अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादुं । किं दु सहिए आदरो मए माणइदव्वो । होदु, इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी नविअ उवलहिस्सं । (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसांनिध्यं यावत्साधुजनस्याभिषेककाल इति । सांप्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि । मेनकासंबन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि । किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि

पुरुष — हे स्वामिन् ! इसमें आधा आपका सुमन मूल्य हो गया।

जानुकः—यह उचित है।

श्याल—धीवर ! अब तो तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो गये हो। हम लोगों की नई मित्रता तो मदिरा की साक्षी में ही हुआ करती है। तो शराब बेचने वाले की दुकान पर ही चलो।

(सब जाते हैं)

इति प्रवेशक

(इसके पश्चात् आकाश मार्ग से सानुमती नाम की अप्सरा प्रवेश करती है)

सानुमती—साधुजनों के स्नानपर्यन्त अप्सरा तीर्थ पर उपस्थित रहने को अपनी बारी को तो निपटा दिया। अब उस राजर्षि के समाचार देखूंगी। मेनका के सम्बन्ध से शकुन्तला मेरी पुत्री है और उस मेनका ने पुत्री के निमित्त मुझे पहिले ही निर्दिष्ट किया है। किस लिये यह राजकुल ऋतूत्सव के समय पर भी उत्सव की तैयारी से रहित दिखाई पड़ रहा है। मुझ में योग द्वारा सब कुछ जनाने

कादम्बरी (कदम्बर+अण्+ङीप्)

शौण्डिक (शुण्डा+ठक्)

निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम् किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरष्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।) (इतिनाट्येनावतीर्य स्थिता)

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी, अपरा च पृष्ठतस्तस्याः)

प्रथमा—

आतम्महरिअपंडुर जीविद सत्तं वसंतमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ ! उदुमंगल ! तुमं पसाएमि ॥२॥

[आताम्रहरितपाण्डुर जीवित ! सत्यं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ! ऋतुमङ्गल ! त्वां प्रसादयामि ॥]

अन्वयः - आताम्रहरितपाण्डुर, सत्यं वसन्तमासस्य जीवित, ऋतुमङ्गल, चूतकोरक दृष्टः असि, त्वां प्रसादयामि।

द्वितीया—परहुदिए, किं एआइणी मंतेसि ? (परभृतिके ! किमेकाकिनी मन्त्रयसे ?)

प्रथमा—महुअरिए ! चूदकलिअं देक्खिअ उम्मत्तिआ परहुदिआ होदि। (मधुकरिके ! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।)

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) **कहं उवट्ठिदो महुमासो ?** [कथमुपस्थितो मधुमासः?]

प्रथमा—महुअरिए, तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं। (मधुकरिके ! तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम्।)

द्वितीया—सहि, अवलंब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ कामदेवच्चणं करेमि। (सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।)

की शक्ति है, किन्तु मुझे सखी की अभिलाषा का आदर करना चाहिये । अच्छा तिरस्करिणी विद्या द्वारा छिपकर इन दोनों उद्यान-पालिकाओं के पास जाकर सब पता लगाऊंगी । (इस प्रकार अभिनयपूर्वक उतर कर खड़ी हो जाती है) ।

(इसके पश्चात् आम की कोंपल को देखती हुई दासी प्रवेश करती है और दूसरी उसके पीछे) ।

पहली—कुछ-कुछ लाल, हरे व पीले, वसन्त मास के सत्य ही प्राण-स्वरूप, ऋतु के मंगल-स्वरूप हे आम्रकोरक ! तुम्हें देख लिया है । मैं तुम्हारा प्रसादन करती हूं ॥२॥

दूसरी—अरी कोयल ! तू अकेली क्या गुनगुना रही है ?

पहली—अरी मधुरिके (भौंरी) ? आम्रमञ्जरी को देखकर कोयल मस्त हो ही जाती है ।

दूसरी—(सहर्ष, जल्दी से पास जाकर) क्या वसन्त आ गया ?

पहली—मधुरिके ! अब यह तेरा मद से मस्त होकर गीत गाने का समय है ।

दूसरी—हे सखि ! मुझे सहारा दो, जब तक मैं पैर के अग्रभाग पर खड़ी होकर आम्रमञ्जरी लेकर कामदेव की पूजा करूं ।

टिप्पणी—गृहीत्वा (गृह् + क्त्वा)

प्रथमा—जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स। [यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य।]

द्वितीया—अकहिदे वि एदं संपज्जइ, जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधा ट्ठिदं सरीरं। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति) अए, अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बंधणभंगसुरभी होदि। (इति कपोतहस्तकं कृत्वा)

तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचब्भहिओ सरो होहि ॥३॥

[अकथितेऽप्येतत्संपद्यते। यत एकमेव नौ जीवितं द्विधा स्थितं शरीरम्।
अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति।
त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव।]

अन्वयः— चूताङ्कुर, मया त्वं गृहीतधनुषे कामाय दत्तः असि, पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरः भव।

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति)

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

कञ्चुकी—मा तावत्। अनात्मज्ञे! देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे।

उभे—(भीते) पसीददु अज्जो। अग्गहीदत्थाओ वअं। (प्रसीदत्वार्यः। अगृहीतार्थे आवाम्।]

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च। तथा हि,—

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ॥४॥

पहली यदि मुझे भी पूजा के फल का आधा भाग मिले।

दूसरी—बिना कहे भी यह सम्पन्न होगा, क्योंकि हम दोनों का प्राण एक ही है, शरीर दो हैं। (सखी का सहारा लेकर आम्र-मञ्जरी को ग्रहण करती है)। अरे! अविकसित भी यह आम्रमञ्जरी बन्धन (डण्ठल) के भङ्ग होने पर सुगन्धि-युक्त है। (दोनों हाथ जोड़कर)।

हे आम्रमञ्जरी! मैं तुझे धनुर्धारी कामदेव के लिये देती हूँ। तू (कामदेव का) पांचों बाणों में सर्वाधिक प्रभावशाली बाण हो, जिसका लक्ष्य पथिक-जनों की युवतियां हों ॥३॥

(इस प्रकार आम्रमञ्जरी को फेंक देती है)

(पर्दा हटे बिना ही सक्रोध प्रवेश करके)

कञ्चुकी—ऐसा नहीं। अरी अनभिज्ञे! महाराज द्वारा वसन्तोत्सव का निषेध होने पर भी तू आम्रमञ्जरी को क्यों तोड़ रही है?

दोनों—(डरी हुई) आर्य प्रसन्न हो। हम दोनों को इस बात का ज्ञान नहीं था।

कञ्चुकी—तुम दोनों ने नहीं सुना कि वसन्त ऋतु में होने वाले वृक्षों ने तथा उन पर आश्रय प्राप्त करने वाले पक्षियों ने महाराज की आज्ञा मानली है।

क्योंकि—

चिरकाल से निकली हुई भी आम की मञ्जरी अपने रज (पराग) को धारण नहीं कर रही है, जो कुरबक का पुष्प था, वह भी कली की अवस्था में ही स्थित है, शिशिर के व्यतीत हो जाने पर भी पुरुष-कोकिलों का शब्द उनके कण्ठों में आकर रुक

टिप्पणी—चतुर्थ श्लोक में विशेषोक्ति, काव्यलिङ्ग एवं उत्प्रेक्षा अलंकार, शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अन्वयः—चूतानां चिरनिर्गता अपि कलिका स्वं रजः न बध्नाति, यद् अपि कुरबकं सन्नद्धम् तत् कोरकावस्थया स्थितम्, शिशिरे गते अपि पुंस्कोकिलानाम् रुतं कण्ठेषु स्खलितम्, शङ्के स्मरः अपि चकितः तूणार्धकृष्टं शरं संहरति।

उभे—णत्थि संदेहो। महाप्पहाओ राएसी। [नास्ति संदेहः। महाप्रभावो राजर्षि।]

प्रथमा—अज्ज! कति दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं? इत्थ अ णो पदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं! ता आअतुअदाए असुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्ततो। (आर्य! कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः? इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम्। तदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः!)

कञ्चुकी—भवतु! न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

उभे—अज्ज! कोदूहल णो। जइ इमिणा जणेण सोदव्वं कहेदु अज्जो किणिमित्तं भट्टिणा वसंतुस्सवो पडिसिद्धो। (आर्य! कौतूहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वयं किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः।)

सानुमती—उस्सवप्पिआ खु मणुस्सा। गुरुणा। कारणेण होदव्वं। (उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।)

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्?

उभे—सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअदंसणं। (श्रुतं राष्ट्रियमुखाद्यावदङ्गुलीयकदर्शनम्?)

गया है। मेरा विचार है कि चकित कामदेव भी तूणीर (तर्कश) से आधे निकाले हुए बाण को वापस लौटा रहा है ।।४।।

दोनों—इसमें सन्देह नहीं है। राजर्षि का महान् प्रभाव है।

पहली—आर्य ! कुछ दिन पूर्व राष्ट्रीय (राजश्याल) मित्रावसु ने हम दोनों को स्वामिनी की सेवा में भेजा था और अब हम दोनों को प्रमद वन की रखवाली का काम सौंपा गया है। अतएव नवागन्तुक होने के कारण यह वृत्तान्त हमने नहीं सुना है।

कञ्चुकी—ठीक है। फिर ऐसा कार्य मत करना।

दोनों—आर्य ! हम दोनों को कौतूहल हो रहा है। यदि हमारे बताने योग्य है तो यह बतलाइये कि स्वामी ने इस उत्सव का निषेध किस लिए किया है ?

सानुमती—मनुष्यों को तो उत्सव प्रिय लगते हैं। कोई बलवान् कारण होना चाहिए।

कञ्चुकी—बहुतों को ज्ञात होने पर तुम से क्यों न कहा जाय ? क्या तुम दोनों ने शकुन्तला के परित्याग के लोकापवाद की बात नहीं सुनी ?

दोनों—अंगूठी के दर्शन तक राजश्याल से सुनी थी।

टिप्पणी—राष्ट्रियः (राष्ट्र+घ इय्)

प्रमदवनम् (प्रमदार्थं वनम्, प्रमदवनम्)

अन्तःपुर में वास करने वाली रानियों के लिये निर्मित आमोद-प्रमोद का उद्यान।

कञ्चुकी— (आत्मगतम्) तेन ह्यल्पं कथयितव्यम् । (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्य-मूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति । तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः । तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥५॥

अन्वयः—रम्यं द्वेष्टि, पुरा यथा प्रकृतिभिः प्रत्यहं न सेव्यते, उन्निद्रः एव शय्याप्रांतविवर्तनैः क्षपाः विगमयति, यदा च दाक्षिण्येन अन्तःपुरेभ्यः उचितां वाचं ददाति तदा गोत्रेषु स्खलितः चिरं व्रीडाविलक्षः भवति ।

सानुमती—पिअं मे । (प्रियं मे)

कञ्चुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः ।

उभे—जुज्जइ । (युज्यते ।)

(नेपथ्ये)

एदु एदु भवं । (एतु एतु भवान् ।)

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा) अये ! इत एवाभिवर्तते देवः । स्वकर्मानुष्ठीयताम् ।

उभे—तह (तथा ।) (इति निष्क्रान्ते)

[ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च]

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् । एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः । तथा हि,—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ।

कञ्चुकी—(स्वगत) तब तो थोड़ा ही कहना है। (प्रकट रूप से) जब से ही महाराज ने अपनी अंगूठी के दर्शन से स्मरण किया कि सत्य ही शकुन्तला मेरी एकान्त में पूर्व विवाहित थी और मोहवश उसका परित्याग कर दिया, तब से ही महाराज को पश्चात्ताप हो रहा है।

क्योंकि—

(वह) रमणीय वस्तु से द्वेष करते हैं, पहले के अनुसार उनकी मन्त्रियों द्वारा सेवा नहीं की जाती। शैया पर करवटें बदलते हुए जागते हुए, रातें बिताते हैं और जब कुशलता से अन्तःपुरवासियों को उचित उत्तर देते हैं तो नामों में त्रुटि करते हुए चिरकाल तक लज्जा से आंखें नीची कर लेते हैं ॥५॥

सानुमती—(यह बात) मुझे प्रिय लगती है।

कञ्चुकी—इसी प्रभाव के कारण, वैमत्य से उत्सव का निषेध कर दिया गया है।

दोनों—ठीक है।

(नेपथ्य में)

(आप इधर आयें, इधर आयें)

कञ्चुकी—(कान लगाकर) अरे ! महाराज तो इधर ही आ रहे हैं। अपना काम करो।

दोनों—अच्छा। (जाती हैं)

(इसके पश्चात् पश्चात्ताप के अनुकूल वेष वाला राजा,

विदूषक और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं)

कञ्चुकी—(राजा को देखकर) विशेष आकृति वालों की सभी अवस्थाओं में सुन्दरता रहती है। इस प्रकार व्याकुल राजा भी सुन्दर है। क्योंकि—

जिन्होंने विशेष आभूषण विधि का त्याग कर दिया है, जिन्होंने बायें प्रकोष्ठ में केवल एक स्वर्ण कंकण ही धारण कर रखा है, जिनका अधरोष्ठ श्वासों से मलिन

टिप्पणी—षष्ठ श्लोक में उपमा एवं स्वभावोक्ति अलंकार है। शार्दूल-विक्रीडित छन्द है।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः

संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

अन्वयः—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः वामप्रकोष्ठार्पितम् एकम् एव काञ्चनं वलयं बिभ्रत् श्वासोपरक्ताधरः चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः आत्मनः तेजोगुणात् संस्कारोल्लिखितः महामणिः इव क्षीणः अपि न आलक्ष्यते ।

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) ठाणे खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउंदला किलम्मदि त्ति । [स्थाने खलु प्रत्यादेश-विमानिताप्यस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति ।]

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥७॥

अन्वयः—प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानम् अपि सुप्तम् इदं हतहृदयं सम्प्रति अनुशयदुःखाय विबुद्धम् ।

सानुमती—णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि [नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि ।]

विदूषकः—(अपवार्य) लंघिदो एसो भूओ वि सउंदला-वाहिणा । ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति । [लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना । न जाने कथं चिकि-त्सितव्यो भविष्यतीति ।]

कञ्चुकी—(उपगम्य) जयतु जयतु देवः । महाराज, प्रत्य-वेक्षिताः प्रमदवनभूमयः । यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः ।

राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि । चिर-प्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामीति ।

हो गया है तथा जिनके नयन चिन्ता से जागने के कारण म्लान हो गए हैं (ऐसे महाराज) स्वतेज गुण के कारण उसी प्रकार क्षीण नहीं प्रतीत हो रहे हैं जिस प्रकार कि शाण पर खरादा हुआ महामणी क्षीण होते हुये भी क्षीण नहीं प्रतीत होता। ६॥

सानुमती—(राजा को देखकर) परित्याग से अपमानित भी शकुन्तला इसके लिये दुःखित रहती है, यह उचित ही है।

राजा—(ध्यानमग्न धीरे-धीरे चलकर)

पहले मृगनयनी प्रिया के द्वारा जगाया हुआ भी सोया हुआ यह अभागा हृदय अब पश्चात्ताप के दुःख के लिये जाग गया है ॥७॥

सानुमती—उस विचारी का भाग्य ही ऐसा था।

विदूषक—(अलग से) शकुन्तला रूप व्याधि से यह फिर ग्रसित कर लिया गया है। न जाने इसकी चिकित्सा किस प्रकार होगी ?

कञ्चुकी—(समीप जाकर) महाराज की जय हो, जय हो। महाराज ! प्रमदवन की भूमि देख-भाल कर ली गई है। महाराज यथेच्छरूप से विनोद के स्थानों पर बैठें।

राजा—वेत्रवति ! मेरे कहने से अमात्य आर्यपिशुन से कहो। अधिक देर तक जागने के कारण आज हमारा धर्मासन पर बैठना सम्भव नहीं है। अतः आपने जो पौरकार्य देखा हो उसे पत्र पर लिखकर दे दें।

सप्तम श्लोक में विभावना एवं विशेषोक्ति अलङ्कार हैं।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनः चिन्तया यत् जागरणम् तेन प्रतान्ते प्रकर्षेण मलिने नयने यस्य सः।

(चिन्ता में जागने से नेत्र मलिन हो गये हैं जिसके)

प्रतिबोध्यमानम् (प्रति + बुध् शानच्)

विबुद्धम् (वि + बुध् + क्त)

प्रतिहारी--जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।]
(इति निष्क्रान्ता)

राजा--वातायन, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

कञ्चुकी--यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः--किदं भवदा णिम्मच्छिअं । संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्सासि । [कृतं भवता निर्मक्षिकम् । सांप्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन्प्रमदवनोद्देश आत्मानं रमयिष्यसि ।]

राजा--वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वचः । कुतः,--

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना
मम च मुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे ! प्रहरिष्यता
धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

अन्वयः--सखे, मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना तमसा मम इदं मनः मुक्तं च, प्रहरिष्यता मनसिजेन धनुषि चूतशरः निवेशितः च ।

विदूषकः--चिट्ठ । दाव इमिणा दंडकट्ठेण कंदप्पवाहिं णासइस्सं । [तिष्ठ तावत् । अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पव्याधिं नाशयिष्यामि ।] [इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति ।]

राजा--(सस्मितम्) भवतु दृष्टं ब्रह्मवर्चसम् । सखे, क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि ।

विदूषकः-- णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठामाहवीमंडवे इमं वेलं अदिवाहिस्सं । तहिं मे चित्तफलअगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउंदलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति ।

प्रतीहारी— जैसी महाराज की आज्ञा। (जाती है)

राजा—वातायन ! तुम भी अपने कर्म को पूरा करो।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। (निकल जाता है)

विदूषक— आपने यह स्थान निर्जन बना दिया है। अब जाड़े एवम् धूप के न रहने से रमणीय इस प्रमद वन के स्थान में अपने आपको रमाओगे।

राजा—मित्र ! यह जो कहा जाता है कि अनर्थ मौका देखकर ही आते हैं, यह कथन उचित ही है। क्योंकि—

हे मित्र ! कण्व-सुता (शकुन्तला) की स्मृति को रोकने वाले अज्ञान से मेरा मन जब मुक्त हुआ, तभी कामदेव ने (मेरे ऊपर) प्रहार करने की इच्छा से धनुष के ऊपर आम्रमञ्जरी का बाण चढ़ा दिया ॥८॥

विदूषक— बैठो तो। अभी इस काष्ठ-दण्ड से काम-व्याधि का नाश करूंगा।

(इस प्रकार काठ का डण्डा उठाकर आम्रमञ्जरी को गिराना चाहता है)

राजा—(मुस्कराकर) ठीक है, ब्रह्म-तेज देख लिया। हे मित्र ! कहां बैठा हुआ प्रिया का कुछ अनुकरण करने वाली लताओं में दृष्टि को बहलाऊं ?

विदूषक—समीप में रहने वाली सेविका चतुरिका को आपने बतलाया था कि माधवी-मण्डप में, मैं इस समय को बिताऊंगा। वहां मेरा चित्र-फलक पर

टिप्पणी—अष्टम श्लोक में समुच्चय एवं अनुप्रास अलङ्कार है। द्रुत-विलम्बित छन्द है।

प्रहरिष्यता (प्र + हृ + लृट् + शतृ)

(तन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता संदिष्टा—माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति।)

राजा—ईदृशं हृदयविनोदस्थानं। तत्तमेव मार्गमादेशय।

विदूषकः—इदो इदो भवं। [इत इतो भवान्।]

(उभौ परिक्रामतः, सानुमत्यनुगच्छति)

विदूषकः—एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहवीमंडवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्संसअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि। ता पविसिअ णिसीददु भवं। [एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतिच्छति। तत्प्रविश्य निषीदतु भवान्।]

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

सानुमती—लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं। तदो से भत्तुणो बहुमुहं अणुराअं णिवेदइस्सं [लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत्सख्याः प्रतिकृतिम्। ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि।] (इति तथा कृत्वा स्थिता)

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

विदूषकः—ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिंडबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी। [न विस्मरामि। किंतु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती।]

रचित, स्वहस्तरचित देवी शकुन्तला का चित्र ले आओ।

राजा—ऐसा ही मनोविनोद का स्थान है, तो उसी मार्ग को बतलाओ।

विदूषक—आप इधर से, इधर से।

(दोनों कुछ चलते हैं. सानुमती पीछे चलती है

विदूषक—यह माधवी लता का मण्डप जो स्फटिक शिला के खण्ड से युक्त है, सत्य ही उपहारों की रमणीयता के द्वारा निःसन्देह जैसे हम दोनों का स्वागत कर रहा है। इसलिये आप प्रवेश करके बैठें।

(दोनों प्रवेश करके बैठ जाते हैं)

सानुमती—लता का आश्रय लेकर सखि का चित्र देखूंगी। तब इसकी पति का अनेकविध अनुराग बतलाऊंगी। (इस प्रकार वैसा करके स्थित होती है)

राजा—हे मित्र! अब मुझे शकुन्तला का प्रथम वृत्तान्त सब स्मरण हो रहा है और आपसे भी मैंने कह दिया है। परन्तु आप प्रत्याख्यान के समय मेरे पास नहीं थे। किन्तु पहिले भी तुमने कभी देवी शकुन्तला का नाम नहीं लिया। क्या तुम भी मेरी तरह भूल गये हो?

विदूषक—भूला नहीं हूँ। परन्तु सब कहकर अन्त में आपने कहा था कि

सानुमती—एव्वं णेदं। [एवमेवैतत्।]

राजा—(ध्यात्वा) सखे, त्रायस्व माम्।

विदूषकः—भो, किं एदं? अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होंति। णं पवादे वि णिक्कंपा गिरीओ। [भोः! किमेतत्? अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषाः शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः।]

राजा—वयस्य, निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्था-मनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि,—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥६॥

अन्वय:—इतः प्रत्यादेशात् स्वजनम् अनुगन्तुम् व्यवसिता गुरुसमे गुरुशिष्ये तिष्ठ इति उच्चैः वदति (सति) स्थिता। वाष्पप्रसरकलुषाम् दृष्टिम् पुनः क्रूरे मयि अर्पितवती (इति) यत् तत् सविषम् शल्यम् इव माम् दहति।

सानुमती—अम्महे, ईदिसी स्सकज्जपरदा। इमस्स संदावेण अहं रमामि। [अहो, ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य संतापेनाहं रमे।]

विदूषकः—भो, अत्थि मे तक्को—केण वि तत्तहोदी आआस-संचारिणा णीदे त्ति। [भोः! अस्ति मे तर्कः—केनापि तत्रभव-त्याकाशसंचारिणा नीतेति।]

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामष्टुमुत्सहेत? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

यह परिहास की बात है, सत्य नहीं। मैंने भी मृतपिण्ड बुद्धि से वैसा ही समझ लिया या होनी ही बलवती है।

सानुमती - यह इसी प्रकार है।

राजा—(सोचकर) हे सखे ! मेरी रक्षा करो।

विदूषक--अरे, यह क्या ? आपके विषय में यह पूर्णतया अनुचित है। सत्पुरुष कभी भी शोक के पात्र नहीं होते। भयङ्कर वायु में भी पर्वत विचलित नहीं होते।

राजा—मित्र ! परित्याग के कारण व्यथित प्रिया की अवस्था का स्मरण करके मैं अत्यन्त असहाय हो गया हूँ। क्योंकि वह—

यहां मेरे द्वारा त्यागी हुई होने के कारण अपने घर वालों का अनुगमन करने लगी। किन्तु पितृ-तुल्य पितृ-शिष्य के उच्च स्वर से यह कहने पर कि 'रुको' रुक गई। (उसने) अश्रुप्रवाह से मलिन दृष्टि को मुझ क्रूर पर डाला। (यह सब) विषयुक्त बाण की तरह मुझे जला रहा है।

सानुमती—अहो, अपने कार्य की लगन ऐसी ही होती है। जो कि मैं इसके सन्ताप से प्रसन्न हो रही हूँ।

विदूषक—अरे, मेरा विचार है कि वह माननीया (शकुन्तला) किसी आकाश में विचरण करने वाले के-द्वारा ले जाई गई है।

राजा—पति है देवता जिसका (पतिव्रता) ऐसी (उस शकुन्तला) को और कौन स्पर्श करने का साहस कर सकता है ? मैंने सुना है कि मेनका तुम्हारी सहेली की माता है। मेरा हृदय तो यह आशङ्का करता है कि तुम्हारी सखि (शकुन्तला) उसकी (मेनका की) सखियों के द्वारा ले जाई गई है।

टिप्पणी--निर्णयसागर संस्करण में 'वास्तव्याः' के स्थान पर ('वक्तव्याः' समझाने योग्य) पाठ है।

शोकवास्तव्याः (शोकस्य वास्तव्याः निवासस्थानानि, षष्ठी तत्पुरुष समासः, उष्यते एषु इति वास्तव्याः, वस+तव्यत्)

व्यवसिता (वि+अव+सो+क्त)

बाष्प प्रसरकलुषाम् (बाष्पाणाम् अश्रुणाम्, प्रसरः, प्रवाहः, तेन कलुषाम् मलिनाम्)

नवम श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं शिखरिणी छन्द है।

निर्णयसागर संस्करण में स्थिता के स्थान पर मुहुः (बार-बार) पाठ है।

सानुमती—संमोहो खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो। [संमोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः ।]

विदूषकः—जइ एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए ! [यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या ।]

राजा—कथमिव ?

विदूषकः—ण क्खु मादापिदरा भत्तुविओअदुक्खिअं दुहिदरं पेक्खिदुं पारेंति। [न खलु मातापितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं द्रष्टुं पारयतः ।]

राजा—वयस्य,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥१०॥

अन्वयः--तत् स्वप्नः नु, माया नु, मतिभ्रमः नु, तावत् फलम् एव क्लिष्टम् पुण्यम् नु, असन्निवृत्त्यै अतीतम् । एते मनोरथाः नाम तटप्रपाताः ।

विदूषकः—मा एव्वं । णं अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिंतणिज्जो समाअमो होदि त्ति । (मैवम्; नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति ।)

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) अये, इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम् ।

तव सुचरितमङ्गुलीय ! नूनं
प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन ।
अरुणनखमनोहरासु तस्या-
श्च्युतमसि लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

अन्वयः—हे अङ्गुलीय ! तव सुचरितम् मम इव नूनम् प्रतनु, फलेन विभाव्यते । यत् अरुण नख मनोहरासु तस्याः अङ्गुलीसु लब्धपदम् च्युतम् असि ।

सानुमती—विस्मृति ही आश्चर्य के योग्य है न कि स्मृति।

विदूषक यदि ऐसा है तो निश्चय ही समयानुसार आपका उस माननीया से मिलन होगा।

राजा—कैसे ?

विदूषक—निश्चय ही माता-पिता पति के वियोग से दुःखित पुत्री को देखने में समर्थ नहीं होते।

राजा—मित्र !

वह (प्रिया का मिलन) क्या स्वप्न था ? क्या माया थी ? क्या बुद्धि-भ्रम था ? क्या उतने ही पुण्य वाला अत्यन्त अल्प पुण्य था ? जो (प्रियमिलन) कभी न लौटने के लिये चला गया। ये (मेरे) मनोरथ नदी तट के पतन के समान है ॥१०॥

विदूषक—ऐसा नहीं, यह अंगूठी ही इसका प्रमाण है कि अवश्यम्भावी समागम अकस्मात् ही होता है।

राजा—(अंगूठी को देखकर) अरे ! दुर्लभ स्थान से गिरने वाली यह (अंगूठी) शोक करने योग्य है।

हे अंगूठी ! तुम्हारा पुण्य मेरे ही समान निश्चिल रूप से न्यून है। (यह तुम्हारे द्वारा भुक्त) फल से जाना जाता है। जो कि (तुम) अरुणनखों से मनोहर उस शकुन्तला की अंगुलियों में स्थान प्राप्त करके गिर पड़ी थीं ॥११॥

टिप्पणी—१० वें श्लोक में सन्देह और काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। प्ररोचना नामक विमर्श सन्ध्यङ्ग और संशय नामक नाट्य लक्षण है। उपजाति छन्द है।

असन्निवृत्त्यै (सम्+नि+वृत्+क्तिन्, सन्निवृत्तिः, न सन्निवृत्तिः असन्निवृत्तिः तस्यै)

मनोरथानाम (रथाः इव रथाः, मनसः रथाः मनोरथाः)

निदर्शनम (निदर्श्यते अनेन इति निदर्शनम (नि+दृश्+ल्युट)

अवश्यम्भावी (अवश्यम्+भू+णिनि)

समागमः (सम+आ+गम्+अप्)

११ वें श्लोक में अनुमान, काव्यलिङ्ग और समासोक्ति अलङ्कार हैं।

सानुमती—जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे। (यद्यन्यहस्तगतं भवेत्सत्यमेव शोचनीयं भवेत्।)

विदूषकः—भो इअं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा? (भोः! इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता?)

सानुमती—मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो। (ममापि कौतूहलेनाकारित एषः।)

राजा—श्रूयताम्, स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सवाष्पमाह-कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

विदूषकः—तदो तदो? (ततस्ततः?)

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमात्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय गच्छति यावदन्तम्।
तावत्प्रिये! मदवरोधगृहप्रवेशं
नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति॥१२॥

अन्वयः—हे प्रिये! दिवसे दिवसे एकैकम् मदीयम् नामाक्षरम् गणय। यावत् अन्तम् गच्छसि तावत् मदवरोधगृहप्रवेशम् नेता जनः तव समीपम उपेष्यति इति।

तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

सानुमती—रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो। [रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः।]

विदूषकः—कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भंतले आसि? (कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत्?)

सानुमती—यदि किसी और के हाथ पड़ती तो सत्य ही शोक की बात होती।

विदूषक - हे मित्र ! यह नामाङ्कित मुद्रिका किस प्रसंग से उनके हाथ में पहनाई थी ?

सानुमती— मेरे कौतूतुल से यह भी प्रेरित हुआ है।

राजा—सुनो, अपने नगर के लिये प्रस्थान करने वाले मुझ से प्रिया (शकुन्तला) ने अश्रूपूरित नेत्रों सहित कहा था— "आर्य पुत्र ! कितने दिन बाद समाचार भेजेंगे ?"

विदूषक—फिर, फिर।

राजा —इसके पश्चात् इस अंगूठी को उसकी अंगुली में पहनाते हुये मैंने कहा—

हे प्रिये ! प्रतिदिन मेरे नाम का एक-एक अक्षर गिनना। जब तक तुम उसकी (नामाक्षारगणना) समाप्ति पर पहुँचोगी तो तब तक मेरे अन्तःपुर तक ले जाने वाला व्यक्ति तुम्हारे पास तक पहुँच जायेगा।

और वह निष्ठुरचित्त मैंने अज्ञानवश क्या नहीं किया ?

सानुमती—विधाता के द्वारा बिगाड़ दी गई यह अवधि निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर थी।

विदूषक—धीवर द्वारा काटे गये रोहित मत्स्य (मछली विशेष) के पेट के अन्दर (यह अंगूठी) कैसे थी ?

टिप्पणी निर्णयसागर संस्करण में १२वें श्लोक के अन्तर्गत 'गच्छसि' के स्थान पर 'गच्छति' (गिनती जब तक समाप्त होती है) पाठ है। १२वें श्लोक में पर्यायोक्ति अलंकार और वसन्ततिलका छन्द है।

अवरोधगृहप्रवेशम् (अवरुध्यन्ते अस्मिन् इति अवरोधः, अव+रुध+घञ्, प्रविशति अनेन इति प्रवेशः, प्र+विश+घञ्, अवरोधस्य गृहम् अवरोधगृहम् तस्यप्रवेशः अवरोधगृहप्रवेशः, तम्।

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम् ।

विदूषकः—जुज्जइ । [युज्यते ।]

सानुमती—अदो एव्व तवस्सिणीए सउंदलाए, अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि । अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि । कहं विअ एदं ? [अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षे परिणये संदेह आसीत् । अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । कथमिवैतत् ?]

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम् ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) गहीदो णेण पंथा उम्मत्तआणं । [गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम् ।]

राजा—[अङ्गुलीयकं विलोक्य] मुद्रिके !

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि ?

अथवा,—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

अन्वयः—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम् तम् करम् विहाय कथम् नु अम्भसि निमग्नम् असि । अथवा अचेतनम् गुणम् नाम न लक्षयेत्, मया एव कस्मात् प्रिया अवधीरिता ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि । [कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि ।]

राजा— अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

राजा—शची तीर्थ की वन्दना करती हुई तुम्हारी सहेली के हाथ में गङ्गा के प्रवाह में गिर गई।

विदूषक—ठीक है।

सानुमती—इसीलिए इस अधर्म भीरु राजर्षि (दुष्यन्त) को तपस्विनी शकुन्तला के साथ विवाह के विषय में सन्देह हो गया था अथवा ऐसा अनुराग अभिज्ञान की अपेक्षा रखता है, यह कहां तक उचित है?

राजा—तो इस अंगूठी को उलाहना देता हूँ।

विदूषक—(मन ही मन) इन्होंने उन्मत्तों का मार्ग ग्रहण किया है।

राजा—(अंगूठी को देखकर) हे अंगूठी !

सुन्दर और सुकुमार अंगुलियों वाले उत्तम करों को छोड़कर किस प्रकार जल में गिर पड़ी? या (यह सम्भव है कि) अचेतन वस्तु गुणों की ओर ध्यान न दे, (परन्तु) मैंने ही किस लिए प्रिया का अपमान किया? ॥१३॥

विदूषक—(मन ही मन) क्या बात है? ऐसा लगता है कि भूख मुझे खा जायेगी।

राजा—अकारण परित्याग के पश्चात्ताप से दुःखी है हृदय जिसका ऐसे हम जन (दुष्यन्त) को पुनः दर्शन देने की कृपा करो।

(चित्रपट हाथ में लेकर चतुरिका का पर्दा हटाकर प्रवेश)

टिप्पणी—१३ वें श्लोक में विभावना, समासोक्ति और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार हैं। वंशस्थ छन्द है।

बन्धुरकोमलाङ्गुलिम् (बन्ध + उरप्, बन्धुराः सुकुमाराः अङ्गुलयः यस्मिन् तम्, बहुव्रीहि समासः)

चतुरिका-- इअं चित्तगदा भट्टिणी । (इयं चित्रगता भट्टिनी ।) (इति चित्र फलकं दर्शयति)

विदूषकः--साहु वअस्स, महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेसो। क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु। (साधु वयस्य ! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु ।)

सानुमती--अम्मो, एसा राएसिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति । (अहो, एषा राजर्षेनिपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति ।)

राजा--

यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥१४॥

अन्वयः—चित्रे यत् यत् साधु न स्यात् तत् तत् अन्यथा क्रियते । तथापि तस्याः लावण्यम् रेखया किञ्चित् अन्वितम् ।

सानुमती--सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ। (सदृशमेतत्पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च ।)

विदूषकः— भो, दाणिं तिण्हिओ तत्तहोदी ओदीसंति । सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी अउंदला ? (भो ! इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः कतमात्र तत्रभवती शकुन्तला ?)

सानुमती— अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठी अअं जणो। (अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोहदृष्टिरयं जनः ।)

राजा—त्वं तावत्कतमां तर्कयसि ?

चतुरिका—यह चित्रलिखित महारानी है।

(इस प्रकार चित्रपट्ट दिखाती है)

विदूषक—मित्र ! बहुत सुन्दर है। (इसमें) भावों का सञ्चार सुन्दर विन्यास के कारण दर्शनीय है। ऊंचे और नीचे प्रदेशों में (चित्रपटट) मेरी दृष्टि लड़खड़ाती-सी है।

सानुमती—यह राजर्षि की निपुणता धन्य है। ऐसा लगता है, मानो मेरे सामने सखी खड़ी है।

राजा—चित्र में जो-जो ठीक नहीं है, उसे ठीक करता हूँ। तो भी उसका लावण्य रेखाओं के द्वारा कुछ ही ठीक हुआ है ॥१४॥

सानुमती—पश्चात्ताप के कारण बढ़े हुए प्रेम और निरभिमान के सदृश ही यह (वक्तव्य) है।

विदूषक— महानुभाव ! इस समय तीन मानवीय स्त्रियां दिखाई पड़ रही हैं। सभी सुन्दर हैं। इनमें माननीय शकुन्तला कौनसी है ?

सानुमती—इस की दृष्टि निश्चय ही मोहयुक्त है, जो यह ऐसे सौन्दर्य से भी अनभिज्ञ है।

राजा—तो, तुम किसे (शकुन्तला) समझते हो ?

मधुरावस्थानदर्शनीय :—(अवस्थीयते 'अनेन' अस्मिन् इति अवस्थानम्, अव + स्था + ल्युट, मधुरम् अवस्थानम् इति मधुरावस्थानम्, तेन दर्शनीयः हृद्यः।

चतुर्दश श्लोक में पथ्यावक्त्र छन्द है। पथ्यावक्त्र का लक्षण इस प्रकार है—
युजोश्चतुर्थतो जे न पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'

टिप्पणी :—निर्णयसागर संस्करण के अन्तर्गत शिथिल बन्धनों के स्थान पर शिथिल केश-बन्धनों' (शिथिल केश-बन्धन से) पाठ है। १५ वें श्लोक में 'वर्णिको०' के स्थान पर 'वर्तिको० (चित्रपट्ट के लेप विशेष के फूल जाने से) पाठ है।

विदूषकः— तक्केमि जा एसा सिढिलकेसबंधणुव्वंतकुसुमेण केसंतेण उब्भिण्णस्सेअबिंदुणा वअणेण विसेसदो ओसरिआहिं बाहाहिं अवसेअसिणिद्धतरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे ईसिपरिस्संता विअ आलिहिदा सा सउंदला। इदराओ सहीओ त्ति। (तर्कयामि यैषा शिथिलकेबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।)

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥१५॥

अन्वयः—रेखाप्रान्तेषु मलिनः स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः दृश्यते। इदम् च कपोलपतितम् अश्रु वर्तिकोच्छ्वासात् दृश्यम्।

चतुरिके! अर्धलिखितमेतद्विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिकां तावदानय।

चतुरिका— अज्ज माढव्व, अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि। (आर्य माढव्य! अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि।)

राजा—अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति)

(निष्क्रान्ता चेटी)

राजा—(निःश्वस्य) अहं हि,—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।

विदूषक—मेरा विचार है कि जिसकी शिथिलवेणी से पुष्प गिर गए हैं ऐसे केशपाश से युक्त, जिसके मुख पर पसीने की बूंदें दिखाई पड़ रही हैं, जिसकी बाहु अधिक झुकी हुई हैं, जो सींचने से स्निग्ध और नवपल्लव सम्पन्न आम्रवृक्ष के पास थकी हुई सी आलिखित (चित्रित) है, वह शकुन्तला है। दूसरी (दो) सखियां हैं।

राजा—आप निपुण हैं। इस चित्र में मेरे भावों का चिन्ह है। (चित्र के) रेखा-प्रान्तों (किनारे) पर स्वेदयुक्त अंगुलियों के रखने से मलिन चिन्ह दिखाई पड़ रहा है और यह एक (चित्रगत शकुन्तला के) कपोल पर पड़ा हुआ रंग के फूल जाने से दृष्टिगोचर हो रहा है ॥१५॥

चतुरिके ! यह विनोद की वस्तु अधूरी है। जाओ, कूंची तो लाओ।

चतुरिका—आर्य माढव्य ! इस चित्रपट्ट को जरा पकड़ लो, जब तक मैं लौट कर आती हूं।

राजा—मैं ही इसे पकड़ता हूं। (इस प्रकार चित्रपट्ट को पकड़ता है)

(चेटी का प्रस्थान)

राजा—(गहरी साँस लेकर) मैं तो—

पहले प्रत्यक्ष रूप से समीप स्थित प्रिया (शकुन्तला) को छोड़कर फिर चित्र में स्थित इसे (शकुन्तला को) बहुत मानता हुआ वैसा ही हो गया हूं, जैसे कि

टिप्पणी—स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः (स्विन्नानाम् अङ्गुलीनाम् विनिवेशः षष्ठी तत्पुरुष समासः)

१५वें श्लोक में अनुमान अलङ्कार एवं आर्या छन्द है।

१६वें श्लोक में निदर्शना अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है।

स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य

जातः सखे ! प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

अन्वयः—हे सखे ! पूर्वं साक्षात् उपगताम् प्रियाम् अपहाय पुनः चित्रार्पिताम् इमाम् बहुमन्यमानः, पथि निकामजलाम् स्रोतोवहाम् अतीत्य मृगतृष्णिकायाम् प्रणयवान् जातः ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) एसो अत्तभवं णदिं अदिक्कमिअ मिअतिण्हिअं संकंतो । (प्रकाशम्) भो, अवरं किं एत्थ लिहिदव्वं ? (एषोऽत्रभवान्नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः । भोः ! अपरं किमत्र लिखितव्यम् ?)

सानुमती—जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं आलिहिदुकामो भवे । (यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत् ।)

राजा—श्रूयताम्,

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी

पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः

शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥७॥

अन्वयः—सैकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनीकार्या ताम् अभितः निषण्णहरिणाः गौरीगुरोः पावनाः पादाः । शाखालम्बितवल्कलस्य तरोः अधः कृष्णमृगस्य शृङ्गे वामनयनम् कण्डूयमानाम् मृगीम् च निर्मातुम् इच्छामि ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लंबकुच्चाणं तावसाणं कदंबेहिं । (यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः ।)

राजा—वयस्य, अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमस्माभिः ।

विदूषकः—किं विअ ? (किमिव ?)

मार्ग में अत्यन्त जल से पूर्ण नदी को छोड़कर मृगतृष्णा में प्रेमयुक्त हो गया हूं ॥१६॥

विदूषक—(मन ही मन) यह श्रीमान् नदी को छोड़कर मृगतृष्णा में प्रवेश कर गये हैं। श्रीमन्! इसमें और क्या बनाना है?

सानुमती—जो-जो स्थान मेरी सखी को प्रिय है, उनको बनाने के लिए यह उत्सुक प्रतीत होते हैं।

राजा—सुनो।

जिसके किनारे पर हंसों के मिथुन स्थित हैं, ऐसी मालिनी नदी का निर्माण करना है, उसके दोनों तरफ जिन पर हरिण बैठे हुए हैं, ऐसी हिमाद्रि की पवित्र पहाड़ियों का निर्माण करना है और शाखाओं पर लटके हुए हैं वल्कल जिसके, ऐसे वृक्ष के नीचे कृष्ण-मृग के सींग पर बायें नयन को खुजाती हुई मृगी का निर्माण करना चाहता हूं।

विदूषक—(मन ही मन) जो कि मैं समझता हूं, यह इस चित्रपट को लम्बी दाढ़ी वाले तपस्वियों के समूहों से भर देंगे।

राजा—मित्र! और शकुन्तला की सजावट हमें करनी है।

विदूषक—वह क्या?

टिप्पणी—**स्रोतोवहाम्** (वहति इति वहा, वह+अच् कर्त्तरि स्त्रियाम स्रोतसां वहा, ताम्)

निकामजलाम् (निकामं प्रभूतं जलं यस्यां ताम्)

अतीत्य (अति+इ+क्त्वा+ल्यप्)

प्रणयवान् (प्रणीयते अनेन इति प्रणयः, प्र+नी+अच् प्रणयः अस्ति अस्य, प्रणय+मतुप्)

१७वें श्लोक में तुल्ययोगिता और स्वभावोक्ति अलङ्कार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सैकतलीनहंसमिथुना (सिकताः अस्ति अस्मिन् इति सैकतम् सिकता+अण्, सैकते लीनानि हंसमिथुनानि यत्र सा बहुव्रीहि समास)

निषण्णहरिणाः (निषण्णाः हरिणाः येषु ते, बहुव्रीहि समासः)

नि+सद्+क्त, निषण्णाः।

सानुमती—वणवासस्स सोउमारस्स अविणअस्स अ जं सरिसं भविस्सदि। (वनवासस्य सौकुमार्यस्याविनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति।)

राजा—

कृतं न कर्णार्पिनबन्धनं सखे !
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥१८॥

अन्वयः—हे सखे! कर्णार्पित बन्धनम् आगण्डविलम्बिकेसरम् शिरीषम् न कृतम्। स्तनान्तरे शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् मृणालसूत्रम् न वा रचितम्।

विदूषक—भो! किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चइदचइदा विअ ठिआ? आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो तत्तहोदीए वअणं अहिलंघेदि महुअरो। (सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा) [भोः! किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्ववशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता। आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः]।

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः।

विदूषकः—भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि। [भवानेवाविनीतानांशासितानां शासितास्य वारणे प्रभविष्यति।]

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥१९॥

अन्वयः—अनुरक्ता एषा मधुकरी तृषिता कुसुमनिषण्णा सती अपि भवन्तम् प्रतिपालयति। त्वया विना न खलु मधु पिबति।

सानुमती—जो वनवास, सुकुमारता और विनय के अनुकूल होगा।

राजा—मित्र ! कर्णों में फंसा हुआ है डंठल जिसका तथा कपोलों तक फैला हुआ है पराग जिसका ऐसे शिरीष के पुष्प को नहीं बनाया गया है और न ही स्तनों के मध्य में शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल कमलनाल (मृणाल) का हार बनाया गया है ॥१८॥

विदूषक—महानुभाव ! यह माननीया रक्त कमल के पल्लव के समान शोभित हस्त के अग्रभाग से मुख को ढककर अत्यन्त चकित-सी किस लिए खड़ी हैं ? (सावधानी से विचार कर देखकर) अरे ! यह नीच, पुष्प-रस को चुराने वाला भ्रमर इन माननीया के मुख पर आक्रमण कर रहा है।

राजा—तो इस धृष्ट को हटाओ।

विदूषक—दुष्टों के शासक आप ही इसके हटाने में समर्थ हैं।

राजा—ठीक है। हे कुसुमलता के प्रिय अतिथि ! तुम इन (शकुन्तला) के चारों ओर चक्कर लगाने का कष्ट क्यों कर रहे हो ?

(तुम में) अनुरक्त यह भ्रमरी तृषित हुई पुष्प पर बैठी हुई भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम्हारे बिना (यह) मधु का पान नहीं कर रही है ॥१९॥

टिप्पणी—१८वें श्लोक में समुच्चय एवं उपमा अलङ्कार एवं वंशस्थ छन्द है।

आगण्डविलम्बिकेसरम् (आगण्डम् विलम्बिनः केसराः यस्य तत् बहुव्रीहि समासः)

१९वें श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार और आर्या छन्द है।

प्रतिपालयति (प्रति+पा+णिच्)

निर्णयसागर संस्करण में विनयस्य के स्थान पर 'अविनयस्य' (अविनय के) पाठ है।

सानुमती—अज्ज अभिजादं खु एसो वारिदो। [अद्याभिजातं खल्वेष वारितः]।

विदूषकः—पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी। [प्रतिषिद्धापि वामैषा जातिः]।

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि ? श्रूयतां तर्हि त्वंप्रति,—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।
विम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर ! प्रियायाः
त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

अन्वयः—हे भ्रमर ! अक्लिष्टबालतरुपल्लव लोभनीयम् मया रतोत्सवेषु सदयम् एव पीतम् प्रियायाः बिम्बाधरम् चेत स्पृशसि, त्वाम् कमलोदर-बन्धनस्थम् कारयामि ।

विदूषकः—एव्वं तिक्खणदंडस्स किं ण भाइस्सदि ? (प्रहस्य आत्मगतम्) एसो दाव उम्मत्तो। अहं पि एदस्स संगेण ईदिस-वण्णो विअ संवुत्तो। (प्रकाशम्) भो, चित्तं खु एदं। [एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति ? एष तावदुन्मत्तः अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भोः, चित्रं खल्वेतत्।]

राजा—कथं चित्रम् ?

सानुमती—अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालि-हिदाणुभावी एसो। [अहमपीदानीमवगतार्था, किं पुनर्यथालिखि-तानुभाव्येषः।]

राजा—वयस्य, किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

सानुमती—इस समय इसे (भ्रमर को) शिष्टता से रोका है।

विदूषक—यह जाति ऐसी है कि रोके जाने पर भी उल्टी ही चलती है।

राजा—अच्छा तू मेरा शासन नहीं मानता तो अब सुन—

हे भ्रमर! बिना कुम्हलाए हुए एवं नव तरु-पल्लव के समान सुन्दर तथा मेरे द्वारा रति-क्रीड़ा में दयापूर्वक पान किये गये प्रिया (शकुन्तला) के बिम्बाधर का यदि तू स्पर्श करता है तो मैं तुझे कमल के मध्यभागरूप-बन्धन में डाल दूंगा।।२०।।

विदूषक—इस प्रकार तीक्ष्ण दण्ड देने वाले तुमसे यह क्यों नहीं डरेगा? (हंसकर, मन ही मन) यह तो उन्मत्त हो गये हैं। मैं भी इनके साथ में ऐसा ही हो गया हूँ। (प्रकट) महानुभाव! यह तो चित्र है।

राजा—क्या चित्र है?

सानुमती—मुझे भी अब वास्तविक बात का पता चला है। चित्र में लिखे के अनुसार अनुभव करने वाले इस राजा का तो क्या कहना?

राजा—मित्र! यह क्या धृष्टता की?

टिप्पणी—२०वें श्लोक में अतिशयोक्ति एवं समासोक्ति अलङ्कार हैं। वसन्ततिलका छन्द है।

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम् (अक्लिष्टः अम्लानः बालश्च नवीनश्च यः तरुपल्लवः तद्वत् लोभनीयम् सुन्दरम्, कर्मधारय समासः।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

अन्वयः—तन्मयेन हृदयेन साक्षात् इव दर्शनसुखम् अनुभवतः मे स्मृतिकारिणा त्वया कान्ता पुनः अपि चित्र कृता।

(इति बाष्पं विहरति)

सानुमती—पुव्वावरविरोही अपुव्वो एसो विरहमग्गो। [पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः।]

राजा—वयस्य, कथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
बाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥२२॥

अन्वयः—प्रजागरात् तस्याः स्वप्ने समागमः खिलीभूतः। बाष्पः तु चित्रगताम् अपि एनाम द्रष्टुम न ददाति।

सानुमती—सव्वहा पमज्जिदं तुए पच्चादेसदुक्खं सउंदलाए। [सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः।]

(प्रविश्य)

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरंडअं गेण्हिअ इदोमुहं पत्थिद म्हि। [जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि।]

राजा—किं च ?

चतुरिका—सो मे हत्थादो अंतरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो। [स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः।]

तल्लीन हृदय से मानो प्रत्यक्ष दर्शन के सुख का अनुभव करने वाले मुझे स्मरण दिलाकर तुमने प्रिया को फिर चित्र बना दिया है ॥२१॥

(इस प्रकार आंसू बहाता है)

सानुमती—पूर्वापर का विरोधी यह वियोग-मार्ग अपूर्व ही है।

राजा—हे मित्र ! मैं इस प्रकार लगातार दुःख का अनुभव क्यों कर रहा हूँ ?

रात्रि में जागने के कारण स्वप्न में (भी) समागम रुक गया है और आंसू इस चित्र में स्थित (शकुन्तला) को नहीं देखने देते ॥२२॥

सानुमती— तुमने शकुन्तला के परित्याग के दुःख को पूर्णतया दूर कर दिया है।

(प्रवेश करके)

चतुरिका—महाराज की जय हो। कूचियों की पेटी ले मैं इस ओर आ रही थी।

राजा—फिर क्या ?

चतुरिका—उसे, (पेटी को) जिसके साथ में तरलिका थी, ऐसी वसुमती ने मेरे हाथ से बलपूर्वक यह कहकर छीन लिया कि मैं ही इसे (पेटी को) आर्यपुत्र के पास ले जाऊंगी।

टिप्पणी—२१वें श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार और आर्या छन्द है।

स्मृतिकारिणा (स्मृति+कृ+णिनि)

२२वें श्लोक के अन्तर्गत हेतु अलङ्कार और पथ्यावक्त्र छन्द है। पथ्यावक्त्र का लक्षण पीछे दिया जा चुका है।

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का। (दिष्ट्या त्वं मुक्ता।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता। [यावद्देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा।]

राजा—वयस्य! उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

विदूषकः—अत्ताणं त्ति भणाहि। (चित्रफलकमादायोत्थाय च) जइ भवं अंतेउरकालकूडादो मुंचीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छंदे-प्पासादे सद्दावेहि। [आत्मानमिति भण। यदि भवानन्तःपुर-कालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।] (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः)

सानुमती—अण्णसंकंतहिअओ वि पढमसंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणिं एसो। [अन्यसंक्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः।]

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो। [जयतु जयतु देवः]

राजा—वेत्रवति, न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

प्रतीहारी—अह इं? पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता। [अथ किम्? पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।]

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी—देव, अमच्चो विण्णवेदि-अत्थजादस्स गणणा-बहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्च-क्खीकरेदु त्ति। [देव! अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणना-बहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोतु इति।]

विदूषक—भाग्य से तुम छुटकारा पा गयीं ।

चतुरिका—जब तक वृक्ष में अटके हुये देवी के दुपट्टे को तरलिका छुड़ाने लगी, तब तक मैं बचकर आ गयी ।

राजा—मित्र ! महारानी उपस्थित हो ही रही हैं । वह अत्यन्त गर्व से गर्वित हैं । आप इस चित्र की रक्षा करें ।

विदूषक—(चित्रपट्ट को लेकर और उठकर) जब आप अन्तःपुर के जाल से छुटकारा पा जायें तो मुझे मेघप्रतिच्छन्द नाम के महल पर पुकारना । (इस प्रकार शीघ्रता से निकल गया) ।

सानुमती—(वसुमती के प्रति) शिथिल पड़ गया है प्रेम जिसका, ऐसे इसका (राजा का) मन दूसरी (शकुन्तला) में लगा है, परन्तु फिर भी यह पूर्व प्रेम का ध्यान रखता है ।

(पत्र हाथ में लिये हुये प्रवेश करके)

प्रतीहारी—महाराज की जय हो, जय हो ।

राजा—वेत्रवती ! क्या तुमने मार्ग में देवी (वसुमती) को नहीं देखा ?

प्रतीहारी—जी हां, किन्तु पत्र हाथ में लिये हुये मुझे देखकर वह लौट गयी ।

राजा—कार्य को जानने वाली वह मेरे कार्य में रुकावट नहीं डालती ।

प्रतीहारी—महाराज ! अमात्य ने निवेदन किया है—

अर्थसंग्रह सम्बन्धी कार्य में गणना-कार्य की अधिकता के कारण एक ही नागरिक कार्य का मैंने अवेक्षण (जांच) किया है । पत्र में लिखे हुये उसे महाराज देख लें ।

टिप्पणी—प्रत्यक्षीकरोतु (अक्ष्णोः प्रति, इति प्रत्यक्षम्, प्रति+अक्षि+टच्, प्रत्यक्ष+च्वि+कृ+तु लोट्) ।

अर्थसञ्चयः (सम्+चि+अच, सञ्चयः अर्थस्य सञ्चयः, तत्पुरुष समासः) ।

राजा—इतः पत्रिकां दर्शय।

(प्रतीहार्युपनयति)

राजा—(अनुवाच्य) कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति, बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतीहारी—देव, दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि। [देव ! इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।]

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ एवममात्यं ब्रूहि।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति प्रस्थिता)

राजा—एहि तावत्।

प्रतीहारी—इअम्हि [इयमस्मि।]

राजा—किमनेन संततिरस्ति नास्तीति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥२३॥

अन्वयः—प्रजाः येन येन स्निग्धेन बन्धुना वियुज्यन्ते, पापात् ऋते दुष्यन्त तासाम् सः सः इति घुष्यताम्।

प्रतीहारी—एव्वं णाम घोसइदव्वं। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) काले पवुट्ठं विअ अहिणंदिदं देवस्स सासणं! [एवं नाम घोषयितव्यम्। काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।]

राजा—इधर (पत्र को) दिखायें।

(प्रतीहारी पत्र देती है)

राजा—(बांचकर) क्या ? समुद्र से व्यापार करने वाला धनमित्र नामक प्रधान वणिक् नौका टूट जाने से मर गया है और बेचारा निःसन्तान है। अमात्य ने लिखा है कि उसका सञ्चित धन राजकीय वस्तु है। निःसन्तान होना निश्चय ही कष्ट की बात है अधिक धन होने के कारण उसे अनेक पत्नियों वाला होना चाहिये। देखो कि उसकी पत्नियों में से कोई गर्भिणी है।

प्रतीहारी—महाराज ! सुना है कि उसकी पत्नी, जो अयोध्या के एक सेठ की पुत्री है, का पुंसवन संस्कार अभी हुआ है।

राजा—तो गर्भस्थ बालक पिता के धन का अधिकारी है।

प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा। (इस प्रकार चली गई)।

राजा—इधर आओ।

प्रतीहारी—यह आई।

राजा—सन्तान है या नहीं, इससे क्या ?

प्रजा का जो व्यक्ति जिस-जिस प्रियजन से वियुक्त होता है, पाप को छोड़कर, दुष्यन्त उनके लिए उनका वह बहुत सम्बन्धी है, ऐसा घोषित करदो ॥२३॥

प्रतीहारी—ऐसी ही घोषणा करनी चाहिये।

(निकलकर और प्रवेश करके)

समय पर हुई वर्षा के समान महाराज की घोषणा का अभिनन्दन किया गया है।

टिप्पणी—२३वें श्लोक में साहाय्य नामक नाट्यालङ्कार है और अनुष्टुप छन्द है।

राजा— (दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) एवं भोः, संततिच्छेद-निरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रीरकाल इवोप्तबीजा भूरेवंवृत्ता।

प्रतीहारी—पडिहदं अमंगलं। [प्रतिहतममङ्गलम्।]

राजा—धिङ्मामुपस्थितश्रेयोवमानिनम्।

सानुमती—असंसअं सहिं एव्व हिअए करिअ णिंदिदो णेण अप्पा। [असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।]

राजा—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी
त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय
वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा ॥२४॥

अन्वयः—काले उप्तबीजा महतेफलाय कल्पिष्यमाणा वसुन्धरा इव कुलप्रतिष्ठा धर्मपत्नी आत्मनि संरोपिते अपि मया त्यक्ता नाम।

सानुमती— अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददी भविस्सदि। [अपरिच्छिन्नेदानीं ते सततिभविष्यति]

चतुरिका— (जनान्तिकम्) अए, इमिणा सत्थवाहवुत्तंतेण द्विउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदुं मेहप्पडिच्छंदादो अज्जं माढव्वं गेण्हिअ आअच्छामि। [अयि! अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगो भर्ता। एनमाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्यं माढव्यं गृहीत्वागच्छामि।]

प्रतीहारी—सुट्ठु भणासि। [सुष्ठु भणसि] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः

राजा—(गहरी और गर्म सांस लेकर) ओह ! इस प्रकार सन्तति के अभाव के कारण निरालम्ब कुलों की सम्पत्ति, मूल पुरुष (वंश के अन्तिम व्यक्ति के मरने पर दूसरे के पास चली जाती है। मेरा भी अन्त होने पर पुरु वंश की लक्ष्मी का यही हाल होगा।

प्रतीहारी—यह अमङ्गल दूर हो।

राजा—उपस्थित श्रेय का अपमान करने वाले मुझे धिक्कार है।

सानुमती—निश्चय ही सखि को ही हृदय में रखकर इसने अपने आपको धिक्कारा है।

राजा—जिसमें समय पर बीज बो दिया गया है और जो महान् फल की दात्री है. ऐसी पृथ्वी के समान प्रतिष्ठा स्वरूपिणी धर्म-पत्नी का, उसमें (पत्नी) पुत्राधान करने पर भी त्याग कर दिया है ॥२४॥

सानुमती—अब तुम्हारी सन्तान अपरिच्छिन्न रहेगी (अर्थात् वंश परम्परा लगातार चलती रहेगी)।

चतुरिका—(अलग से) अरे, इस वणिक के दुःख से स्वामी का दुःख दुगुना हो गया है। इन्हें धैर्य बधाने के लिये मेघप्रतिच्छन्द (महल का नाम) से आर्य माढव्य को लेकर आती हूँ।

प्रतीहारी—ठीक कहती है। (निकल जाती है)

राजा—अरे, दुष्यन्त के पिण्डभागी (पितृगण) संशयारूढ़ हैं। क्योंकि—

टिप्पणी—२४ वें श्लोक में उपमा और काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा उपजाति छन्द हैं।

संरोपित (सम + रूह + णिच् + क्त कर्मणि)

कल्पिष्यमाणा (कृप् - लृट् + शानच्)

निवपनानि (प्र + वप + ल्युट्)

प्रसूति (प्र + सू + क्तिन्)

धौताश्रुशेषम् (धौतानि क्षालितानि अश्रूणि वाष्पजलानि येन तस्मात् शेषम्, तत्पुरुष समासः, धाव + क्त, धौतम्)

अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥२५॥

अन्वयः—बत अस्मात् परं कुले यथाश्रुति संभृतानि निवपनानि कः नियच्छति इति नूनम् पितरः प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तम् उदकम् धौताश्रुशेषम् पिबन्ति ।

(इति मोहमुपगतः)

चतुरिका— (ससंभ्रममवलोक्य) समस्ससदु भट्टा । [समाश्वसितु भर्ता ।]

सानुमती—हद्धी हद्धी । सदि क्खु दीवे ववधाणदोसेण एसो अंधआरदोसं अणुहादि । अहं दाणिं एव्व णिव्वुदं करेमि । अहवा सुदं मए सउंदलं समस्ससअंतीए महेंदजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्संति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अहिणंदिस्सदि त्ति । ता ण जुत्तं कालं पडिपालिदुं । जाव इमिणा वुतंतेण पिअसहिं समस्सासेमि । [हा धिक् हा धिक् । सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोषमनुभवति । अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि । अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद्यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति । तन्न युक्तं कालं प्रतिपालयितुम् । यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि ।] (इत्युद्भ्रान्तेकेन निष्कान्ता ।)

(नेपथ्ये)

अव्बम्हण्णं । [अब्रह्मण्यम् ।]

"दुःख है कि इसके (राजा के) बाद हमारे कुल में श्रुति के अनुसार सम्पादित श्राद्ध-तर्पणादि को कौन करेगा ?" यह (सोचकर) निश्चय ही पितृ-गण सन्तान रहित मेरे द्वारा दिये गये एवं अश्रुओं के धोने से शेष तर्पण के जल का पान करेंगे ॥२५॥

(इस प्रकार मूर्छित हो जाता है)

चतुरिका - (घबराहट के साथ देखकर) स्वामी धैर्य धारण करें।

सानुमती—हाय, हाय ! दीपक के रहने पर भी व्यवधान दोष से ही यह राजर्षि अन्धकार की बुराई का अनुभव कर रहा है। मैं इसे अभी प्रसन्न करती हूँ। अथवा शकुन्तला को ढाढस बंधाती हुई इन्द्र की माता (अदिति) के मुख से मैंने यह सुना था कि यज्ञ भाग के लिये उत्सुक देवता ही वैसा ढंग करेंगे जिससे शीघ्र ही पति अपनी धर्मपत्नी का अभिनन्दन करेगा। इसलिये समय की प्रतीक्षा करना उचित है। तब तक मैं इस समाचार से प्रिय सखि को ढाढस बंधाती हूँ। (उद्भ्रान्तक (नृत्य) के साथ प्रस्थान करती है)।

(नेपथ्य में)

बचाइए, बचाइए।

टिप्पणी—२५वें श्लोक में उत्प्रेक्षा एवं काव्यलिङ्ग अलंकार हैं तथा छलन नामक विमर्श सन्धि का अंग है। इसका लक्षण है—

"आत्मावसादनं यत्तु छलनं तदुदाहृतम्।" इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

उद्भ्रान्तक नृत्य का लक्षण—

पूर्वदक्षिणमङ्घ्रिमुत्थापयित्वात्र कुञ्चयेत्।
वामं शीघ्रं भ्रमेद्वामावर्तमुद्भ्रान्तकं विदुः॥
देशीविदां तु केषांचिद्बाह्यभ्रमरिका मता॥

(संगीत सुधानिधि)

राजा— (प्रत्यागतचेतनः कर्णं दत्त्वा) अये, माढव्यस्येवार्तस्वरः । कः कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—(ससंभ्रमम्) परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सं । [परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम् ।]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ?

प्रतीहारी—अदिट्ठरूवेण केण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छंदस्स प्पासादस्स अग्गभूमिं आरोविदो [अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः ।]

राजा—(उत्थाय) मा तावत् । ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः । अथवा,—

अहन्यहन्यात्मन एवताव-
ज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयाती-
त्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥२६॥

अन्वयः—अहनि अहनि आत्मनः एव प्रमादस्खलितम् तावत् ज्ञातुम् न शक्यम् । प्रजासु कः केन पथा प्रयाति इति अशेषतः वेदितुम् शक्तिः अस्ति ।

(नेपथ्ये)

भो वअस्स, अविहा अविहा । [भो वयस्य ! अविहा अविहा ।]

राजा— (गतिभेदेन परिक्रामन्) सखे, न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

(नेपथ्ये)

राजा—(होश में आकर, कान लगाकर) अरे, माढव्य के समान करुण स्वर वाला यह कौन है ? (प्रवेश करके)

प्रतीहारी—(घबराकर) संशयारूढ़ मित्र को महाराज ! बचाइए।

राजा— उस बेचारे का किसने अपमान किया है ?

प्रतीहारी—अदृष्टरूप कोई सत्व जीव उसे पकड़कर मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद की ऊपर की मञ्जिल पर ले गया है।

राजा—(उठकर) ऐसा नहीं। मेरे घर भी भूतादि के द्वारा तिरस्कृत होते हैं। अथवा—

प्रतिदिन अपनी ही प्रमादस्वरूप हुई त्रुटि को जाना नहीं जा सकता। प्रजा में कौन किस पथ पर चल रहा है, यह पूर्णतया कैसे जाना जा सकता है ? ॥२६॥

(नेपथ्य में)

हे मित्र ! बचाइए, बचाइए।

राजा—(गति बदलकर घूमते हुए) मित्र ! मत डरो, मत डरो।

(नेपथ्य में)

टिप्पणी—२६वें श्लोक में अर्थापत्ति और अप्रस्तुत अलङ्कार हैं। उपजाति छन्द है। 'अविहर' खेदसूचक अव्यय है।

(पुनस्तदेव पठित्वा) कहं ण भाइस्सं ? एस मं को वि पच्चवणदसिरोहरं मिच्छुं विअ तिण्णभंगं करेदि। [कथं न भेष्यामि ? एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति।]

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) धनुस्तावत्।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

यवनी—भट्टा ! एदं हत्थावावसहिदं सरासणं। [भर्तः ! एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्]

(राजा सशरं धनुरादत्ते)

(नेपथ्ये)

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी
शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा
दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥२७॥

अन्वयः—अभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुम् इव चेष्टमानम् त्वाम् एष हन्मि आर्त्तानाम भयम अपनेतुम आत्तधन्वा दुष्यन्तः इदानीम् तव शरणम् भवतु।

राजा—(सरोषम्) कथं मामेवोद्दिशति ? तिष्ठ कुणपाशन, त्वमिदानीं न भविष्यसि। (शार्ङ्गमारोप्य) वेत्रवति। सोपानमार्गमादेशय।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः।]

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

राजा—(समन्ताद्विलोक्य) शून्यं खल्विदम्।

(नेपथ्ये)

(फिर उसी की आवृत्ति करके) क्यों नहीं डरू ? यह कोई मेरी गर्दन को पीछे झुकाकर ईख के गन्ने की तरह तीन खण्ड कर रहा है ।

राजा—(चारों ओर नजर फेंककर) धनुष तो लाओ ।

(नेपथ्य में)

यह (तुम्हारे) अभिनव कण्ठ के रक्त का अभिलाषी (मैं) जिस प्रकार सिंह छटपटाते हुये पशु को मारता है उसी प्रकार तुझे अभी मारता हूँ । दुःखियों का डर दूर करने के लिये धनुर्धारी दुष्यन्त अब तुझे बचाये ॥२७॥

राजा—(क्रोध सहित) क्या मुझे ही उद्देश्य करके कह रहा है ? हे राक्षस ! ठहर, तू अब नहीं रहेगा । (धनुष चढ़ाकर) वेत्रवति ! सीढ़ी का रास्ता दिखलाओ ।

प्रतीहारी—इधर, इधर महाराज ।

राजा—(चारों ओर देखकर) यह तो निश्चय ही खाली है ।

(नेपथ्य में)

---

२७ वें श्लोक में उपमा और अनुप्रास अलङ्कार है । प्रहर्षिणी छन्द है । प्रहर्षिणी का लक्षण है—

आशभिर्मनऊरगाः प्रहर्षिणीयम् ॥

अविहा अविहा । अहं अत्तभवंतं पेक्खामि । तुमं मं ण पेक्खसि ? बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो । [अविहा अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि ? बिडालगृहीतो मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।]

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित ! मदीयं शस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं संदधे,—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥२८॥

अन्वयः—यः वध्यं त्वां हनिष्यति रक्ष्यं द्विजं रक्षति । हि हंसः क्षीरं आदत्ते तन्मिश्रा अपः वर्जयति ।

(इत्यस्त्रं संधत्ते)

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः)

मातलिः—राजन् !

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः ॥२९॥

अन्वयः—हरिणा असुराः तव शरव्यं कृताः, तेषु इदं शरासनं विकृष्यताम् सताम् सुहृज्जने प्रसादसौम्यानि चक्षूंषि पतन्ति, दारुणाः शराः न ।

राजा—(ससंभ्रममस्त्रमुपसंहरन्) अये, मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे !

(प्रविश्य)

बचाओ, बचाओ। मैं आपको देख रहा हूँ। आप मुझे नहीं देख रहे हो। विडाल (बिल्ली) के द्वारा पकड़े गये चूहे के समान मैं अपने प्राणों के विषय में निराश हो गया हूँ।

राजा—अरे तिरस्कारिणी विद्या-गर्वित मेरा शस्त्र तुझे देख लेगा यह (मैं) उसी बाण को चढ़ाता हूँ :—

जो तुझ बध्य (मारने योग्य) को मारेगा और रक्ष्य (रक्षा के योग्य) ब्राह्मण की रक्षा करेगा। क्योंकि हंस दूध को ग्रहण कर लेता है और उस दूध में मिश्रित जल को छोड़ देता है ॥२८॥

(इस प्रकार बाण चढ़ाता है)

(इसके पश्चात् विदूषक को छोड़कर मातलि का प्रवेश)

मातलि—राजन् !

इन्द्र ने असुरों को तुम्हारे बाणों का लक्ष्य बनाया है। उन पर इस धनुष को चढ़ाइये। सज्जनों की प्रेम से सौम्य दृष्टि ही मित्रों पर पड़ती है, न कि उनके दारुण शर (बाण)। २९॥

(शीघ्रता के साथ बाण को रोकते हुए) ओह ! आप मातलि हैं। हे इन्द्र के सारथि ! आपका स्वागत है।

(प्रवेश करके)

टिप्पणी २८ वें श्लोक में दृष्टान्त अलङ्कार एवं अनुष्टुप् छन्द है।
वध्यम् (वधम् अर्हति इति वध्यः, हन्+यत्)
२९ वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा और काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। वंशस्थ छन्द है।

विदूषकः— अहं जेण इट्ठिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणंदीअदि। [अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते।]

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयतां यदस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिदुर्जयो नाम दानवगणः।

राजा—अस्ति। श्रुतपूर्वं मया नारदात्।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्ति
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥३०॥

अन्वय:—सः किल ते सख्युः शतक्रतोः अजय्यः, त्वं रणसिरसि तस्य निहन्ता स्मृतः। सप्तसप्तिः यत् नैशं तिमिरम् उच्छेत्तुं न प्रभवति तत् चन्द्रः अपाकरोति।

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः संभावनया। अथ माढव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्?

मातलिः—तदपि कथ्यते। किंचिन्निमित्तादपि मनःसंतापादायुष्मान्मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्तं तथा कृतवानस्मि। कुतः,—

विदूषक—मैं जिसके द्वारा यज्ञ के पशु की मार से मारा गया हूँ, वह इस स्वागत से अभिनन्दित किया जा रहा है।

मातलि—(मुस्कराते हुए) आयुष्मन् ! सुनिये, जिस कार्य के लिए इन्द्र ने मुझे आपके पास भेजा है।

राजा—सावधान हूं।

मातलि—कालनेमि के वंशज दुर्जय नामक राक्षसों का समूह है।

राजा—है। मैंने पहिले नारद से सुना है।

मातलि—वह (राक्षस समुदाय) तुम्हारे सखा इन्द्र द्वारा अजेय है। तुम्हीं रणभूमि में उसके घातक (मारने वाले) समझे गये हो। सूर्य रात्रि के जिस अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं है, उसे चन्द्रमा ही दूर करता है ॥३०॥

वह आप अस्त्र (हथियार) ग्रहण किये हुए ही अब इन्द्र के रथ पर आरूढ़ विजय के लिए प्रस्थान कीजिए।

राजा—इन्द्र के इस सम्मान से मैं अनुगृहीत हूं। किन्तु माढव्य के प्रति आपने ऐसा व्यवहार क्यों किया ?

मातलि—वह भी कहता हूं। किसी कारण मानसिक सन्ताप से आपको मैंने दुःखी देखा। इसके अनन्तर मैंने आपको क्रुद्ध करने के लिए वैसा किया था। क्योंकि --

---

टिप्पणी—३०वें श्लोक में दृष्टांत अलङ्कार और प्रहर्षिणी छन्द है।

अजय्यः (जि + यत्, जेतुम् शक्यः, जय्यः, न जय्यः अजय्यः।)

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृत: पन्नग: फणां कुरुते ।
प्राय: स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जन: ॥३१॥

अन्वय:—अग्नि: चलितेन्धन: ज्वलति, पन्नग: विप्रकृत: फणां कुरुते। हि जन: प्राय: क्षोभात् स्वं महिमानं प्रतिपद्यते ।

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पते-राज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि,—

त्वन्मति: केवला तावत्परिपालयतु प्रजा: ।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनु: ॥३२॥

अन्वय:—केवला त्वन्मति: तावत् प्रजा: पालयतु। इदं अधिज्यं धनु: अन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतम् ।

इति ।

विदूषक:—जं भवं आणवेदि । (यद्भवानाज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्त:)

मातलि:—आयुष्मान् रथमारोहतु ।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति ।)

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे)

इति षष्ठोऽङ्क: ।

अग्नि ईंधन को हिला देने पर प्रज्ज्वलित हो जाती है। सर्प छेड़े जाने पर उद्वेजित होकर फन फैला देता है। इसी प्रकार मनुष्य प्रायः क्षोभ से अपने पराक्रम को प्राप्त होता है ॥३१॥

राजा (एकान्त में) मित्र ! देवराज की आज्ञा अनुल्लंघनीय है। इसलिए इस समाचार से अवगत कराकर मेरी तरफ से अमात्य पिशुन से कहो—

केवल तुम्हारी बुद्धि ही प्रजा की रक्षा करे। प्रत्यञ्चा पर चढ़ा हुआ यह धनुष दूसरे कार्य (राक्षस-वध-कार्य) में लग गया है ॥३२॥

विदूषक—(जैसी महाराज की आज्ञा)

(इस प्रकार निकल जाता है)

मालति—आप रथ पर चढ़ें।

(राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करता है)

(सब प्रस्थान करते हैं)

छठा अंक समाप्त

टिप्पणी—३१वें श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास और दृष्टांत अलंकार हैं, आर्या छन्द है।

३२वें श्लोक में अनुष्टुप छन्द है।

दिवस्पते (दिवः पतिः, षष्ठी)

महिमानम् (महत् + इमनिच्, महिमन्)

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरूढो राजा मातलिश्च)

राजा—मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन्, उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥१॥

अन्वयः—भवान् मरुत्वतः, प्रतिपत्त्या प्रथमोपकृतम् लघु मन्यते । सः अपि भवतः अवदानविस्मितः सत्क्रियागुणान् न गणयति ।

राजा—मातले, मा मैवम् ; स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य ।

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥२॥

अन्वयः--अन्तिकस्थं अन्तर्गतप्रार्थनम् जयन्तम् उद्वीक्ष्य कृतस्मितेन हरिणा आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला पिनद्धा ।

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति ? पश्य—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम् ।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥३॥

अन्वयः—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः, पुरा च (नतपर्वभिः) पुरुषकेसरिणः नखैः उभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिदिवम् उद्धृतदानवकण्टकं कृतम् ।

राजा--अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सप्तम अंक

(इसके पश्चात् आकाश मार्ग से रथ पर बैठे हुए राजा और मातलि का प्रवेश)

राजा – हे मातलि ! इन्द्र की आज्ञा का पालन कर लेने पर भी विशेष सत्कार के कारण मैं अपने आपको अनुपयुक्त (अयोग्य) सा मानता हूं ।

मातलि – (मुस्कराहट के साथ) आयुष्मन् ! मैं समझता हूं कि आप दोनों ही अपरितुष्ट हैं ।

आप इन्द्र के गौरव के कारण (अपने) पूर्वकृत उपकार को तुच्छ मानते हैं। वह (इन्द्र) भी आपके पराक्रम से विस्मित हुआ सत्कार के गुणों को कुछ नहीं समझता ।।१।।

राजा – हे मातलि ! नहीं, ऐसा नहीं । विसर्जन (विदाई) के अवसर पर किया गया (मेरा) सत्कार कल्पना का विषय नहीं है । देवताओं के सामने अर्धासन पर बैठाये हुए मुझे—

समीप में खड़े, मन में (माला के) अभिलाषी, जयन्त को देखकर मुस्कराते हुए इन्द्र ने वक्षस्थल पर लगे हुए हरिचन्दन से चिन्हित मन्दार के पुष्पों की माला (मुझे) पहना दी ।।२।।

मातलि—ऐसी कौन वस्तु है जो देवराज इन्द्र से नहीं पाई जा सकती । देखो—

इस समय ग्रन्थियों पर झुके हुए तुम्हारे बाणों ने और पूर्वकाल में गांठ पर से मुड़े हुए नृसिंहावतार के नखों ने, इन दोनों ने सुखलिप्त इन्द्र के स्वर्ग को दानव-रूपी काँटों से रहित कर दिया है ।।३।।

राजा—इस विषय में शतक्रतु (इन्द्र) की ही महिमा स्तुत्य है । महान्

टिप्पणी – अनुपयुक्तम् (उप + युज + क्त = उपयुक्तम, न उपयुक्तम्)

मरुत्वतः (मरुतः सन्ति अस्य इति मरुत्वान्, तस्य, मरुत् + मतुप्)

अवदानस्मितः (अवदानेन + स्मितः, अवदानविस्मतः तत्पुरुष समासः अव + देय [शोधने] + ल्युट् अवदानम्) पराक्रम से आश्चर्ययुक्त ।

सत्क्रियागुणान् (सत्क्रिया सत्कारः तस्य गुणान्, तत्पुरुष समासः) सत्कार के गुणों को या विशेष महत्व को ।

प्रथम श्लोक में विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कार हैं सुन्दरी छन्द है ।

दिवौकसाम् [दिवम् ओकः येषाम्, स्वर्ग है घर जिनका (देवों का)]

अन्तर्गतप्रार्थनम् (अन्तर्गता हृदगता प्रार्थना यस्य तम्, अर्थात् मन में है माला पहिनने की इच्छा जिसके ।

आकृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का (आकृष्टस्य वक्षो हरिचन्दनस्य अंकः यस्याः सा,

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥

अन्वयः—महत्सु अपि कर्मसु नियोज्याः सिध्यन्ति यत् तम् ईश्वराणां संभावनागुणम् अवेहि। किम् वा अरुणः तमसां विभेत्ता अभविष्यत् चेत् सहस्रकिरणः तं धुरि न अकरिष्यत्।

मातलिः—सदृशमेवैतत्। (स्तोकमन्तरमतीत्य) आयुष्मन्, इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥५॥

अन्वयः—अमी दिवौकसः गीतक्षमम् अर्थजातम् विचिन्त्य सुरसुन्दरीणां विच्छित्तिशेषैः वर्णैः कल्पलतांशुकेषु गीतक्षमम् त्वच्चरितम् लिखन्ति।

राजा—मातले! असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतरस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे?

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं
वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥६॥

अन्वयः—गगनप्रतिष्ठाम् त्रिस्रोतसम् वहति, प्रविभक्तरश्मिः ज्योतींषि वर्तयति च तस्य परिवहस्य वायोः द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् इमम् मार्गम् वदन्ति।

राजा—मातले! अतः खलु सबाह्यकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति (रथाङ्गमवलोक्य) मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।

कर्मों में भी सेवक लोग जो सफल होते हैं उसे स्वामियों को ही गौदरवदान का फल समझें। क्या अरुण (सूर्य का सारथि) अन्धकार का विनाशक हो सकता था, यदि सहस्त्ररश्मि (सूर्य) उसे अग्रभाग में नियुक्त न करता ॥४॥

ये देवता गेय भावावली की कल्पना करके देवङ्गनाओं के अङ्गराग से शेष वर्णों से कल्पलता के रेशमी वस्त्रों पर आपका चरित्र लिख रहे हैं ॥५॥

राजा—मातलि ! असुरों से युद्ध करने की उत्सुकता के कारण पहले दिन मैंने स्वर्ग के मार्ग को विशेष रूप से नहीं देखा। वायु के किस मार्ग में हम चल रहे हैं ?

मातलि—जो गमन में प्रतिष्ठित गङ्गा को धारण करता है, और जो (वायु-रूप) किरणों को फैलाकर नक्षत्रों को चलाता है, उस परिवह नाम के वायु का, वामनरूपधारी विष्णुभगवान् के द्वितीय पद-विन्यास से पवित्र, यह मार्ग कहा जाता है ॥६॥

राजा—हे मातलि, इसीलिये मेरी अन्तरात्मा वाह्य इन्द्रियों और अन्तः-करण के साथ प्रसन्न हो रही है। (पहिए की तरफ देखकर) हम दोनों बादलों के मार्ग पर उतर आये हैं।

टिप्पणी—बहुव्रीहि समासः, लगे हुए हरिचन्दन के चिन्ह से युक्त। द्वितीय श्लोक में प्रहस्त अलङ्कार है। उपजाति छन्द है।

त्रिदिवम् (त्रिविधम् दीव्यति इति, त्रि + दिव + क)

उद्धृतदानवकण्टकम् (उद्धृताः विनाशिताः दानवरूपाः कण्टकाः यस्मात् तत् अर्थात् नष्ट कर दिया है दानवरूपी कांटों को जहां से। तृतीय श्लोक में दीपक अलङ्कार तथा द्रुतविलम्बित छन्द है।

संभावनागुणम्— (सम् + भू + णिच् + युच् = संभावना तस्याः गुणम्, तत्पुरुष समासः) गौरव प्रदान का फल।

अरुणः—(अरुण सूर्य के सारथि का नाम है।)

सहस्त्रकिरणः— (सहस्र किरणों वाला अर्थात् सूर्य।)

चतुर्थ श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तिरन्यास अलङ्कार हैं। वसन्त-तिलका छन्द है।

विच्छत्तिशेषम् (विच्छित्याः अङ्गरागात् शेषैः, अङ्गराग से शेष (वि + छिद् + क्तिन्, शिष + घञ्-कर्मणि शेषः)

गीतक्षमम् (गीतम् क्षमते इति, गीत + क्षम + ण) गाने योग्य।

अर्थजातम् (अर्थस्य जातस्य इति, पदार्थसमूहम्) पदार्थ समूह या भावावली।

५वें श्लोक में परिणाम अलङ्कार है। उपजाति छन्द है।

मातलिः—कथमवगम्यते ?

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि-
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः ॥६॥

अन्वयः—शीकरक्लिन्ननेमिः अयम् ते रथः अरविवरेभ्यः निष्पतद्भिः चातकैः अचिरभासाम् तेजसा अनुलिप्तैः हरिभिः च वारिगर्भोदराणाम् घनानाम् उपरिगतम् पिशुनयति ।

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते ।

राजा—(अधोऽवलोक्य) वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः । तथा हि,—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णस्वान्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः ।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥८॥

अन्वयः—मेदिनी उन्मज्जाम् शैलानाम् शिखरात् अवरोहति इव । पादपाः स्कन्धोदयात् पूर्णाभ्यन्तरलीनताम् विजहति । तनुभावनष्टसलिलाः आपगाः सन्तानैः व्यक्तिम् भजन्ति । पश्य, उत्क्षिपता केनापि भुवनम् मत् पार्श्वम् आनीयते इव ।

मातलिः—साधु दृष्टम् । (सबहुमानमवलोक्य) अहो, उदाररमणीया पृथिवी ।

राजा—मातले ! कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरस-निस्यन्दः सांध्य इव मेघपरिघः सानुमानालोक्यते ?

मातलिः—आयुष्मन्, एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वत-स्तपः संसिद्धिक्षेत्रम् । पश्य,—

मातलि—कैसे जाना ?

राजा—सीकरों (जलकणों) से भीग गया है चक्र का प्रान्त भाग जिसका, ऐसा यह तुम्हारा रथ अरविवरों (पहिए के डंडों के मध्य) से निकलते हुये चातकों और बिजली के तेज से रंजित अश्वों के द्वारा जलपरिपूर्ण बादलों के ऊपर चलने को सूचित कर रहा है ॥७॥

मातलि—क्षण मात्र में आप अपने अधिकार की भूमि में पहुँच जायेंगे।

राजा—(नीचे की ओर देखकर) वेग से उतरने के कारण मनुष्यलोक अद्भुत दिखाई पड़ रहा है, क्योंकि—

पृथ्वी प्रकट होते हुए पहाड़ों की चोटी से जैसे नीचे उतर रही है। वृक्ष तनों के निकलने से पत्तों के अन्दर लीन होना छोड़ रहे हैं। सूक्ष्मता के कारण अलक्षित हो गया है जल जिनका, ऐसी नदियां विस्तार के कारण प्रकट हो रही हैं। देखो, ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी के द्वारा नीचे से ऊपर की ओर उछाला जाकर भूलोक मेरे पास चला आ रहा है ॥८॥

मातलि—ठीक देखा। (विशेष आदर सहित देखकर) अरे, यह पृथ्वी कैसी विशाल और रमणीय दीख रही है।

राजा—हे मातलि, पूर्व एवं पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ, कनक रस को बरसाने वाला, संध्याकाल की मेघों की अर्गला के समान यह कौनसा पहाड़ दीख रहा है ?

मातलि—आयुष्मन् ! यह हेमकूट नामक किन्नरों का पर्वत है जो तपस्या की सिद्धि का क्षेत्र है। देखिये—

टिप्पणी—**असुरसंप्राहरोत्सुकेन** (असुराणाम् दानवानाम् संप्रहारे, युद्धे उत्सुकेन) असुरों से युद्ध करने की उत्सुकता के कारण।

निर्णयसागर संस्करण में 'कतमस्मिन् के स्थान पर' कतरस्मिन् (कौनसे) पाठ हैं।

त्रिस्रोतसम् (त्रीणि स्रोतांसि यस्याः ताम् बहुव्रीहि समासः) गङ्गा की तीन धारायें हैं— एक आकाशस्थ गंगा अर्थात् आकाशगंगा और दूसरी पृथिवी पर स्थित गंगा अर्थात् भागीरथी और तीसरी पाताल गंगा अर्थात् भोगवती।

प्रविभक्तरश्मिः (प्रतिगताः विस्तृताः रश्मयः वायुरूपाः किरणाः यस्य सः, बहुव्रीहि समासः) फैला दी हैं वायुरूपी किरणें जिसने।

द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् (द्वितीयेन हरेः, विष्णोः विक्रमेण पादन्यासेन निस्तमस्कम् पवित्रम्, तत्पुरुष समासः) विष्णु के दूसरे चरण के रखने से पवित्र।

छठे श्लोक में उदात्त अलंकार और वसन्ततिलका छन्द हैं।

निर्णयसागर संस्करण में 'सावाह्यान्तः करणः' के स्थान पर 'सवाह्यान्त-करणः' (वाह्य इन्द्रियों के साथ) पाठ है।

स्वायंभुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥९॥

अन्वयः—स्वायम्भुवात् मरीचेः यः प्रजापतिः प्रबभूव । सुरासुरगुरुः सः सपत्नीकः अत्र तपस्यति ।

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।

मातलिः—प्रथमः कल्पः ।

(नाट्येनावतीर्णौ)

राजा—(सविस्मयम्)

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः
प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतः
तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

अन्वयः—अभूतलस्पर्शतया रथाङ्गनेमयः उपोढशब्दाः न । रजः च प्रवर्तमानम् न दृश्यते । अनिरुद्धतः तव रथः अवतीर्णः न लक्ष्यते ।

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।

राजा—मातले, कतमस्मिन्प्रदेशे मारीचाश्रमः ।

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कविम्वं स्थितः ॥११॥

अन्वयः—वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिः, सन्दष्टसर्पत्वचा उरसा जीर्णलताप्रतानवलयेन कण्ठे अत्यर्थं संपीडितः, अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितम् जटामण्डलम् विभ्रत् स्थाणुः इव अचलः असौ मुनिः, यत्र अर्कबिम्बम् अभिस्थितः ।

राजा—नमस्ये कष्टतपसे ।

स्वयंभू (ब्रह्मा) के पुत्र मरीचि से जो प्रजापति उत्पन्न हुए, सुर एवं असुरों के पिता वे सपत्नीक यहां तपस्या करते हैं ॥९॥

राजा—तो कल्याण की वस्तुयें छोड़कर जाना उचित नहीं है। भगवान् कश्यप की प्रदक्षिणा करके ही आगे जाना चाहता हूँ।

मातलि—उत्तम विचार है।

(अभिनय सहित उतरते हैं)

राजा—(आश्चर्य के साथ)।

भूतल का स्पर्श न होने से रथ के पहियों के अग्रभाग ने शब्द नहीं किया। और धूलि भी उड़ती हुई नहीं दीखती है। (लगाम) न रोकने के कारण तुम्हारा (मातलि का) रथ (भूमि पर) उतरा हुआ भी नहीं प्रतीत होता है ॥१०॥

मातलि—इतना ही इन्द्र के और आपके रथ में अन्तर है।

राजा—हे मातलि, मारीच का आश्रम किस प्रदेश में है ?

मातलि—(हाथ से दिखाते हुये) बामी के अग्र भाग में जिनका शरीर दब गया है, जिनका वक्षस्थल सर्प की केंचुली से लिपटा हुआ है, जिनका कण्ठ पुराने लता-तन्तुओं के समूह से अत्यन्त पीड़ित है, पक्षियों के घोंसलों से व्याप्त एवं कन्धों पर पड़े हुए जटा-मण्डल को धारण किए हुये स्थूण (सूखा वृक्ष) की तरह निश्चल वे मुनि जहां सूर्य की ओर मुंह करके खड़े हैं, (वही मारीच का आश्रम है) ॥११॥

राजा—कठिन तप करने वाले मुनि के लिए नमस्कार है।

टिप्पणी—सीकरक्लिन्ननेमिः (शीकरैः जलबिन्दुभिः क्लिन्नाः आर्द्रा नेमयः चक्रान्तभागाः यस्य सः) जलकणों से आर्द्र हो गया है, चक्र का भाग जिसका, (ऐसा रथ)।

अचिरभासाम् (न चिरा भाः यासाम् तासाम् बहुव्रीहि समासः) क्षणमात्र स्थायी है तेज जिसका (बिजली के)।

वारिगर्भोदराणाम् (वारिगर्भाणि जलपरिपूर्णानि उदराणि येषाम्, तेषाम्) जल से परिपूर्ण है मध्य भाग जिनका।

पिशुनयति (पिशुन+णिच्) सूचित करता है।

पर्णाभ्यन्तरलीनताम् (पर्णानाम, पत्राणाम् अभ्यन्तरे मध्ये लीनताम्, तत्पुरुष समासः पत्तों के अन्दर छिपना)।

तनुभावनष्टसलिलाः (तनुभावेन क्षीणतया नष्टानि अलक्षितानि सलिलानि जलानि यासाम् ताः) पतली दिखाई पड़ने से अलक्षित है जल जिनका।

उत्क्षिपता (ऊर्ध्वं प्रक्षिपता) ऊपर की ओर उछालते हुए।

८वें श्लोक में उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति और काव्यलिङ्ग अलंकार हैं। शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है।

मातलिः— (संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) महाराज, एतावदिति-परिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

राजा— स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

मातलिः— (रथं स्थापयित्वा) अवतरत्वायुष्मान्।

राजा— (अवतीर्य) मातले, भवान्कथमिदानीम्?

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः। वयमप्यवतरामः। (तथा कृत्वा) इत आयुष्मन्। (परिक्रम्य) दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।

राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥१२॥

अन्वयः—सत्कल्पवृक्षे वने अनिलेन प्राणानाम् वृत्तिः उचिता। काञ्चन-पद्मरेणुकपिशे तोये धर्माभिषेकक्रियाः रत्नशिलातलेषु ध्यानम्। विबुधस्त्री-संनिधौ संयमः। अन्य मुनयः तपोभिः यत् कांक्षन्ति तस्मिन् अमी तपस्यन्ति।

मातलिः— उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। [परिक्रम्य आकाशे] अये वृद्धशाकल्य! किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः? किं ब्रवीषि? दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षि-पत्नीसहितायै कथयतीति।

मातलि – (रथ के घोड़ों की लगाम खींचकर)

महाराज ! अदिति ने मन्दार वृक्ष को जहां परिवर्द्धित किया है, ऐसे प्रजापति के आश्रम में हम दोनों प्रवेश कर गये हैं।

राजा (यह) स्वर्ग से भी अधिक सुख का स्थान है।

मातलि – (रथ को रोककर) आप उतरें।

राजा – (उतरकर) मातलि ! अब आप क्या करेंगे ?

मातलि—मेरे द्वारा रथ अच्छी तरह रोक लिया गया है। हम भी उतरते हैं। वैसा करके) आप इधर से ······ (घूमकर) यहां आप माननीय ऋषियों की तपोवन भूमि का दर्शन करें।

राजा—निश्चय ही मैं आश्चर्य के साथ देख रहा हूँ।

जिसमें कल्पवृक्ष विद्यमान हैं, ऐसे वन में ये ऋषिजन वायुमात्र से प्राणों की वृत्ति चलाते हैं। स्वर्ण कमलों के पराग से पीले जल में धर्माचरण के लिये स्नान क्रिया करते हैं। रत्नशिलातलों पर ध्यान लगाते हैं। देवाङ्गनाओं के समीप रहने पर भी संयम करते हैं। दूसरे मुनिजन तप के द्वारा जो चाहते हैं उसके बीच में रहकर ये तप करते हैं ॥१२॥

मातलि— महात्माओं की इच्छा सदा ऊपर बढ़ने वाली ही होती है। (टहलकर आकाश में) हे वृद्ध शाकल्य ! भगवान् मारीच क्या कर रहे हैं ?

क्या कहते हो ? दाक्षायणी के द्वारा पतिव्रता स्त्री के धर्म के सम्बन्ध में पूछे जाने पर वे महर्षियों की पत्नियों के साथ बैठी हुई उनके लिए, (अदिति के लिये) उपदेश दे रहे हैं।

टिप्पणी--स्वायम्भुवात् स्वयम् आत्मना भवति इति स्वयम्+भू+क्विप्, स्वयम्भूः, स्वयम्भुवः, अपत्यम्, स्वयम्भू+अण्=स्वायम्भुवः, तस्मात् स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र (ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि) से।

सुरासुरगुरुः (सुराश्च असुराश्च, सुरासुराः तेषाम् गुरुः पिता) देवताओं और दैत्यों के पिता।

उपोढशब्दाः (उपोढाः शब्दाः यैः ते, बहुव्रीहि समासः) शब्द करने वाले। उप+वह+क्त, उपोढा।

अनिरुद्धतः अनिरोधात्, न रोकने के कारण।

अवतीर्णः (पृथ्वीतलमागतः) उतरा हुआ।

टिप्पणी—१० वें श्लोक में विशेषोक्ति एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। वंशस्थ छन्द है।

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्त्तिः (वल्मीकस्य अग्रे निमग्ना निविष्टा मूर्त्तिः शरीरम् यस्य सः। बामी के अग्र भाग में दबा हुआ है शरीर जिसका)

राजा— (कर्णं दत्त्वा) अये ! प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलिः— (राजानमवलोक्य) अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् , यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा— यथाभवान्मन्यते । (इति स्थितः)

मातलिः—आयुष्मन् , साधयाम्यहम् । (इति निष्क्रान्तः)

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो ! स्पन्दसे वृथा ? ।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥१३॥

अन्वय :—बाहो ! मनोरथाय न आशंसे, वृथा किं स्पन्दसे ? हि पूर्वावधीरितं श्रेयः दुःखं परिवर्तते ।

(नेपथ्ये)

मा खु चावलं करेहि । कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं ? [मा खलु चापलं कुरु । कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ।]

राजा—(कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियमविनयस्य ! को नु खल्वेष निषिध्यते । [शब्दानुसारेणावलोक्य, सविस्मयम्] अये, को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ?

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ॥१४॥

अन्वय :—मातुः अर्धपीतस्तनं आमर्दक्लिष्टकेसरम् सिंहशिशुम् प्रक्रीडितुम् बलात्कारेण कर्षति ।

राजा—(सुनकर) अरे ! यह प्रस्ताव ऐसा है कि अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी।

मातलि—(राजा को देखकर) आप तब तक अशोकवृक्ष के मूल में बैठें, जब तक मैं इन्द्र के पिता मारीच को आपके आगमन की सूचना देने के लिये उचित अवसर खोजूं।

राजा—जैसा आप ठीक समझें। (इस प्रकार बैठ जाता है)

मातलि—आयुष्मान् ! मैं जाता हूं। (इस प्रकार निकल जाता है)

राजा—(शुभ शकुन का अभिनय करके)

मनोरथ (के पूर्ण होने) की आशा नहीं करता हू। हे बाहु, तू व्यर्थ ही क्यों फड़क रही है ? श्रेयस्कर वस्तु का तिरस्कार कर दिया जाता है तो वह दुःखरूप में प्राप्त होती है ॥१३॥

(नेपथ्य में)

चपलता मत करो। किस लिये, यह तो अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया है।

राजा—(सुनकर) यह अविनय (धृष्टता) के योग्य स्थान नहीं है। यह किसके लिए मना किया जा रहा है ?

(शब्द के अनुसार देखकर, विस्मय के साथ) अरे, दो तपस्विनियों से अनुगत असाधारण शक्ति वाला यह कौन बालक है ? माता के आधे स्तनों को पिया है जिसने और रगड़ने से बिगड़ गए हैं बाल जिसके, ऐसे सिंह के शिशु को (जो) खेलने के लिए जबरदस्ती खींच रहा है।

सन्दष्टसर्पत्वचा (सन्दष्टा सर्पत्वक् यत्र तेन बहु०) जिसके गले में सर्प की केंचुली लगी हुई है।

शकुन्तनीडनिचितम् (शकुन्तानाम् पक्षिणाम् नीडैः कुलायैः निचितम् व्याप्तम् पक्षियों के घोंसले से व्याप्त।)

अर्कबिम्बम् (अर्कस्य विम्बम्, तत्पुरुष समासः, सूर्यमण्डलम्)

११वें श्लोक में परिकर, श्लेष और उपमा अलङ्कार हैं। (शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है। 'वल्मीकाग्र' के स्थान पर 'वल्मीकार्ध' पाठ भी मिलता है।

काञ्चनपद्मरेणुकपिशे काञ्चनपद्मानाम् स्वर्णकमलानाम् रेणुभिः परागैः कपिशे पिङ्गलवर्णे जले) स्वर्ण कमलों के पराग से पीले जल में।

धर्माभिषेकक्रिया (धर्मार्थम् अभिषेकक्रिया स्नानक्रिया) धार्मिक कार्यों के लिए स्नान।

रत्नशिलातलेषु (रत्नानाम् शिलातलेषु, तत्पुरुषः) रत्नों के शिलातलों पर।

विबुधस्त्रीसंनिधौ (विबुधस्त्रीणाम् देवाङ्गनानाम् संनिधौ समीपे) देवाङ्गनाओं के समीप में।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः)

बालः—जिंभ सिंघ, दंताइं दे गणइस्सं। [जृम्भस्व सिंह ! दान्तांस्ते गणयिष्ये ।]

प्रथमा—अविणीद, किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि ? हंत, वड्ढइ दे संरंभो। ठाणे खु इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहेओ सि। [अविनीत ! किं नोऽपत्य-निर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ? हन्त, वर्धते तव संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।]

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ? नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया—एसा खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तअं ण मुंचेसि। [एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि ।]

बालः—(सस्मितम्) अम्हहे, बलिअं खु भीदो म्हि। [अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि ।] (इत्यधरं दर्शयति)

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ॥१५॥

अन्वयः—महतः तेजसः बीजम् अयम् बालः स्फुलिङ्गावस्थया एधापेक्षः स्थितः वह्निः इव मे प्रतिभाति ।

(इसके पश्चात् पूर्वोक्त कार्य करते हुये दो तपस्विनियों के साथ बालक का प्रवेश)

बालक—हे सिंह जम्भाई ले। तेरे दांतों को गिनूंगा।

पहली—(तपस्विनी) दुष्ट! हमारे पुत्र के समान इन जीवों को तू क्यों कष्ट दे रहा है? हाय दुःख है तेरा रोष बढ़ता ही जाता है। ऋषियों ने तुम्हारा सर्वदमन यह नाम उचित ही रखा है।

राजा—मेरा मन इस बालक पर निजी पुत्र के समान क्यों स्नेह कर रहा है? निश्चय ही अनपत्यता (सन्तानराहित्य) मुझसे यह स्नेह करा रही है।

दूसरी—(तपस्विनी) यह शेरनी निश्चय ही तुम पर आक्रमण करेगी यदि तुम उसके शिशु को नहीं छोड़ोगे।

बालक—(मुस्कराकर) अरे, मैं अधिक डर गया हूँ। (इस प्रकार निचले होंठ को दिखाता है)

राजा—महान् तेज का बीज रूप यह बालक, स्फुलिङ्ग (चिनगारी) की दशा में काष्ठ की अपेक्षा करते हुये अग्नि के समान स्थित प्रतीत होता है ॥१५॥

टिप्पणी-१२ वें श्लोक में विशेषोक्ति और काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

पूर्वावधीरितम् (अवधीर+क्त=अवधीरितम्, पूर्वम् अवधीरितम्। पहले तिरस्कृत।)

१३ वें श्लोक में अर्थान्तरन्यास और अतिशयोक्ति अलङ्कार हैं।

अर्धपीतस्तनम्—अर्धं पीतः स्तनः येन तम्, बहुब्रीहि समासः, जिसने माता के स्तनों का आधा दूध पिया है।

आमर्दक्लिष्टकेसरम्—आमर्देन आकर्षणेन क्लिष्टाः विक्षिप्ताः केसराः यस्य तम्, बहु० जिसके (अयाल) रगड़ से बिगड़ गए हैं)

बलात्कारेण (बलात् (अव्यय) कृ+घञ=कारः, तेन बलपूर्वक)

स्वभावोक्ति और उदात्त अलङ्कार हैं। अनुष्टुप् छन्द है।

अपत्यनिर्विशेषाणि—(वि+शिष+घञ्, विशेषः, निर्गतः विशेषः एभ्यः निर्विशेषाणि, अपत्येभ्यो निर्विशेषाणि, अपत्यनिर्विशेषाणि) पुत्रों के समान पालित।

चक्रवर्ती का लक्षण—

अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः।
चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद्ध्रुवम् ॥

(सामुद्रिके शास्त्रे)

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः (प्रलोभ्ये वस्तुनि क्रीडनकरूपे यः प्रणयः प्रेम तेन प्रसारितः) प्रलोभनीय वस्तु के लिये प्रेम से फैलाया गया।

जालग्रथिताङ्गुलि—(जालवत् ग्रथिताः अङ्गुलयः यस्मिन् तत्, बहुब्रीहि समासः) जाल के समान मिली हुई हैं अंगुलियां जिसमें)।

प्रथमा—वच्छ, एदं बालमिइंदअं मुञ्च । अवरं दे कील-णअं दाइस्सं। [वत्स एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च । अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि ।]

बालः—कहिं ? देहि णं। [कुत्र ? देहि तत् ।] (इति हस्तं प्रसारयति)

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते ? तथा ह्यस्य,—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥१६॥

अन्वयः—प्रलोभ्यवस्तुप्रसारितः जालग्रथिताङ्गुलिः अस्य करः इद्धरागया नवोषसा भिन्नम् अलक्ष्यपत्रान्तरम् एकपङ्कजम् इव विभाति ।

द्वितीया—सुव्वदे ! ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमयिदुं । गच्छ तुमं । ममकेरए उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमारअस्स वण्ण-चित्तिदो मित्तिआमोरओ चिट्ठदि । तं से उवहर । [सुव्रते ! न शक्य एषो वाचामात्रेण विरमयितुम । गच्छ त्वम् । मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति । तमस्योपहर ।]

प्रथमा—तह [तथा ।] (इति निष्क्रान्ता)

बालः—इमिणा एव्व दाव कीलिस्सं [अनेनैव तावत्क्री-डिष्यामि ।] (इति तापसीं विलोक्य हसति)

पहली— वत्स ! इस बाल-सिंह को छोड़ दे । मैं तुझे दूसरा खिलौना दूंगी।

बालक— कहाँ है ? वह मुझे दो। (इस प्रकार हाथ फैलाता है)।

राजा—(बालक के हाथ को देखकर) अरे, यह तो चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त है। क्योंकि—

प्रलोभनीय वस्तु के लिये प्रेम से फैलाया गया, जाल के समान ग्रथित अंगुलियों से युक्त इसका हाथ उसी प्रकार सुशोभित हो रहा है जिस प्रकार कि विशेष लौहित्य से युक्त नवीन उषाकाल के द्वारा विकसित और जिसके पत्तों का मध्य-भाग अलक्षित है, ऐसा अद्वितीय कमल सुशोभित होता है ॥१६॥

दूसरी—सुव्रते ! वाणीमात्र से यह नहीं मान सकता। तुम जाओ। मेरी कुटी में मार्कण्डेय ऋषिकुमार का वर्णों (रंगों) से चित्रित मिट्टी का मोर रखा है। वह इसे लादे।

पहली—ठीक है। (इस प्रकार निकल जाती है)।

बालक—तब तक इसी से खेलूंगा। (इस प्रकार तपस्विनी को देखकर हँसता है।)

टिप्पणी—अलक्ष्यपत्रान्तरम् (अलक्ष्याणि पत्राणाम् अन्तराणि यस्मिन् तत्, बहुव्रीहि समासः) अलक्ष्य है पत्तों के अन्दर का भाग जिसमें।

एकपङ्कजम्—(अद्वितीयपंकजम्) अद्वितीय कमल।

१६वें श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं उपमा अलंकार हैं। वंशस्थ छन्द है।

अनिमित्तहासैः (अनिमित्ताः कारणरहिताः ये हासाः तैः) अकारण हास से।

आलक्ष्यदन्तमुकुलम् —(आलक्ष्याः ईषद्दृश्याः दन्ताः मुकुलाः इव कुड्मलाः इव येषाम् तान्) जिनके दन्तरूपी कुड्मल थोड़े-थोड़े दिखाई पड़ते हैं।

अव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन् (अव्यक्तैः अस्पष्टैः वर्णैः रमणीयाः वचनानाम् प्रवृतयः वाग्व्यापाराः तान्) तोतले बोलों से सुन्दर हैं वचन जिनके उन (पुत्रों) को।

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—

रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन् ।

अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो

धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥१७॥

अन्वयः—अनिमित्तहासैः आलक्ष्यदन्तमुकुलान् अव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन् अङ्काश्रयप्रणयिनः तनयान् वहन्तः धन्याः तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ।

तापसी—होदु, ण मं अअं गणेदि । (पार्श्वमवलोकयति) को एत्थ इसिकुमाराणं ? (राजानमवलोक्य) भद्दमुह ! एहि दाव । मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेण डिंभलीलाए बाहीअमाणं बालमिइंदअं । [भवतु, न मामयं गणयति । कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् ? भद्रमुख ! एहि तावत् । मोचयानेनदुर्मोकहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम् ।]

राजा—(उपगम्य सस्मितम्) अयि भो महर्षिपुत्र,

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।

सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनम् ? ॥१८॥

अन्वयः—एवम् आश्रमविरुद्धवृत्तिना त्वया जन्मतः सत्त्वसंश्रयसुखः अपि संयमः कृष्णसर्पशिशुना चन्दनं इव किमिव दूष्यते ।

तापसी—भद्दमुह ! ण खु अअं इसिकुमारओ । [भद्रमुख ! न खल्वयं ऋषिकुमारः ।]

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः । (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन्बालस्पर्शमुपलभ्य, आत्मगतम्),—

राजा --निश्चय ही मैं इस धृष्ट (बालक) को बहुत चाहता हूं ।

बिना निमित्त के हंसने से जिनके दन्तमुकुल (दांत रूपी अंकुर) थोड़े-थोड़े दिखाई पड़ते हैं। अस्पष्ट वर्णों के कारण (तुतलाने के कारण) जिनकी बोली रमणीय लगती है। जो गोद के प्रेमी हैं, ऐसे पुत्रों को धारण करने वाले भाग्य-शाली जन ही उनके (बच्चों के) अङ्ग की रज से मलिन होते हैं।

तापसी—ठीक है, यह मुझे नहीं गिनता है। (अगल-बगल होकर) ऋषि-कुमारों में यहां कौन है ? (राजा की तरफ देखकर) हे महोदय ! इधर आइये।

जिसके हाथ की पकड़ से छुड़ाना कठिन है, ऐसे इस बालक से शिशु-क्रीड़ा के द्वारा पीड़ित इस बाल-सिंह को छुड़ाइए ।

राजा -(पास जाकर, मुस्कराहट के साथ) हे महर्षि पुत्र ! इस प्रकार आश्रम की वृत्ति के विरुद्ध तुम जन्म से ही, प्राणियों को आश्रय देने वाले सुखकर संयम को उसी प्रकार क्यों दूषित कर रहे हो, जिस प्रकार कि काले सर्प के बच्चे के द्वारा चन्दन का वृक्ष दूषित (विषयुक्त) किया जाता है ।।१८।।

तपस्विनी—महाशय ! यह ऋषि-कुमार नहीं है।

राजा— आकृति के अनुसार इसकी चेष्टा ही यह बतला रही है। स्थान के विश्वास के कारण ही हमने ऐसा (ऋषि-कुमार) समझा था। (तापसी की प्रार्थना के अनुसार कार्य करते हुए बालक के स्पर्श को प्राप्त करके, मन ही मन)—

टिप्पणी—१७वें श्लोक में स्वभावोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार हैं। वसन्ततिलका छन्द है।

आश्रमविरुद्धवृत्तिना (आश्रमस्य विरुद्धा प्रतिकूला वृत्तिः व्यापारः यस्य तेन, बहुव्रीहि समासः) आश्रम के विरुद्ध है व्यापार जिसका ऐसे तुम्हारे द्वारा।

सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि (सत्त्वानाम् जीवानाम् संश्रयः आश्रमः तेन ।,

कृष्णसर्पशिशुना (कृष्णसर्पस्य शिशुना अर्भकेण) काले सांप के बच्चे के द्वारा

(सुखयति इति सुखः ।)

१८वें श्लोक में उपमा अलङ्कार है और रथोद्धता छन्द है।

निर्णयसागर संस्करण में 'चन्दनं' के स्थान पर 'चदन्नम्' पाठ है।

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्या-
द्यस्यायमङ्कात्कृतिनः प्ररूढः ॥१९॥

अन्वयः—कस्यापि कुलाङ्कुरेण अनेन स्पृष्टस्य मम गात्रेषु एवम् सुखम् ; यस्य कृतिनः अङ्कात् अयम् प्ररूढः तस्य चेतसि काम निर्वृत्तिम् कुर्यात् ।

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) अच्छरिअं अच्छरिअं । [आश्चर्य-माश्चर्यम् ।]

राजा—आर्ये, किमिव ?

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि । अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोभो संवुत्तो त्ति । [अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मापितास्मि । अप-रिचितस्यापि तेऽप्रतिलोभः संवृत्त इति ।]

राजा—(बालकमुपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः ?

तापसी—पुरुवंसो । [पुरुवंशः ।]

राजा—(आत्मगतम्) कथमेकान्वयो मम ? अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतत्पौरवाणामन्त्यं कुल-व्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं
क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।

किसी भी कुल के अंकुर इस बालक के स्पर्श से मेरे अङ्गों में ऐसा सुख हो रहा है। (तो) जिस कृती (भाग्यशाली) की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके चित्त में कैसा सुख होता होगा ॥१९॥

तापसी—(दोनों को देखकर) आश्चर्य, आश्चर्य।

राजा—आर्य ! क्या आश्चर्य है ?

तापसी—इस बालक से तुम्हारी आकृति भी मिलती है, इसलिए आश्चर्य में पड़ गई हूँ। आपके अपरिचित होने पर भी यह अनुकूल हो गया है।

राजा—(बालक को प्यार करते हुए) यदि यह मुनि-कुमार नहीं है तो इसका वंश कौन है ?

तापसी—पुरुवंश।

राजा—(मन ही मन) इसका और मेरा एक ही कुल कैसे है ? अतएव यह तापसी इसे मेरे समान आकृति वाला समझ रही है। पुरुवंशियों का यह अन्तिम कुलव्रत है।

जो पहले (युवावस्था में) पृथ्वी की रक्षा के लिए भोगों से पूर्ण भवनों में निवास करना पसन्द करते हैं और इसके पश्चात् जहां संयमित रूप मे एक वानप्रस्थ

टिप्पणी—कुलाङ्कुरेण—(कुलस्य वंशस्य अङ्कुरेण पुरोहेण)

प्ररूढः (प्र + रूह् + क्त)

कुलाङ्कुर में रूपक है। उपजाति छन्द है।

रसाधिकेषु (रसाः अधिकः येषु तेषु) जिनमें भोग अधिक हैं।

नियतैकयतिव्रतानि (नियतम निश्चितम् एकम केवलम् यतिव्रतम् वानप्रस्थव्रतम् येषु तानि) बहुव्रीहि समासः। निश्चित है एक वानप्रस्थव्रत जिनमें ऐसे वृक्षों के मूल। निर्णयसागर संस्करण में 'यति' के स्थान पर 'पति' पाठ है।

गृहीभवन्ति (अगृहाणि गृहाणि भवन्ति, च्वि प्रत्यय)

२० वें श्लोक में परिणाम अलङ्कार एवं छन्द मालभारिणी है।

नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरु–
मूलानि गृही भवन्ति तेषाम् ॥२०॥

अन्वयः –ये पूर्वम् क्षितिरक्षार्थं रसाधिकेषु भवनेषु निवासम् उशन्ति। पश्चात् तेषाम् नियतैकयतिव्रतानि तरुमूलानि गृही भवन्ति।

(प्रकाशम्) न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः।

तापसी—जह भद्दमुहो भणादि अच्छरासंबंधेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरुणो तवोवणे प्पसूदा। [यथा भद्रमुखो भणत्यप्सरःसंबन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।]

राजा—(अपवार्य) हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम्। (प्रकाशम्) अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिंतिस्सदि ? (कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ?

राजा— (स्वगतम्) इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति। यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि। अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—सव्वदमण, सउंदलावण्णं पेक्ख। (सर्वदमन ! शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।)

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) कहिं वा मे अज्जू ? (कुत्र वा मम माता ?)

उभे—णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो। [नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः।]

का जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे वृक्षों की जड़ें उनके गृह हो जाती हैं ॥२०॥

(प्रकट में) अपनी स्वाभाविक शक्ति से यह (प्रदेश) मनुष्यों का विषय नहीं है।

तापसी जैसा आप कह रहे हैं, ठीक है। परन्तु इसकी माता ने अप्सरा की पुत्री होने के कारण देवगुरु कश्यप जी के इस आश्रम में आकर इसे जन्म दिया है।

राजा—(एक ओर मुंह करके) अहा, हा, यह दूसरी आशाजनक बात है। (प्रकट में) अच्छा तो वह माननीया किस राजर्षि की पत्नी है ?

तापसी—अपनी धर्मपत्नी का त्याग करने वाले उस राजा का नाम भला कौन लेना चाहेगा ?

राजा—(मन ही मन) इस कथा का संकेत मेरी ही ओर है। अच्छा तो इस शिशु की माता का नाम पूछ लूं; अथवा पर-स्त्री का नाम पूछना शिष्ट व्यवहार नहीं है।

(मिट्टी का मोर हाथ में लिये तपस्विनी का प्रवेश)

तापसी—सर्वदमन ! शकुन्त (पक्षी) के लावण्य (सौन्दर्य) को देख। अथवा शकुन्तला के रूप (वर्ण) को देख।

बालक—(इधर उधर देखते हुये) कहां है मेरी मां ?

दोनों—नाम् सादृश्य के कारण यह मातृ-भक्त ठगा गया है।

टिप्पणी—परदारव्यवहारः (परदार+वि+अव+हृ+घञ्)।

अनार्य (अर्यते गम्यते इति आर्यः, ऋ=ण्यत्, न आर्यः अनार्यः)।

शकुन्तलावण्यम् (प्राकृत 'सउंदलावण्णं' का संस्कृत रूपान्तर शकुन्तलावण्यम् एवं शकुन्तलावर्णम् दोनों ही हैं। इसीलिये दो अर्थ हैं—शकुन्त=पक्षी का लावण्य, सौन्दर्य और शकुन्तला का वर्ण अर्थात् रूप। यहां क्लिष्ट वक्रोक्ति है। द्व्यर्थक वाक्य होने के कारण पताकास्थानक है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।

प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताकास्थानकं परम् ॥ (साहित्यदर्पण)

द्वितीया—वच्छ, इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि। [वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि।]

राजा—[आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।

बालः—अज्जुए, रोअदि मे एसो भद्दमोरओ। [मातः ! रोचते म एष भद्रमयूरः] (इति क्रीडनकमादत्ते)

प्रथमा—(विलोक्य सोद्वेगम्) अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणिबंधे ण दीसदि। [अहो, रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।]

राजा—अलमलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावकविमर्दात्परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति)

उभे—मा खु एदं अवलंबिअ। कहं गहीदं णेण ? [मा खल्विदमवलम्ब्य। कथं गृहीतमनेन ?] (इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः)

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ?

प्रथमा—सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मादापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेण्हादि। [शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।]

दूसरी—वत्स ! तुमसे यह कहा गया है कि मिट्टी के मोर की सुन्दरता को देखो।

राजा—(मन ही मन) क्या इसकी माता का नाम शकुन्तला है ? परन्तु नामों में भी समानता होती है। क्या केवल नाम का प्रस्ताव मृगतृष्णा के समान विषाद का कारण हो सकता है ?

बालक—मां ! यह सुन्दर मयूर मुझे अच्छा लगता है।

(इस प्रकार खिलौने को ले लेता है)

पहली—(तपस्विनी)—(देखकर, घबराहट के साथ) अरे, रक्षासूत्र इसके हाथ में नहीं दिखाई पड़ रहा है।

राजा—घबराइए मत। इसके सिंह के बच्चे के संघर्ष के कारण यह (रक्षा-सूत्र) यहां गिर गया है।

(इस प्रकार उसे उठाना चाहता है)

दोनों—इसे न छुयें। इसे छूने से······। यह इन्होंने इसे कैसे उठा लिया है। (इस प्रकार आश्चर्य से हृदय पर हाथ रखती हुई दोनों परस्पर एक दूसरे को देखती हैं।

राजा—हमें क्यों मना किया गया था ?

पहली—महाराज सुनें ! अपराजित नाम की ओषधि इसके जात-कर्म संस्कार के समय भगवान् मारीच ने इसे दी थी। इसे माता पिता और अपने आपको छोड़कर कोई दूसरा भूमि पर गिरी हुई को नहीं उठाता है।

अज्जुए (माता के लिए प्राकृत में इस शब्द का प्रयोग होता है।)

रक्षाकरण्डकम् (रक्षासूत्रम्, रक्षास्त्र। इसका प्रयोग ताबीज के लिए भी होता है।)

(इदमवलम्ब्य ······ ··' यह पूरा वाक्य है)—

इदमवलम्ब्य मरिष्यसि (यह छूकर मर जाओगे)

जातकमसंस्कार (यह संस्कार षोडश संस्कारों में से चतुर्थ है। इस संस्कार के अन्तर्गत बालक को घी तथा शहद चटाया जाता है। (मनुस्मृति २।२९)

राजा—अथ गृह्णाति ?

प्रथमा—तदो तं सप्पो भविअ दंसइ। (ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।)

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ?

उभे—अणेअसो। (अनेकशः।)

राजा—(सहर्षम्, आत्मगतम्) कथमिव संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ? (इति बालं परिष्वजते)

द्वितीया—सुव्वदे, एहि। इमं वुत्तंतं णिअमव्वावुडाए सउंदलाए णिवेदेम्ह। [सुव्रते ! एहि, इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः।]

(इति निष्क्रान्ते)

बालः—मुञ्च मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं। [मुञ्च माम्। यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि।]

राजा—पुत्रक, मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि।

बालः—मम खु तादो दुस्संदो। ण तुमं [मम खलु तातो दुष्यन्तः। न त्वम्।]

राजा—(सस्मितम्) एष विवाद एव प्रत्याययति।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

शकुन्तला—विआरकाले वि पकिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं [विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आशासीदात्मनो भागधेयेषु। अथवा सानुमत्याख्यातं तथा संभाव्यत एतत्।]

राजा—और उठाता है तो ?

पहली—तो उसे सर्प बनकर काट लेता है ।

राजा—आप दोनों ने इसका सर्प बनना कभी देखा है ?

दोनों—अनेक बार ।

राजा—(सहर्ष, मन ही मन) पूर्ण हुए अपने मनोरथ का अभिनन्दन क्यों न करूं । (इस प्रकार बालक को सीने से लगाता है ।)

दूसरी—सुव्रता, आओ, इस वृत्तान्त को नियम पालन में संलग्न शकुन्तला से निवेदन कर दें ।

(इस प्रकार निकल जाती हैं)

बालक—मुझे छोड़ दो । मैं अपनी मां के पास जाऊंगा ।

राजा—मेरे साथ ही माता का अभिनन्दन करना ।

बालक—मेरे पिता दुष्यन्त हैं, तुम नहीं ।

राजा—(मुस्कराते हुए) यह विवाद ही विश्वास दिलाता है (कि मैं तुम्हारा पिता हूं) ।

(इसके पश्चात् एक वेणी धारण किये शकुन्तला प्रवेश करती है)

शकुन्तला—विकार काल में सर्वदमन की ओषधि को प्रकृतस्थ सुनकर भी मुझे अपने भाग्य पर ऐसी आशा नहीं थी । अथवा जैसा कि सानुमती ने कहा था, उसी प्रकार यह सम्भव ही है ।

टिप्पणी—एकवेणीधरा (एकवेणीम् धरति या सा)

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) अये, सेयमत्रभवती शकुन्तला ।

यैषा,–

वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥

अन्वयः—परिधूसरे वसने वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः शुद्धशीला अतिनिष्करुणस्य मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।

शकुन्तला—[पश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा] ण खु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि । [न खल्वार्यपुत्र इव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति ?]

बालः—(मातरमुपेत्य) अज्जुए, एसो कोवि पुरिसो मं पुत्तं त्ति आलिंगदि । [मातः ! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति ।)

राजा—प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) हिअअ, अस्सस अस्सस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअम्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्तो क्खु एसो । [हृदय ! आश्वसिहि आश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः ।]

राजा—(शकुन्तला को देखकर) अरे, यही वह शकुन्तला है। जो यह--

मैले-कुचैले वस्त्रों को धारण किये हुए, नियम-पालन करने के कारण कृश मुख वाली, एक वेणी को धारण करने वाली, पवित्र शीलवाली अत्यन्त निठुर मेरे लिये दीर्घ विरह-व्रत का पालन कर रही है।

शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण मलिन आकृति वाले राजा को देखकर) यह तो आर्यपुत्र के समान नहीं हैं। तो फिर यह कौन इस समय रक्षासूत्र धारण करने वाले मेरे पुत्र को अपने शरीर के स्पर्श से दूषित कर रहा है।

बालक—(माता के पास जाकर) मां! यह कोई पुरुष मुझे 'पुत्र' कहकर सीने से लगा रहा है।

राजा—प्रिये! तुम्हारे ऊपर की गई मेरी क्रूरता भी अनुकूल परिणाम वाली हो गई है। क्योंकि मैं देख रहा हूं कि तुमने मुझे पहिचान लिया है।

शकुन्तला—(मन ही मन) हृदय! धैर्य धारण कर, धैर्य धारण कर। द्वेष को त्याग देने वाले भाग्य ने मेरे ऊपर अनुकम्पा की है। निश्चय ही ये आर्यपुत्र हैं।

टिप्पणी—विरहव्रतम् (विरहस्य वियोगस्य व्रतम् नियमम्)

राजा—प्रिये !

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि !
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥२२॥

अन्वयः—सुमुखि ! दिष्ट्या स्मृतिभिन्नमोहतमसः मे प्रमुखे स्थिता असि। उपरागान्ते रोहिणी शशिनः योगम् समुपगता।

शकुन्तला—जेदु जेदु अज्जउत्तो ···। [जयतु जयत्वार्यपुत्र ···।] (इत्यर्धोक्ते वाष्पकण्ठो विरमति।)

राजा—सुन्दरि !

वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥२३॥

अन्वयः—जयशब्दे वाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि मया जितम्, यत् असंस्कारपाटलोष्ठपुटम् ते मुखम् दृष्टम्।

बालः—अज्जुए, को एसो ? [मातः ! क एषः ?]

शकुन्तला—वच्छ, दे भाअहेआइं पुच्छेहि। [वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ।]

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

सुतनु ! हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपिमनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥२४॥

अन्वयः—सुतनु ! ते हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकम् अपैतु। तदा मे किमपि बलवान् मनसः संमोहः अभूत्। हि शुभेषु प्रबलतमसां वृत्तयः एवंप्रायाः। अन्ध शिरसि क्षिप्ताम् स्रजम् अपि अहिशङ्कया धुनोति।

राजा—प्रिये ! भाग्यवश स्मरण आ जाने से मेरा मोह रूप अन्धकार नष्ट हो गया है और तुम मेरे सामने उपस्थित हो गई हो, जिस प्रकार कि रोहणी ग्रहण के अनन्तर चन्द्रमा से मिल जाती है ॥२२॥

शकुन्तला—आर्य-पुत्र की जय हो, जय हो। ......। (इस प्रकार आधी बात कहकर अश्रुओं से गला भर जाने के कारण चुप हो जाती है।)

राजा—सुन्दरी ! 'जय' शब्द के आसुओं से रोके जाने पर भी मेरी जीत हो गई है। क्योंकि सजावट न होने से, पाटल वर्ण के होने से युक्त तुम्हारे मुख को मैं देख सका ॥२३॥

बालक—मां ! यह कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछो।

राजा—(शकुन्तला के पैरों में गिरकर)

हे सुन्दरि ! तुम्हारे हृदय से मेरे द्वारा किये गए परित्याग का दुःख दूर हो। उस समय मेरे हृदय में कुछ बलवान् मोह उत्पन्न हो गया था। क्योंकि कल्याणकारी वस्तुओं के प्रति प्रबल तमोगुण वालों की प्रवृत्ति प्रायः इसी प्रकार की होती है। अन्ध पुरुष शिर पर डाली गई माला को भी सर्प समझकर फेंक देता है ॥२४॥

टिप्पणी—असंस्कारपाटलोष्ठयुतम् (असंस्कारेण अलक्तकादि संस्कारभावेन पाटलम् श्वेतरक्तम् ओष्ठपुटम् यस्य तत् मुखम् बहुव्रीहि समासः तेन युतम्) संस्कार न करने के कारण जिसके होंठ पाटल (पीले और लाल) वर्ण के हैं।

२३वें श्लोक में विरोधाभास और काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। अनुष्टुप छन्द है।

प्रत्यादेशव्यलीकम् (प्रत्यादेशेना निराकरणेन यद् व्यलीकम् 'दुखम्' तत्) परित्याग से होने वाला दुःख।

प्रबलतमसाम् (प्रबलं घोरम् तमः येषाम् तेषाम्) जिनमें तमोगुण अधिक होता है।

२४वें श्लोक में काव्यलिङ्ग एवं भ्रान्तिमान् अलङ्कार है। हरिणी छन्द है।

निर्णयसागर संस्करण में 'वृत्तयः' के स्थान पर 'प्रवृत्तयः' (प्रवृत्तियां) पाठ है।

शकुन्तला—उट्ठेदु अज्जउत्तो। णूणं मे सुअरिअप्पडिबंधअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणामसुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जुवुत्तो मइ विरसो संवुत्तो। [उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः नूनं मे सुचरित-प्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।]

(राजोत्तिष्ठति)

शकुन्तला—अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो? [अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः?]

राजा—उद्धृतविषादशल्य कथयिष्यामि।

मोहान्मया सुतनु! पूर्वमुपेक्षितस्ते
यो वाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य
वाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥

अन्वयः—सुतनु! यः वाष्पबिन्दुः ते अधरम् परिबाधमानः मया मोहात् पूर्वम् उपेक्षितः, आकुटिलपक्ष्मविलग्नम् तम वाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयः भवेयम तावत्।

(इति यथोक्तमनुतिष्ठति)

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) अज्जउत, एदं ते अंगुलीअअं। [आर्यपुत्र! इदं तेऽङ्गुलीयकम्]

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा।

शकुन्तला—विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि। (विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्)

शकुन्तला—आर्यपुत्र उठिए। निश्चय ही शुभफल का प्रतिबन्धक मेरा पूर्व जन्मकृत पाप उन दिनों उदित हो गया था, जिससे कृपालु होते हुए भी आर्य-पुत्र मुझ पर ऐसे निर्दयी हो गए थे।

(राजा उठता है)

शकुन्तला—अच्छा, तो आर्यपुत्र ने इस दुःखभागी को कैसे स्मरण कर लिया?

राजा—विषाद (दुःख) रूपी बाण के निकलने पर (यह सब) बतलाऊंगा।

हे सुन्दरी! जो वाष्पबिन्दु तुम्हारे अधर को पीड़ित कर रही थी और जिनकी मेरे द्वारा पहिले उपेक्षा की गई थी, कुछ टेढ़ी पलकों में लगे हुये उस आंसू को पोंछकर मैं पश्चात्ताप से छुटकारा पाऊं ॥२५॥

(इस प्रकार आंसुओं को पोंछता है)

शकुन्तला—(नामाङ्कित अंगूठी को देखकर) आर्यपुत्र! यही वह अङ्गुलीयक (अंगूठी) है।

राजा—इस अंगूठी के मिलने से ही मुझे तुम्हारी स्मृति हो आई।

शकुन्तला—इसने बहुत बुरा किया था कि उस समय आर्य-पुत्र को विश्वास दिलाने के समय दुर्लभ हो गई थी।

टिप्पणी—निर्णयसागर संस्करण में 'परिणामाभिमुखम्' के स्थान पर 'परिणाममुखम्' (परिणाम की ओर उन्मुख पाठ है।)

आकुटिलपक्ष्मविलग्नम (आकुटिलेषु ईषद्वक्रेषु पक्ष्मसु नेत्रलोमसु विलग्नम् (संसक्तम्) कुछ टेढ़ी पलकों में लगे हुए आंसू को।

विगतानुशयः (विगतः अनुशयः पश्चात्ताप यस्य असौ) नष्ट हो गया है पश्चात्ताप जिसका।

२५ वें श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है।

राजा—तेन धृतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लता कुसुमम् ।

शकुन्तला—ण से विस्ससामि । अज्जउत्तो एव्व णं धारेदि । [नास्य विश्वसिमि । आर्यपुत्र एवैतद्धारयतु ।]

(ततः प्रविशति मातलिः)

मातलिः—दिष्टचा धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान्वर्धते ।

राजा—अभूत्संपादितस्वादुफलो मे मनोरथः । मातले । न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात् ।

मातलिः—(सस्मितम्) किमीश्वराणां परोक्षम् । एत्वायुष्मान् । भगवान्मारीचस्ते दर्शनं वितरति ।

राजा—शकुन्तले ! अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

शकुन्तला—हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं । [जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपे गन्तुम् ।]

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः)

मारीचः—(राजनमवलोक्य) दाक्षायणि !

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ॥२६॥

राजा —तो ऋतु (वसन्त) मिलन के चिन्ह स्वरूप इस पुष्प (अङ्गुलीयक) को लता (शकुन्तला) धारण करे।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं है। इसे आर्यपुत्र ही धारण करें।

(इसके पश्चात् मातलि प्रवेश करता है)

मातलि—भाग्य से धर्मपत्नी के साथ समागम और पुत्र के मुखदर्शन से आयुष्मान् का अभ्युदय हो रहा है। (आपको बधाई है)

राजा —मेरा मनोरथ स्वादिष्ट फल से सम्पादित हुआ है। हे मातलि ! यह समाचार इन्द्र को पता नहीं होगा ?

मातलि—(मुस्कराहट के साथ) ऐश्वर्यसम्पन्नों के लिये कौनसी बात छुपी हुई है ? आयुष्मान् आयें। भगवान् मारीच आपको दर्शनों का अवसर दे रहे हैं।

राजा—शकुन्तले ! पुत्र को संभालो। तुम्हें आगे करके भगवान् (मारीच) का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—आर्य-पुत्र के साथ गुरुजनों के पास जाने में लज्जा का अनुभव करती हूँ।

राजा—अभ्युदय-काल में ऐसा आचरण करना ही चाहिए। आओ, आओ।

(सब चल पड़ते हैं)

(इसके पश्चात् अदिति के साथ आसन पर बैठे हुए मारीच प्रवेश करता है)

मारीच—(राजा को देखकर) दाक्षायणी।

यह दुष्यन्त नाम वाला व्यक्ति संसार का रक्षक तुम्हारे पुत्र (इन्द्र) के युद्धों

टिप्पणी—सम्पादितस्वादुफलः (सम्पादितम् निष्पन्नम् स्वादुफलम् यस्यासौ। बहुव्रीहि समासः।)

आखण्डल इन्द्र को कहते हैं—'आखण्डलः सहस्राक्षः' (अमरकोश)

अभ्युदयकालेषु (अभ्युदयस्य मङ्गलस्य कालेषु, तत्पुरुष समासः)

विनिर्वर्तितकर्म (विनिर्वर्तितम् सुसम्पादितम् कर्म दानवहननरूपं कर्म यस्य तत् बहुव्रीहि समासः)

कुलिशम् (कुलिनः पर्वतान् श्यति नाशयति, इति तम्)

दाक्षायणि—[दक्ष+फक् (आयन्) दक्षस्य अपत्यम्, स्त्रियाम् दाक्षायणी, सम्बोधने दाक्षायणि।

अन्वय :— अयं दुष्यन्तः इति अभिहितः भुवनस्य भर्ता ते पुत्रस्य रण-शिरसि अग्रयायी । यस्य चापेन विनिवर्तितकर्म कोटिमत् तत् कुलिशं मघोनः आभरणम् जातम् ।

अदिति— संभावणीआणुभावा से आकिदी । [संभावनी-यानुभावाऽस्याकृतिः ।]

मातलिः—आयुष्मन् ! एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावायुष्मन्तमवलोकयतः । तावुपसर्प ।

राजा—मातले !

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ॥२७॥

अन्वय :—मुनयः यत् द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणम् प्राहुः, यत् भुवनत्रयस्य भर्तारम् यज्ञभागेश्वरम् सुषुवे, यस्मिन् आत्मभवः परः पुरुषः अपि भवाय आस्पदम् चक्र, दक्षमरीचिसंभवं स्रष्टुः एकान्तरम् तत् इदम् द्वन्द्वम् ।

मातलिः—अथ किम् ?

राजा—[उपगम्य] उभाभ्यामपि वासवानुयोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति ।

मारीचः—वत्स ! चिरं जीव, पृथिवीं पालय ।

अदितिः— वच्छ, अप्पडिरहो होहि । [वत्स ! अप्रतिरथो भव ।]

शकुन्तला— दारअसहिदा वो पादवंदणं करेमि । [दारक-सहिता वां पादवन्दनं करोमि ।]

में सबसे आगे चलता है। इसके धनुष् से जिसका सब कार्य पूरा हो गया है, ऐसा तीक्ष्ण वज्र अब इन्द्र का आभूषण हो गया है ॥२६॥

अदिति—इसकी आकृति से इसके प्रभाव की सम्भावना की जा सकती है।

मातलि—आयुष्मान्, ये देवताओं के माता-पिता पुत्र-प्रीति की दृष्टि से आयुष्मान् को देख रहे हैं। उन दोनों के पास चलिए।

राजा—मातलि !

मुनिजन जिसे द्वादश रूपों में स्थित तेज (सूर्य) का कारण कहते हैं, जिसने लोकत्रय के स्वामी एवं यज्ञभाग के अधिकारी (इन्द्र) को जन्म दिया है। परमपुरुष विष्णु ने भी (वामनरूप में) जन्म ग्रहण करने के लिये जिसे आश्रय बनाया है। दक्ष एवं मरीचि से उत्पन्न, ब्रह्मा जी से एक पीढ़ी बाद उत्पन्न हुआ यह जोड़ा है ॥२७॥

मातलि—हाँ,

राजा—(पास जाकर) इन्द्र का सेवक दुष्यन्त आप दोनों को प्रणाम करता है।

मारीच—वत्स ! चिरञ्जीवी हो और पृथ्वी की रक्षा करो।

अदिति—वत्स ! अद्वितीय महारथी हो।

शकुन्तला—पुत्र के साथ मैं आप दोनों की चरण-वन्दना करती हूं।

टिप्पणी—द्वादशधा (द्वादशसु भागेषु इति द्वादश+धाच्)

यज्ञभागेश्वरम् यज्ञस्य भागः यज्ञभागः, सः अस्ति एषाम्,

इति यज्ञभागाः (यज्ञभाग+अच्) तेषाम् ईश्वरः।

दक्षमरीचिसंभवम् (दक्षः मरीचिश्च सम्भवः उत्पत्ति स्थानम्, यस्य तत्) दक्ष एवं मरीचि जिसके उत्पत्ति स्थान हैं।

२७वें श्लोक में उदात्त एवं विरोधाभास अलङ्कार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

निर्णयसागर संस्करण में 'मातले' की जगह 'मातले ! एतौ' (हे मातलि, ये दोनों) पाठ है।

मारीचः—वत्से !

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः

अशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥२८॥

अन्वयः—भर्ता आखण्डलसमः सुतः जयन्तप्रतिमः, पौलोमीसदृशी भव, अन्या आशीः ते योग्या न।

अदितिः—जादे ! भत्तुणो अभिमदा होहि। अवस्सं दीहाऊ वच्छओ उहअकुलणंदणो होदु। उवविसह। [जाते ! भर्तुरभिमता भव। अवश्यं दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत।]

(सर्वे प्रजापतिमभित उपविशन्ति)

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।

श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥२९॥

अन्वयः—साध्वी शकुन्तला, इदम् सत् अपत्यम्, भवान्, दिष्ट्या श्रद्धा वित्तम् विधिः च इति तत् त्रितयम् समागतम्।

राजा—भगवन्, प्रागभिप्रेतसिद्धिः, पश्चाद्दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः,—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं

घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमः

तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः ॥३०॥

अन्वयः—पूर्वं कुसुमम् उदेति, ततः फलम्, प्राक् घनोदयः तदनन्तरम् पयः। निमित्तनैमित्तिकयोः अयम् क्रमः। तव प्रसादस्य तु पुरः सम्पदः।

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

मारीच—पुत्री !

तुम्हारा पति इन्द्र के समान है, तुम्हारा पुत्र जयन्त के समान है। तुम इन्द्राणी के समान होओ। अन्य आशीर्वाद तुम्हारे योग्य नहीं है ॥२८॥

अदिति—पुत्री, स्वामी की प्रिय हो। यह दीर्घायु बालक दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला हो। (तुम सब) बैठ जाओ।

(सब प्रजापति के चारों ओर बैठ जाते हैं)

मारीच—(प्रत्येक को निर्देश करके)

साध्वी शकुन्तला है। सद्गुण सम्पन्न सन्तान है। आप हैं। भाग्य से श्रद्धा, वित्त (धन) और विधि, ये तीनों वस्तुयें यहाँ एकत्र हो गई हैं ॥२९॥

राजा—भगवन्! पहले अभीष्ट वस्तु की सिद्धि हुई, इसके पश्चात् दर्शन। अतः आपका अनुग्रह अपूर्व है। क्योंकि—

पहले फूल आता है फिर फल। पहले बादल आता है, इसके पश्चात् वर्षा। निमित्त (कारण) और नैमित्तिक (कार्य) का यह क्रम है। परन्तु आपकी कृपा के आगे सम्पत्ति चलती है ॥३०॥

मातलि—इस प्रकार भाग्यविधाता कृपा करते हैं।

टिप्पणी—आखण्डलसमः (आखण्डल अर्थात् इन्द्र के समान)
पौलोमीसदृशी (पौलोमी, इन्द्राणी, तया सदृशी तुल्या) इन्द्राणी के समान।
जयन्तप्रतिमः इन्द्र के पुत्र जयन्त के समान।

निमित्तनैमित्तिकयोः (निमित्तस्य कारणस्य नैमित्तिकस्य कार्यस्य च) कारण और कार्य का यह क्रम। निमितेन संसृष्टम्, नैमित्तिकस्य, निमित्त + ठक्।

३०वें श्लोक में काव्यलिङ्ग, अतिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार हैं। वंशस्थ छन्द है।

राजा—भगवन्, इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशान्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीति
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥३१॥

अन्वयः—यथा समक्षरूपे गजः न इति, तस्मिन् अपक्रामति संशयः स्यात्, पदानि दृष्ट्वा तु प्रतीतिः भवेत्, तथाविधः मे मनसः विकारः।

मारीचः—वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। संमोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता, तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला—[स्वगतम्] दिट्ठिआ अकारणपच्चादेसी ण अज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि। अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। सदो सहीहिं संदिट्ठ

राजा—भगवन् ! आपकी इस आज्ञाकारिणी (शकुन्तला) के साथ गान्धर्व विधि से विवाह करके और कुछ काल पश्चात् इसके भाई-बन्धुओं द्वारा मेरे पास लाये जाने पर स्मृति की शिथिलता के कारण इसका परित्याग करके, मैं आपके सगोत्र (वंशज) पूजनीय कण्व ऋषि का अपराधी हूँ। इसके पश्चात् अंगूठी के दर्शन से मैंने जाना कि मैंने उनकी पुत्री से विवाह किया था। यह सब मुझे बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है।

मेरे मन का यह विकार उसी प्रकार था जिस प्रकार कि हाथी के सामने होने पर भी 'यह हाथी नहीं है', यह विश्वास हो जाय। उसके चले जाने पर यह संशय हो कि वह हाथी है या नहीं। उसके पैरों के चिन्हों को देखकर यह विश्वास हो कि वह हाथी ही था ॥३१॥

मारीच—वत्स ! अपने अपराध की शङ्का मत करो। चित्त-विकार भी तुममें सम्भव नहीं है, सुनो।

राजा—मैं सावधान हूँ।

मारीच—जैसे ही अप्सरस्तीर्थ घाट से अत्यन्त विकल शकुन्तला को लेकर मेनका दाक्षायणी के पास आई, उसी समय मैंने ध्यान से जान लिया कि दुर्वासा के शाप से इस तपस्विनी एवं सहधर्मचारिणी का तुमने परित्याग किया है, अन्य किसी कारण से नहीं और वह शाप अंगूठी के दर्शन से समाप्त होने वाला था।

राजा—(उच्छ्वास सहित) अब मैं निन्दा से मुक्त हुआ हूँ।

शकुन्तला—(मन ही मन) भाग्य से अकारण ही आर्य पुत्र ने मेरा परित्याग नहीं किया। मुझे स्मरण नहीं है कि मुझे शाप दिया गया था या मुझे दिया गया

टिप्पणी—आज्ञाकरीम् (आज्ञा+कृ+ट)।

अपराद्धः (अप+राध+क्त)।

समक्षरूपे (समक्षम् प्रत्यक्षम् रूप स्वरूप यस्य तस्मिन्) बहुव्रीहि समासः सामने विद्यमान होने पर।

प्रत्यक्षवैक्लव्याम् (प्रत्यक्षम् वैक्लव्यम् यस्याः ताम्, बहुव्रीहि समासः, जिसकी विकलता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही थी)।

विरहशून्यहृदया (विरहेण शून्यम् हृदयम् यस्या सा तया)।

म्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइव्वं त्ति । [दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्र । न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः । अतः सखीभ्यां संदिष्टास्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।]

मारीचः—वत्से ! चरितार्थासि । सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः । पश्य,—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥३२॥

अन्वयः—शापात् स्मृतिरोधरूक्षे भर्तरि प्रतिहता असि, अपेततमसि तवैव प्रभुता । मलोपहतप्रसादे दर्पणतले छाया न मूर्च्छति, शुद्धे तु सुलभावकाशा ।

राजा—यथाह भगवान् ।

मारीचः— वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः ?

राजा—भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा ।

मारीचः— तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥३३॥

अन्वयः—अप्रतिरथः अयम् अनुद्घातस्तिमितगतिना रथेन तीर्णजलधिः पुरा सप्तद्वीपां वसुधाम् जयति । इह सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः, पुनः लोकस्य भरणात् भरतः इति आख्याम् यास्यति ।

यह शाप, विरह से शून्य हृदय वाली मेरे द्वारा नहीं जाना गया था। अतः मेरी दोनों सखियों ने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा था कि पति को अंगूठी दिखा देना।

मारीच—वत्से ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया है। अब तुम अपने पति के प्रति क्रोध न करना। देखो—

शाप के कारण तुम्हारे पति की स्मरण-शक्ति रुक जाने से, रूखे हो जाने से तुम्हारा तिरस्कार हुआ था। अज्ञान (स्मृतिभ्रंशरूप) दूर हो जाने से उन पर तुम्हारा प्रभुत्व रहेगा। मैल के कारण जिसकी स्वच्छता नष्ट हो गई है, ऐसे शीशे पर प्रतिबिम्ब स्वच्छ नहीं दिखाई देता, परन्तु वह साफ हो तो प्रतिबिम्ब स्वच्छ दिखाई देगा ॥३२॥

राजा—आपका कथन सत्य है।

मारीच—वत्स ! हमने शकुन्तला के इस पुत्र का विधिपूर्वक जातकर्म संस्कार किया है। क्या तुम्हारे द्वारा इसका अभिनन्दन किया गया है ?

राजा—भगवन् ! इसी में मेरे वंश की प्रतिष्ठा है।

(इस प्रकार बालक का हाथ पकड़ता है)

मारीच—आप इसे उसी प्रकार का होने वाला चक्रवर्ती सम्राट् जानें। देखिये—

यह अद्वितीय महारथी अस्खलित एवं शान्त गति वाले रथ से समुद्रों को पार करके सप्तद्वीपों से युक्त पृथ्वी को जीतेगा। यहां जीवों का बलपूर्वक दमन करने के कारण इसका नाम सर्वदमन था। फिर संसार का पालन करने के कारण इसका भरत नाम पड़ेगा ॥३३॥

टिप्पणी :—अपेततमसि (अपेतम् नष्टं तमः अज्ञानम् यस्मात् तादृशे)

मलोपहतप्रसादे (मलेन धूल्यादिना उपहतः नष्टः प्रसादः यस्य तस्मिन्, बहुव्रीहि समासः।

सुलभावकाशा (सुलभः अवकाशः स्थानं यस्या।) प्रतिबिम्ब को स्थान सरलता से मिलेगा।

३२ वें श्लोक में उपमा अलङ्कार एवं वसन्ततिलका छन्द है।

अप्रतिरथ: (अविद्यमानः प्रतिरथः प्रतियोद्धा यस्य सः)

अनुद्घातस्तिमितगतिना (अनुद्घाता स्खलनरहिता स्तिमिता निश्चला च गतिः यस्य, बहुव्रीहि समासः) झटकों से रहित एवं शान्त।

तीर्णजलधिः (तीर्णाः उत्तीर्णाः जलधयः समुद्राः येन सः, बहुव्रीहि समासः) जिसने समुद्रों को पार कर लिया है।

३३ वें श्लोक में भाविक एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। शिखरिणी छन्द है।

तथा भाविनम् (तथा+भू+णिनि, तथाभावी, तम्)

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे।

अदितिः—भअवं, इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो करीअदु । दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरती चिट्ठदि। [भगवन् ! अस्या दुहितृमनोरथसंपत्तेः कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति ।]

शकुन्तला—(आत्मगतम्) मनोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए। [मनोरथः खलु मे भणिती भगवत्या ।]

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः ।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः । क, कोऽत्र भोः ?

(प्रविश्य)

शिष्य—भगवन् , अयमस्मि ।

मारीचः—गालव, इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति ।

शिष्यः- यदाज्ञापयति भगवान् । (इति निष्क्रान्तः)

मारीचः—वत्स ! त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः वत्स ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—आपके द्वारा जिसका संस्कार किया गया है, ऐसे इसमें हम सब कुछ आशा करते हैं।

अदिति—भगवन् पुत्री की इस मनोरथ पूर्ति के समाचार से कण्व को भी विदित करा देना चाहिये। पुत्री-वत्सला मेनका यहीं सेवा करती हुई स्थित है।

शकुन्तला—(मन ही मन) भगवती (अदिति) ने मेरा मनोरथ कह दिया है।

मारीच—तप के प्रभाव से माननीय को सब प्रत्यक्ष है।

राजा—इसीलिये मुनि मुझ पर अत्यन्त क्रुद्ध नहीं हुये थे।

मारीच—तो भी यह प्रिय समाचार हमें उन्हें सुनाना ही चाहिये। अरे, यहां कौन है ?

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन् ! यह मैं हूँ।

मारीच—गालव ! इसी समय आकाश-मार्ग से जाकर मेरी ओर से माननीय कण्व को यह समाचार सुनाओ कि पुत्रवती शकुन्तला, उसका शाप समाप्त होने पर स्मरणयुक्त दुष्यन्त के द्वारा स्वीकार कर ली गई है।

शिष्य—जैसी आपकी आज्ञा। (इस प्रकार जाता है)।

मारीच—वत्स ! तुम भी अपने पुत्र और स्त्री के सहित सखा इन्द्र के रथ पर चढ़कर अपनी राजधानी को प्रस्थान करो।

राजा—जैसी आपकी आज्ञा।

मारीच—वत्स ! इससे अधिक मैं तुम्हारा और क्या प्रिय उपकार करूं ?

निर्णयसागर संस्करण में 'अस्याः' के स्थान पर 'अनया' पाठ है और 'सम्पत्तेः' के स्थान पर 'सम्पत्त्या' पाठ है।

श्रावयितव्यः (श्रु + णिच् + तव्यत्)।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति। यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु,—

(भरतवाक्यम्)

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥३४॥

अन्वयः—पार्थिवः प्रकृतिहिताय प्रवर्तताम, श्रुतमहतां सरस्वती महीयताम्, परिगतशक्तिः आत्मभूः नीललोहितः ममापि पुनर्भवं क्षपयतु।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति सप्तमोऽङ्कः।

समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम्।
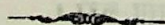
राजा —इससे अधिक भी कुछ प्रिय है। यदि आप और प्रिय करना चाहते हैं तो यह हो (अन्तिम आशीर्वादात्मक वाक्य) :—

राजा प्रजा के हित के लिए प्रवृत्त हो। शास्त्र-श्रवण से महान् कवियों की वाणी का पूर्णसत्कार हो। सर्वशक्तिसम्पन्न स्वयम्भू शिव मेरे पुनर्जन्म का नाश कर दें ॥३४॥

(सब का प्रस्थान)

सप्तम अङ्क समाप्त

॥ अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नाटक समाप्त ॥

टिप्पणी—भरतवाक्यम्—(नाटकीय पात्रों की ओर से नाटक के अन्त में सामाजिकों के लिये जिस आशीर्वादात्मक वाक्य का प्रयोग होता है, उसे 'भरतवाक्य' कहते हैं। 'वरप्रदानसमाप्तिः वाक्यसंहार इति वरवाक्यम् भरतवाक्यम्' राघवभट्ट।

श्रुतिमहताम् श्रुत्या श्रुतौ वा महान्तः श्रुतिमहान्तः)

पुनर्भवम् (भवतीतिभवः, पुनः भूयः भवः पुनर्भवः)

परिगतशक्तिः (परितः सर्वतः गताः व्याप्ताः शक्तयः यस्य सः बहुव्रीहि समासः) सर्वशक्तिमान्। रुचिरा छन्द है।

पृष्ठ ७३ से २६५ तक नवजीवन प्रिंटिङ्ग प्रेस मेरठ में मुद्रित ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

श्लोकानां प्रीतिनाम्नी संस्कृतव्याख्या

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः ....ईशः ॥१॥

अस्मिन् श्लोके सूत्रधारः पूर्वरङ्गाङ्गभूतां नान्दीं पठति । नान्दीलक्षणं यथा—आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता । (साहित्यदर्पणम्)

या = तनुः, स्रष्टुः = ब्रह्मणः, आद्या = प्रथमा, सृष्टिः (जलमित्यर्थः) या च विधिहुतं = श्रुतिस्मृत्युक्तविधानेन दत्तं हविर्हवनीयं द्रव्य जातं वहति = आदत्ते । (वह्निरित्यर्थः) । या च होत्री = यजमानरूपिणी, ये च द्वे = तनू कालं = रात्रिदिवरूपं विधत्तः = कुरुतः (चन्द्रार्कौ इत्यर्थः), या श्रुतिविषयगुणा = श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तस्य विषयो गोचरो गुणः शब्दाभिधो यस्या सा, बहुब्रीहि समासः, विश्वम् = जगत् व्याप्य स्थिता, (आकाश इत्यर्थः) याम् = तनुम् सर्वबीजप्रकृतिः = सर्वेषां बीजानां प्रकृतिः योनिः इत्याहुः (पृथिवी इत्यर्थः) यया प्राणिनः = जन्मिनः, "प्राणीतु चेतनो जन्मी" प्राणवन्तः = सप्राणाः, (वायुरित्यर्थः) इत्यपरः, ताभिः प्रत्यक्षाभिः = प्रत्यक्षमुपलभ्यमानाभिः, अष्टाभिः = अष्ट संख्यकाभिः, तनुभिः मूर्त्तिभिः, प्रपन्नः = युक्तः, ईशः = शिव : वः = युष्मान्, अवतु = रक्षतु । अन्त्यो दीपकालङ्कारः परिकरालङ्कारश्च, स्रग्धरा छन्दः ॥१॥

आ परितोषाद् ....चेतः ॥२॥

विदुषाम् = विपश्चितानाम्, परितोष तु आ = परितोषं मर्यादीकृत्य (पञ्चम्यपाङ्परिभिः) इति पञ्चमी । प्रयोगविज्ञानम् = प्रयोगस्य चतुर्धाभिनयप्रयोगस्य, विज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं साधु = सम्यक् न मन्ये = न स्वीकरोमि । बलवत् = अधिकम्, अपि शिक्षितानां = शिक्षितपुरुषाणां चेतः = चित्तं आत्मनि = स्वविषये अप्रत्ययम् = अविश्वासि । पर्यायोक्तार्थान्तरान्यासालङ्कारो । आर्या छन्दः, तल्लक्षणं यथा—

यस्याः पादे प्रथमेद्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थकेपञ्चदश साऽऽर्या ॥ २॥

सुभग ....परिणामरमणीया: ॥३॥

सुभगसलिलावगाहा:=सु अतिशयेन भगो यत्नो येषु एतादृशा सलिलाव-गाहा:=जलावगाहाः यत्र, बहुव्रीहिसमासः। पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाता:=पाटलानां पाटलीपुष्पाणां संसर्गः सम्बन्धो येषु ते सुरभयो मनोज्ञाः एवं भूता वनवाता येषु ते। प्रच्छायसुलभनिद्रा:=प्रकृष्टा छाया येषु प्रदेशेषु ते प्रच्छायास्तेषु सुलभनिद्रा येषु ते, परिणामरमणीया:=परिणामे दिवसावसाने रमणीया: सुखसंचरणीयाः दिवसाः दिनानि (सन्ति)।

अत्र 'विशेषणसाभिप्रायत्वे परिकर:' इति—लक्षणात् परिकरालङ्कारः। स्वभावोक्तिश्च। आर्या छन्दः ॥३॥

ईषत् ....शिरीषकुसुमानि ॥४॥

सुकुमारकेसरशिखानि=सुकुमारा: कोमलाः केसराणां शिखा अग्रभागा येषु तानि ईषदीषत्=मुहुर्मुहुः भ्रमरै:=अलिभिः चुम्बितानि=आस्वादितानि शिरीषकुसुमानि=शिरीषपुष्पाणि, दयमाना:=सदयाः, प्रमदा:=स्त्रियः, अवतंसयन्ति=अलङ्कुर्वन्ति। अत्रापि आर्या छन्दः ॥४॥

तवास्मि ....अतिरंहसा ॥५॥

गीतरागेण=गीते गीतौ, निबद्धेन रागेण श्रीरागादिना हारिणा=कर्णसुखदेन, मृगपक्षे तु अतिवेगहेतुत्वं ग्राह्यम् प्रसभं=अत्यर्थं, हृत:=आसक्तचित्तः मृगपक्षे स्वसेनया दूरं प्रत्यापितः, अतिहरंसा=अतिवेगवता, रंहस्तरसी, तुरयः स्यदः जवः, इत्यमरः। सारङ्गेण=हरिणेन' "सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गेऽपि मतङ्गजे" इति विश्वः। एष राजा दुष्यन्त इव। अत्र काव्यलिङ्गोपमालङ्कारौ। अनुष्टुप्, छन्दः, तल्लक्षणं, यथा—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्वि चतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अत्रैव प्रस्तावनाचापि ॥५॥

कृष्णसारे ....पिनाकिनम्। ६॥

कृष्णसारे=मृगविशेषे, अधिज्यकार्मुके=अधिरूढगुणधनुषि, त्वयि=दुष्यन्ते, चक्षुः ददत् निक्षिपन्, मृगानुसारिणम्=मृगस्य अनुसरणकर्त्तारम्, शिवपक्षे मृगरूपधरयज्ञानुसारिणम्, साक्षात्=प्रत्यक्षम्, पिनाकिनम्=पिनाकधारिणम्, शिवमित्यर्थः इव=समानं पश्यामि=अवलोकयामि॥ एकस्य नेत्रस्य युगपदनेकत्र वर्तमानत्वाद् विशेषालङ्कारः। श्रुत्यनुप्रासवृत्यनुप्रासौ चालङ्कारौ ॥६॥

ग्रीवाभङ्गाभिरामं..प्रयाति ॥७॥

ग्रीवाभङ्गाभिरामम्=ग्रीवाभङ्गेन अभिरामं मनोहरं यथास्यात्तथा मुहुः पुनः पुनः

अनुपतति=अनुपश्चात् पतति स्यन्दने=रथे बद्धदृष्टिः=दत्तचक्षु; "दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिणदर्शने" इत्यमरः। शरपतनभयात्=बाणपातत्रासेन, भूयसा=अधिकेन पश्चार्धेन =शरीरपश्चिमभागेन पूर्वकायं=शरीरस्य पूर्वभागंप्रविष्टः इव श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः =श्रमेण विवृत्तं व्यात्तं यन्मुखं तस्माद् भ्रंशिभि। अद्य: पतद् भ. दर्भैः कुशैः कीर्णवर्त्मा =व्याप्तमार्गः पश्य=अवलोकय (अयम्) उदग्रप्लुतत्वात् = उच्चैः प्लवनात् वियति=व्योम्नि बहुतरं=अधिकतर, प्रयाति=गच्छति, उर्व्यां=पृथिव्यां स्तोकं= अल्पं(प्रयाति) अत्र गम्योत्प्रेक्षा, स्वभावोक्तिश्च। स्रग्धरा छन्दः ॥७॥

मुक्तेषु ··· ································ ···········रथ्याः॥८॥

रश्मिषु=प्रग्रहेषु मुक्तेषु=संयमनान्मुक्तेषु, निरायतपूर्वकायाः=निरायतः नितरां दीर्घः पूर्वकायः पूर्वशरीरं येषां ते, निष्कम्पचामरशिखाः+निष्कम्पाः निश्चलाः चामराणां भूषार्थं बद्धानां शिखा अग्रभागा येषु ते' च्युतकर्णभङ्गाः=निश्चलकर्णाः आत्मोद्धतैः=स्वखुरोद्धतैः अपि रजोभिः=धूलिभिः अलङ्घनीयाः=लङ्घितुमशक्याः, अमी=तेजस्विनोऽश्वरत्नीभूताः रथ्याः=रथवाहका अश्वाः। रथ्यो वोढा रथस्य यः इत्यमरः मृगजवाक्षमया=मृगस्य हरिणस्य जवो वेगः तदक्षमया तदक्षान्त्या इवेत्युत्प्रेक्षायाम् धावन्ति=द्रुततरं गच्छन्ति।

हेतूत्प्रेक्षास्वभावोक्तिश्चालङ्कारः, वसन्ततिलकावृत्तम् ॥८॥

यदालोके··· ············ —···—·····रथजवात् ॥९॥

रथजवात्=रथवेगात् हेतोः सहसा=झटिति आलोके=दर्शने यत् सूक्ष्मं= अविपुलं (वस्तु) तद् विपुलतां=दीर्घतां व्रजति=गच्छति, यत् अर्धे विच्छिन्नं= खण्डितं जायते तद्वस्तु कृतसन्धानम्=अखण्डितम् भवति=यत्=वस्तु प्रकृत्या= स्वभावेन वक्र=असरलं तद् अपि नयनयोः=नेत्रयोः, समरेखा=सरलं क्षणम् अपि न =न हि किञ्चित मे दूरे=दूरस्थाने न पोश्वस्थाने। स्वभावोक्तिः, विरोधाभासः, उत्प्रेक्षालङ्कारश्च। शिखरिणी छन्दः ॥९॥

नखलु ······ ········ ············· शरास्ते ॥१०॥

अस्मिन् मृदुनि=कोमले, मृगशरीरे=हरिणशरीरे पुष्पराशौ=कुसुमराशौ अग्निः =वह्निः इव अयं बाणः=सायकम्, न खलु=नैव खलु, नखलु संनिपात्य=प्रहरणीयः हरिणकानाम्=हरिणानाम्, अतिलोलम्=अतिसुकुमारम्, जीवितम् जीवनम्, क्व= कुत्र, निशितनिपाताः तीक्ष्णप्रहाराः, वज्रसाराः=वज्रकठोराः ते=तव शराः= बाणाः च क्व=कुत्र, महद् वैषम्यमिति भावः। १०॥

तत्साधुकृतसन्धानं —— ········ ······अनायसि ॥११॥

तत्=तस्मात् साधुकृतसन्धानं=साधु यथा स्यात्तथा कृतं विहितं संधानं यस्य तं सायकं=बाणं प्रतिसंहर=प्रत्यावृत्य स्वं स्थानं प्रापय व=युष्माकम्, शस्त्रं

आर्तानां=पीडितानां, त्राणाय=रक्षणाय, अनागसि=अनपराधे प्रहर्तुं=प्रहारं कर्तुं न। अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥११॥

जन्म .... आप्नुहि ॥१२॥

इदं=मुनिवचनपालनम्, तव=दुष्यन्तस्य युक्तरूपं=यस्य पुरोः=पुरु नाम्नः वंशे कुले जन्म उत्पत्तिः एवं गुणोपेतं=स्वगुणयुक्तं, चक्रवर्तिनम्=चक्रवर्ति-लक्षणोपेतं पुत्र=तनयं, अवाप्नुहि=प्राप्नुहि।

परिकर-काव्यलिङ्ग-पुनरुक्तवदाभासालङ्कारः ॥१२॥

रम्या स्तपोधनानां .... मौर्वीकिणाङ्क इति ॥१३॥

तपोधनानां—तपस्विनां, प्रतिहतविघ्नाः—प्रतिहताः निरस्ताः विघ्नाः बाधाः यासां रम्याः—सौन्दर्योपेताः (वेदबोधिताचरणत्वात्). क्रिया—यागादिकर्म-रम्याः समवलोक्य—सम्यगवलोक्य न केवलं श्रुत्वा मौर्वीकिणाङ्क—मौर्वी ज्या तस्यां किणश्च हतं तदेवाङ्को भूषा यस्मिन् सः मे—दुष्यन्तस्य भुजः—बाहुः, कियत् रक्षति—अवति इति ज्ञास्यसि।

"परिकर-पुनरुक्तवदाभास-काव्यलिङ्गालङ्कारः" आर्या छन्दः ॥१३॥

नीवाराः .... वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥१४॥

तरूणाम्=वृक्षाणाम्, अधः=नीचैः, शुकगर्भ कोटरमुखा=शुका गर्भे मध्ये येषां तानि च कोटराणि तरूणां विवराणि तेषां मुखानि तेभ्यो भ्रष्टाः पतिताः नीवाराः=तृणधान्यानि (दृश्यन्ते) क्वचित् प्रस्निग्धाः=प्रकर्षेण स्निग्धाः अतिचिक्कणा इत्यर्थः उपलाः=पाषाणाः, इङ्गुदीफलभिदः=इङ्गुदी तापसतरुस्तत्फलानि भिन्दन्तीतिभिदः एव सूच्यन्ते=द्योत्यन्ते। (क्वचित्) विश्वासोपगमात्=विश्वासस्योपगमः प्राप्तिः तस्मात् अभिन्नगतयः=अपरित्यक्तस्वस्थितयः मृगाः=हरिणाः, शब्दं=रथध्वनि, सहन्ते=रथध्वनिं श्रुत्वा नधावन्ति, हत्याशाः (क्वचित्) च तोयाधारपथाः=तोयाधारा देवखातादयः तत्पथाः तन्मार्गाः वल्कलशिखा निष्यन्दरेखाङ्किताः=वल्कलानि आर्द्राणि मुनिवस्त्राणि तेषां शिखा अग्राणि तेभ्यो निष्पन्दो जलस्रवणं तेन या रेखाः ताभिः अङ्किताः चिह्निताः स्वभावोक्तिः, काव्यलिङ्गम् क्रिया समुच्चयश्चालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितछन्दः ॥१४॥

शान्तमिदम् ....सर्वत्र ॥१५॥

इदम्=परिदृश्यमानम् आश्रमपदम्=आश्रमस्थानम् शान्तम्=निरुपद्रवं बाहुः=दक्षिणभुजः च स्फुरति=स्पन्दते इह=आश्रमस्थाने अस्य=बाहुस्फुरणस्य फलं=महार्दवस्तुप्राप्तः कुतः अथवा=यद्वा भवितव्यानां=अवश्यंभाव्यानां, द्वाराणि=उपायाः सर्वत्र भवन्ति=जायन्ते॥ अर्थान्तरन्यासो ऽलङ्कारः, आर्याछन्दश्च ॥१५॥

शुद्धान्तदुर्लभमिदं ....बनलताभिः ॥१६॥

इदम् = परिदृश्यमानं शुद्धान्तदुर्लभम् = राजस्त्रीदुर्लभम् वपुः = शरीरम् आश्रमवासिनः = आश्रमे वस्तुं शीलं यस्य, बहुव्रीहिः, जनस्य = सामान्यजनस्य यदि = चेत् (तदा) खलु उद्यानलताः = उद्यानस्यलता व्रततयः वनलताभिः = अरण्यलताभिः गुणैः = सुगन्ध्यादिभिः दूरीकृताः = तिरस्कृताः ॥ निदर्शनालङ्कारः ॥१६॥

इदं किलाव्याज..........................व्यवस्यति ॥१७॥

यः ऋषिः इदम् = पुरोदृश्यमानम् = अव्याजमनोहरम् = स्वभावसुन्दरम् वपुः = शरीरम्, तपः क्षमम् = तपः समर्थं साधयितुम् = कर्तुम्, इच्छति = अभिलषति किल, स ऋषिः ध्रुवम् = निश्चितम् नीलोत्पलपत्रधारया = नीलोत्पलस्य नीलकमलस्य पत्राणां दलानां धारा तया शमीलतां = शमीवृक्षस्तल्लताम्, क्वचित् समिल्लतामित्यपि पाठः। समिद्रूपलतामित्याशयः। छेत्तुम् = खण्डयितुम् व्यवस्यति = प्रयतते।
निदर्शना, उत्प्रेक्षा, सन्देहसंकरश्चालङ्कारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥१७॥

सरसिजमनुविद्धम् ....आकृतीनाम् ॥१८॥

शैवलेन = जलनील्या, जलनीली तु शैवालं शैवलः, इत्यमरः अपि अनुविद्धम् — संपृताम्, सरसिजम् = सरोजम्, रम्यम् = सुन्दरम्, हिमांशोः = चन्द्रमसः, मलिनम् = अनुज्ज्वलम् अपि लक्ष्म = कलङ्क चिह्नम्, लक्ष्मीम् = शोभाम्, तनोति = विस्तारयति, इयम् = पुरो दृश्यमाना शकुन्तला, तन्वी कृशगात्रा, वल्कलेन = वल्कलवस्त्रेण अपि रम्या = सुन्दरी हि = यतः मधुराणाम् — सुन्दराणाम्, आकृतीनाम् — स्वरूपाणाम् — किमिव मण्डनम् = भूषणम् न (भवति) सर्वमेवेत्याशयः।

अर्थान्तरन्यास प्रतिवस्तूपमालङ्कारौ, मालिनी वृत्तम् ॥१८॥

अधरः ....संनद्धम् ॥१९॥

अधरः = अधरोष्ठः, किसलयरागः = किसलय इव रागो यस्य स बहुव्रीहि समासः, पल्लवताम्र इत्याशयः बाहू = भुजौ, कोमलविटपानुकारिणौ = कोमलौ यौ विटपौ तरुशाखे तदनुकारिणौ तत्समानौ अङ्गेषु = अवयवेषु, कुसुमम् इव लोभनीयम् = आकर्षकम्, यौवनम् = तारुण्यम्, संनद्धम् = व्याप्तम्। उपमालङ्कारः, आर्याछन्दः ॥१९

असंशयं ....प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥२०॥

असंशयम् = निस्सन्देहम्, क्षत्रपरिग्रहः क्षमा = क्षत्रं क्षत्रियः तस्य, क्षत्रियस्य परिग्रहः स्त्रीत्वेनाङ्गीकारः तत्क्षमा तद् योग्या यद् मे = मम दुष्यन्तस्य, आर्यम् = श्रेष्ठम् मनः = चित्तम्, अस्याम् = शकुन्तलायाम्, अभिलाषि = अभिलाषयुक्तम्, हि = यतः, सन्देहपदेषु = सन्देहस्थानेषु, वस्तुषु विषयेषु अन्तःकरणप्रवृत्तयः = अन्तःकरणस्य प्रवृत्तयः, वर्तनानि प्रमाणम् = प्रमाणस्वरूपम् (भवन्ति)।

अर्थान्तरन्यासः, अप्रस्तुत प्रशंसा काव्यलिङ्गश्चालङ्कारः, वंशस्थं वृत्तम् ॥२०॥

चलापाङ्गां ....कृती ॥२१॥

वेपथुमतीम्=भयात् कम्पमानाम्, चलापाङ्गाम्—चल: चञ्चल: अपाङ्गः प्रान्तभाग: यस्याः सा ताम्, दृष्टिम्—नयनं बहुश: स्पृशसि—चुम्बसि, रहस्याख्यायी—रहस्यमाख्यातुं शीलम् अस्य स इव कर्णान्तिकचर:—कर्णस्यान्तिकं समीपं चरति तच्छील:, कर्णाभ्यर्णं भ्रमन्. मृदु—मधुरं स्वनसि—ध्वनसि, करौ—हस्तपल्लवौ, व्याधुन्वत्याः—कम्पयन्त्याः, रति सर्वस्वं—रतेः सर्वस्वम्. अधरम्—अधरोष्ठम्. पिबसि—रसयसि, हे मधुकर!—हे भ्रमर! त्वम् खलु निश्चयेन, कृती—भाग्यशाली, वयं—वयन्तु, तत्वान्वेषात् = वास्तववृत्तान्तजिज्ञासया, हताः—वञ्चिता:, स्वभावोक्तिकाव्यलिङ्गालङ्कारौ । वंशस्थं वृत्तम् ॥२१॥

क: पौरवे ....तपस्विकन्यासु ॥२२॥

दुर्विनीतानाम्=दुष्टानाम्, शासितरि=दण्डादिनाशासनकर्तरि, पौरवे=पुरुवंशोत्पन्ने, वसुमतीम्=वसुधाम् शासति=शासनं कुर्वति, क: अयम् (क्रोधोक्तिः) मुग्धासु—सरलासु, तपस्विकन्यासु—तपोधनतनयासु अविनयम्—धाष्टर्यम्, आचरति व्यवहारते ॥ अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, आर्या छन्द ॥२२॥

मानुषीषु ....वसुधातलात् ॥२३॥

अस्य रूपस्य—रूपं विद्यतेऽस्यास्मिन्निति वा, 'अर्शआदिभ्योऽच्' रूपवत इत्याशयः । सम्भवः—उत्पत्ति, मानुषीषु—मनोरपत्यानि स्त्रियः मानुष्यः तासु कथं वा स्यात् भवेत्, प्रभातरलं—प्रभया दीप्त्या तरलम् उज्ज्वलं ज्योतिः चन्द्रादि, वसुधातलात् —पृथ्वीतलात्, न—नहि, उदेति—प्राकट्यं प्राप्नोति । २३॥

वैखानसं ....हरिणाङ्गनाभिः ॥२४॥

किम् इति प्रश्ने अनया—शकुन्तलया मदनस्य—कामस्य, व्यापाररोधि—व्यापारः स्व-विषये प्रवृत्तिः (आलिङ्गनादिकम्) तत् रोधि अवरोधकम् वैखानसम्—तपस्विसम्बन्धि व्रतम्—नियमादिकम्, आप्रदानात्—विवाहावधिः—निषेवितव्यम्—आचरणीयम्, आहो—अथवा मदिरेक्षणवल्लभाभिः—मदिरे—सञ्जातमदे ये ईक्षणे नेत्रे ते च त वल्लभाभिः प्रियाभिः हरिणाङ्गनाभिः—मृगीभिः, समम्—सार्धम् अत्यन्तम्—आजन्म, एव निवत्स्यति—निवासं करिष्यति ।
वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२४॥

भव हृदय ....रत्नम् ॥२५॥

हे हृदय !—हे चेतः, चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः इतिकोश । साभिलाषम्—अभिलाषयुक्तं ......:—मुनितनया क्षत्रिय-

तनया वा, इति सन्देहे निर्णय: निश्चय: जात:=सम्पन्नः, यत् त्वम् (हे हृदय:) अग्निम् =वह्निम्, आशङ्कसे—मन्यसे, तत् इदम्=पुरोवर्त्ति स्पर्शक्षमम्=उपभोगयोग्यम्, रत्नम्=कन्यारत्नम् । काव्यलिङ्गरूपकालङ्कारौ, आर्या छन्दः ॥२५॥

अनुयास्यन् ·· प्रतिनिवृत्तः ॥२६॥

मुनितनयाम्=शकुन्तलाम्, अनुयास्यन्=अनुगमिष्यन्, सहसा=अविचारितम्, विनयेन=जितेन्द्रियतया, वारितप्रसार:=वारितप्रसरः वेगः यस्य सः स्थानात्= स्वावस्थानप्रदेशात्=अनुच्चलन्=अनुतिष्ठन् अपि गत्वा=यात्वा, पुनः=भूयः, प्रतिनिवृत्त:=प्रत्यागत इवेत्युत्प्रेक्षायाम् । उत्प्रेक्षालङ्कारः, आर्याछन्दश्च ॥२६॥

स्रस्तांसो ································· मूर्धजाः ॥२७॥

घटोत्क्षेपणाद्=घटोत्थापनात्, बाहू=भुजौ, स्रस्तांसौ=स्रस्तौ शिथिलौ अंसौ स्कन्धौ ययोस्तौ, अतिमात्रलोहिततलौ=अतिमात्रं अत्यन्तं लोहितं रक्तं तलं ययोस्तौ, अद्य अपि प्रमाणाधिकः श्रमायतः, श्वास:=उच्छ्वासः, स्तनवेपथुम=स्तनकम्पम्, जनयति=उत्पादयति, वदने=मुखे, कर्णशिरीषरोधि=कर्णशिरीषं कर्णालङ्कारभूत शिरीषपुष्पं तद् रोद्धुं शीलमस्येति तत् कर्णं शिरीषरोधि कर्णाभरणशिरीषरोधकं, घर्माम्भसां=स्वेद जलकणानाम्, जालकं=जलबिन्दुजालकम् स्रंस्तम्=पतितम्, बन्धे केशबन्धे, स्रंसिनि=शिथिले सति, मूर्धजा:=चिकुराः, च एकहस्तयमिता:=एकेन हस्तेन करेण यमिताः नियमिताः पर्याकुला:=विपर्यस्ताः (सन्ति) ।

स्वभावोक्तिरलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥२७॥

वाचं ································· दृष्टिरस्याः ॥२८॥

यद्यपि मद्वचोभि:=मद्वचनैः सह, वाचं=वाणीं न मिश्रयति=मेलयति, मयि=दुष्यन्ते, भाषमाणे=किञ्चित् कथयति सति, कर्णं ददाति=मद्भाषणं सादरं शृणोति = इत्याशयः कामं यथेष्टं, मदाननसंमुखीना = मन्मुखसमुखीना, न तिष्ठति=अस्या:=शकुन्तलायाः, दृष्टि:=नयनं तु, भूयिष्ठं=प्रायः, अन्यविषया= अन्यो विषयो यस्याः सा, मन्मुखातिरिक्तपदार्थविषयिणी न=नास्तीत्याशयः । वसन्ततिलका छन्दः ॥२८॥

तुरगखुरहतः································ आश्रमद्रुमेषु ॥२९॥

तथा हि तुरगखुरहत:=तुरगानां अश्वानां खुरैः शफैः हतः उत्थापितः परिणतारुणप्रकाशः=परिणतस्य: परिणतः अस्ताचलोन्मुखः यः अरुणः सूर्यः तस्य प्रकाशः । रेणुः= धूलिः, शलभसमूह=पतंगसमूह इव, विटपविषक्त जलार्द्रवल्कलेषु=विटपेषु शाखासु विषक्तानि लम्बितानि जलार्द्राणि सलिलार्द्राणि वल्कलानि वल्कलवस्त्राणि येषु तेषु आश्रमद्रुमेषु=आश्रमवृक्षेषु पतति समाविशति । उपमालङ्कारः, पुष्पिताग्रा छन्दः ॥२९

तीव्राघातप्रतिहततरुः········स्यन्दनालोकभीतः ।।१०।।

स्यन्दनालोकभीतः=स्यन्दनस्य दुष्यन्तरथस्य आलोकनेन दर्शनेन भीतः त्रस्तः सन्, तीव्राघातप्रतिहततरुः=तीव्रेण आघातेन प्रहारेण प्रतिहताः भग्नाः तरवः वृक्षाः येन सः स्कन्धलग्नैकदन्तः=स्कन्धे अंसदेशे लग्नः एकः दन्तः यस्य सः, पादाकृष्टव्रतति वलयासंगेन सञ्जातपाशः=पादाभ्याम् आकृष्टं यत् व्रतति वलयं लताजालं तस्याः सङ्गेन समन्तात् सम्बन्धेन सञ्जातः जातः पाशः यस्य सः भिन्नसारङ्गयूथः=भिन्नानि सारङ्गाणां मृगाणां यूथानि कुलानि यस्मात् सः, गजः नः=अस्माकम्, तपसः= तपश्चर्यायाः मूर्त्तः=देहधारी विघ्न इव धर्मारण्यम्=तापसाश्रमं प्रविशति ।

अत्रोत्प्रेक्षाप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारो । मन्दाक्रान्ताछन्दः ।।१०।।

गच्छति ········नीयमानस्य ।।११।।

शरीरम्=मम वपुः, पुरः=अग्रे गच्छति=याति, असंस्तुतं = अपरिचितं, चेतः=चित्तं प्रतिवातं=वायुसंमुख नीयमानस्य=प्राप्यमाणस्य केतोः=ध्वजस्य चीनांशुकम्=चीनदेशनिर्मितसूक्ष्मवस्त्रमिव पश्चात्=शकुन्तलाभिमुखं धावति तामनुसरतीत्याशयः ।

अतिशयोक्त्युत्प्रेक्षोपमालङ्काराः, आर्या छन्दः ।।११।।

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

अथ द्वितीयोऽङ्कः

कामं प्रिया··· ·· ·· ·· ············ रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥१॥

कामं -अतिशयेन । प्रिया-शकुन्तला । सुलभान-सुखलभ्यान । मनः- मदीयं चेतः । तु-किन्तु । तद्भावदर्शनीयासि- तस्याः शकुन्तलायाः ये भावाः—अनुराग व्यञ्जकस्निग्धकटाक्षविक्षेपादि चेष्टाः विशेषाः, तेषां दर्शनेन अवलोकनेन 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमोहिप्रियेषु । इतिन्यायात्, आयासि— सप्रयत्नं विद्यते । यतः मनसिजे —कामे । अकृतार्थे अपि — तदर्थीभूतसुरतसम्भोगानुत्पत्त्याऽचरितार्थे सत्यपि । उभयप्रार्थना—-परस्परबिलाषो रति—प्रीति । कुरुते —जनयति ।

अत्र "रतिः कामं स्त्रियां रागे सुरतेऽपि रतिः स्मृता" इति धरणिः । तथा च अर्थान्तरन्यास विरोधाभासश्चाऽलंकारो । आर्या जातिः ॥१॥

स्निग्धं ········ ········· ·· कामी स्वतां पश्यति" । २॥

यदन्यतोऽपि=अन्यत्रापि, । नयने—नेत्रयुगलम् । प्रेषयन्त्यास्फुटं चालयन्त्या, तया स्निग्धं— सस्नेहं । यथास्यान्तथा वीक्षितिम्— व्याजेन तारकायुग्मं सञ्चार्यं अवलोकितम् । यच्च नितम्बयोः— कटिपश्चाद्भागयोः । गुरुतया—पृथुलत्वेनभारवतया 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्या' इत्यमरः । विलासादिव —लीलयेव । मन्दं - मन्थरं यातम् —गतम् । यदपि— यच्च । मा गाः— न गच्छ । इति उपरुद्धया गमननिवारितया । स सखी— अनुरोधकर्त्री प्रियम्वदा । सासूयम्— भ्रूभङ्गसूचितेर्ष्यापूर्वकम् उक्ता— अभिहिता तत्सर्वम्—तत्सकलम् । मत्परायणं किल—अहमेव परम—अपनमः आश्रमः विषयो यस्य तत्तथाभूतम् । मदनुरागाविष्करणतत्परमित्यर्थः । किल—सम्भावनायाम् । अहो— इत्याश्चर्ये । कामी-साभिलाषो जनः । स्वतां-आत्मीयताम् अन्य विषयिकाणामपि भावानां स्वविषयकतामित्यर्थः । पश्यति-सम्भावयति ।

अत्रार्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्तिश्चालंकाराः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् । २

न नमयितुम ·················· ·· मुग्धविलोकितोपदेशः ॥३॥

अधिज्यं— अध्यारूढा, ज्या— मौर्वी यस्मिन् तत्— गुणयुक्तमित्यर्थः । आहितसायकम् —आहितः लक्ष्यभेदाय संयोजितः सायकः— बाणो यस्मिन् तत्— शरयुनमित्यर्थः । शरे खड्गे च सायकमित्यमरः । इदं पुरो दृश्यमानं । धनुः —शरासनम् । मृगेषु हरिणेषु नमयितुं —ज्याकर्षणेन वक्रीकर्तुम् । न शक्तः अस्मि न समर्थोऽस्मि । यैः मृगैः । सहवसतिमुपेत्य - सहावस्थानम् उपेत्य=प्राप्य । प्रियायाः—शकुन्तलायाः । मुग्धविलोकितोपदेशः— मुग्धानि — स्वभावरम्याणि विलोकितानि अवलोकतानि तेषामुपदेशः शिक्षणं ।

अन्योत्प्रेक्षालंकारः पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥३॥

अनवरत .... प्राणसारं बिभर्त्ति ॥४॥

गिरिचर-गिरौ पर्वते चरतीति—पर्वतीयः। नागइव—हस्तीव। अनवरत-धनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं—अनवरतं—निरन्तर यद् धनुषः ज्यायाः मौर्व्याः आस्फालनं-कर्षण—तेन क्रूरः-कठिनः पूर्वः-पूर्वभागो यस्य तत्। रविकिरणसहिष्णु-रवेः सूर्यस्य किरणान् रश्मीन् सहते इति। सहधातोरिष्णु च प्रत्ययः। स्वेदलेशैरभिन्नम्—स्वेदस्य लेशैः—घर्मजलकणैः, अभिन्नम्—अवशिष्टम् अपचितमपि—कृशमपि। व्यायतत्वात्—प्रकाण्डत्वात् कृशत्वेन। अलक्ष्यं—क्षीणतयाऽदृश्यम्। तथा प्राणसारम्—प्राणः बलमेवसारः—स्थिरांशो यस्मिन् तत्तथाभूतम् बलवत्तरमित्यभिप्रायः। "प्राणोऽनिले-बले" इतिहेमः "सारो बलेस्थिरांशे च" इत्यमरः। गात्रं—शरीराद्यवयव निवहम्। गात्रं वपुः संहनन' इत्यमरः। बिभर्त्ति—धारयति।

नागपक्षे—अनवरतं धनुषः प्रियालद्रुमस्य ज्यायां पृथिव्यामास्फालनेन कठिनः पूर्वभागो यस्यतत्। 'धनु संज्ञा प्रियालद्रौ राशिभेदशरासने" इति विश्वः। 'ज्यामौर्वी च वसुधरा" इतिधरणिः। अन्यानि विशेषणानि सुस्पष्टानि।

उपमालंकारः मालिनीवृत्तम् ॥४॥

मेदश्छेदकृशोदरं .... मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥५॥

वपुः—शरीरं, मेदश्छेदकृशोदरं मेदसः—शरीरस्थौल्यापादकधातुविशेषस्य, वसाया इत्यर्थः, छेदेन—मृगयोजनितपरिश्रमाधिकतयाह्रासेन कृशं क्षीणं उदरं यत्र तथाभूतम्, लघु—भारहीनं सत्, अतएव च उत्थानयोग्यं भवति, अपि च सत्वानामपि—जन्तूनामपि, "सत्वमस्त्रीतु जन्तुषु' इत्यमरः, अपिः समुच्चयार्थे, भयक्रोधयोः—भयं च क्रोधश्च भयक्रोधाविति द्वन्द्व समासः, विकृतिमत—विकृति-र्विद्यते यस्मिस्तत्—सञ्जातविकारम्, चित्तं—चेतः, लक्ष्यते—चेष्टाविशेषदर्शनेन-बुध्यते, यत् च इषवः—शराः, चले—चञ्चले, लक्ष्ये—शरव्ये, सिध्यन्ति—कृतकार्या भवन्ति, न तु कदाचित्स्खलन्ति, सः धन्विनां—धानुष्काणाम् 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः उत्कर्षः नैपुण्यातिशयः, अतएव मृगयां आखेटकम्, मिथ्यैव—मुधैव व्यसनं—दुर्गुणं, वदन्ति—कथयन्ति, ईदृक्—ईदृशः, विनोदः—प्रमोदः, कुतः—कुत्र, न कुतोऽपीत्यर्थः।

अत्र समुच्चयकाव्यलिङ्गलंकारौ एतयोः मिथोनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

गाहन्तां महिषा .... धनुः ॥६॥

महिषाः—शृङ्गिपशुविशेषाः, शृङ्गैः—विषाणैः, मुहुः—बारम्बारम्, ताडितं—आहतम्, निपानसलिलं—जलाशयस्थजलम्, गाहन्ताम्—विलोडयन्तु, यथेच्छ

स्नानं कुर्वन्तु-इत्यभिप्रायः, मृगकुलं हरिणवृन्दम्, छायाबद्धकदम्बकम्—छायायां बद्धं रचितं कदम्बकम् समूहो येन तद् सद्, रोमन्थम्—चर्वितस्य शष्पादेरुद्गीर्य चर्वणया अभ्यस्यतु - पौनः पुन्येनानुतिष्ठतु, वराहपतिभिः—शूकराणां यूथनाथैः, विश्रब्ध—निर्भीकं यथास्यात्तथा, पल्वले—स्वल्पजलाशये, मुस्ताक्षतिः—मुस्तोत् खननम्, क्रियताम्—विधियताम्, 'मुस्तामुस्तकम् स्त्रियां' इत्यमरः, इदं अस्मदीयं, धनुश्च, शिथिलज्याबन्धं—शिथिलोज्यया गुणस्य बन्धोबन्धनं यस्मिन् तत्सद् विश्रामं—निर्व्यापारवत्तया विश्रान्ति लभतां।

अधिगच्छतु। अत्यस्वभावोक्तिरलंकारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥६॥

शमप्रधानेषु .... — .... वमन्ति ॥७॥

शमप्रधानेषु— शमः शान्तिरेवप्रधानं, श्रेष्ठं बहुलमितियावत् तेषु तथाभूतेषु, तपोधनेषु—तपस्विषु, हि—निश्चयेन, दाहात्मकं—दाहः भस्मीकरणं—आत्मीस्वरूपं यस्य तद् तादृशम्—दहनस्वभावम्, तेजः—ब्रह्म वर्चसम्, अस्ति—विद्यते, स्पर्शानुकूला—स्पर्शनविषयेऽनुकूलाः, सूर्यकान्ताइव—सूर्यकान्तमणिविशेषाः इव, (ते) तपोधनाः अन्यतेजोभिभवात्—अन्येन सूर्येणेत्यर्थः, अभिभवात् समाक्रमणात्, तद् गूढं तेजो, वमन्ति—प्रकटं कुर्वन्ति, उपजातिर्वृत्तम्। श्लेषोपमालंकारौ ॥७॥

सुरयुवतिसंभवम् .. .. नवमालिकाकुसुमम् ॥८॥

शिथिलम्—वृन्तात्पृथकभूतम्, अर्कस्यउपरि—मन्दारवृक्षस्योपरि, च्युतं—पतितं, नवमालिकाकुसुमम्—इव—सप्तलतायाः पुष्पमिव सुरयुवतिसंभवम्—सुरयुवतिः—मेनका तस्याः संभवो जन्म यस्य तत्, तद् शकुन्तला, उज्झिताधिगतं-उज्झितं परित्यक्तं ततोमुनिनाधिगतम् लब्धम्, अतो मुनेः—कण्वस्य अपत्यं—संतानम् किल, इतिआकर्ण्यत इत्यर्थः। उपमालंकारः आर्यावृत्तम् ॥८॥

चित्रे .... वपुश्च तस्याः ॥९॥

विधिना—ब्रह्मणा सृष्टिकर्त्रा। चित्ते—आलेख्ये। निवेश्य-निधाय। परिकल्पितसत्वयोगा परिकल्पितः—विहितः, सत्वस्य – प्राणानां, योगसम्बन्धो यस्यां सा। द्रव्येसु व्यवसायेषु सत्वम्, इत्यमरः। नु — इति प्रश्ने, सन्देहे वा। मनसा — चेतसादिनिमित्तकारणेन। रूपोच्चयेन सौन्दर्यराशिना करणेन। कृता—निर्मिता। नु इति अथवा किंवा घटिता। धातुः—स्रष्टुः विभुत्वं—निर्माणकौशलम्। तस्याः—शकुन्तलायाः। वपुः च—शरीरञ्च। अनुचिन्त्य—चिन्तयित्वा वर्त्तमानस्येति शेषः। मे—मम। सा—कृशाङ्गी। अपरा–अद्वितीया साधारण विलक्षणेतिभावः। स्त्रीरत्न—रमणीरत्नं। सृष्टिः—सर्वोत्तमभावे च निर्मिता रत्नोपमा स्त्री। इति। प्रतिभाति—प्रतिभासते। तत्प्रीतिगोचरी भवतीत्यर्थः। तथा विधसुन्दर्या अन्यत्रानवलोकनाद् इति भावः।

अत्र सन्देहातिशयोक्ति काव्यालिङ्गालङ्काराः। वसन्ततिलका वृतम् ॥९॥

अनाघ्रातं ··· ······ ·················· समुपस्थास्यति विधिः ॥१०॥

अनघं — निष्पापं दुष्कृतजनितकुत्सितत्वादिदोषरहितं मनोज्ञमित्यर्थः। "अनघं निर्मलापायमनोज्ञेष्वविधेयवत्" इति मेदिनी। तद्रूपं—शकुन्तलायाः लावण्यम्। अनाघ्रातं — न आघ्रातं इति अनाघ्रतं केनचिदपिअकृतगन्धोपलम्भम्। पुष्पं—कुसुमम्। कररुहै—नखैः। 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्र नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। अलूनं—अच्छिन्नं, अक्षुण्णमितियावत्। किसलयम्—पल्लवम्। अनाविद्धं —अक्षतमकुटिलं वा। रत्नम्—मणिः। अनास्वादितरसं—केनापि रसनया अननुभूतः स) स्वादो यस्य तत् तथोक्तम्। नवमधु—तत्कालसमानीतं, नतु पर्युषितमित्यर्थः। पुण्यानां — सुकृतानां। अखण्डं—परिपूर्णम्। फलमिव— परीपाक इव। एतेनात्यन्तअभिलषणीयता व्यञ्जिता। (च अस्ति) न जाने —न वेद्मि। विधिः—ब्रह्मा। इह—अत्र। कं सुकृतिनं। कं भोक्तारं—स्वसम्भोग कर्त्तारं। समुपस्थास्यति—सेविष्यते। यमुपस्थास्यति स वै महाभागधेय इति भावः।

मालोपमा, परिकरश्चालंकारौ। शिखरिणी वृत्तम् ॥१०॥

अभिमुखे ··· —················ न च संवृत्तः ॥११॥

मयि अभिमुखे—तद्वदनमण्डलमवलोकयति सति, ईक्षणं—मदवलोकनम्, संहृतम्—संकोचितम्. अन्यनिमित्तकृतोदयम्—अन्येन निमित्तेन हेतुना कृत उदय आविर्भावो यस्य तद्हसितं हासो विहितः, अतः—अस्मात् कारणात्, तया— शकुन्तलया, विनयवारितवृत्तिः—विनयेन—शिष्टाचारेण, वारिता—निरुद्धा, वृत्तिः—प्रसरो यस्य स तथाभूतः, मदनः—स्मरः (कामः) न विवृतः—न व्यक्तीकृतः न च संवृत्तः—न च निगूहितः। अत्र विरोधाभासालंकारः। मदनो न विवृतः, नवा संवृत्तः इति यथासंख्यालंकार, द्रुतविलम्बित नाम वृत्तम, द्रुतविलम्बितमाहनभौभरौ इति तल्लक्षणम् ॥११॥

दर्भाङ्कुरेण ·································· द्रुमाणाम् ॥१२

तन्वी—कृशाङ्गी सा शकुन्तला, कतिचित् एव—कतिपयान्येव, पदानि— पदप्राप्यस्थानानि, गत्वा — चलित्वा, दर्भाङ्कुरेण — कुशाङ्कुरेण, कुशाभाव सूच्या न तु दर्भेण, चरणः—पादः, क्षत इति—विदीर्णं इति, अकाण्डे—अनवसरे, स्थिता—मामवलोकितुमस्थिता, दर्भाङ्कुरोद्धरण—व्याजेन र्गति निवर्त्तितवतीत्य- भिप्रायः, द्रुमाणां—पादपानां, शाखासु—विटपेषु, असक्तमपि—अलग्नमपि, वल्कलं—चीरं, विमोचयन्ति—मन्दं मोचनव्यापारन्नाटयन्तीसती, विवृतवदना— विवृतं—मदवलोकनार्थं परावृतं मुखं यस्याःसा तथाभूता, पश्चादभ्रमितवदनेत्यर्थः।

चासीत् — माम द्रष्टुमवस्थिता । अय विरोधाभासोहेतुश्चालंकारौ । एवञ्च वसन्त-तिलका वृत्तम् । वसन्ततिलकातभजाजगौ गः ।

यदुत्तिष्ठति .... हि नः ॥१३॥

नृपाणाम् = भूपालानां । वर्णेभ्यः — ब्राह्मणादिभ्यः "वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः ।" इत्यमरः । यद् — धनमितिशेषः । फलं — कररूपेण लब्धं यद्धनम् उत्तिष्ठति — प्राप्तो भवति । उत्पद्यते वा । तत्क्षयि — शस्यादिकरभूतमचिरस्थायि । आरण्यकाः = अरण्यनिवासिनः तपस्विनः । हि — निश्चयेन । नः — अस्मभ्यं राजभ्य इत्यर्थः । अक्षय्यं — अविनाशिनं । तपः — सञ्चितधर्मस्य, षडभागं — षष्ठांशम् । ददति अप्रत्यक्षरूपेण अपयन्ति ।

अत्र व्यतिरेकालंकारः, अनुष्टुप् छन्दः ॥१३॥

अध्याक्रान्ता ...... केवलं राजपूर्वः ॥१४॥

अमुना अपि — राज्ञा दुष्यन्तेनापि । सर्वभोग्ये — वनितासम्भोगादिभोगास्पदे अन्यत्र धार्मिकजनाश्रयणीये । आश्रमे - गृहस्थाश्रमे, पक्षे, तपोवने आश्रमो व्रतिनां मठे" इति हेमः । वसतिः — स्थितिः, अध्याक्रान्ता — अङ्गीकृता, रक्षायोगात् — रक्षायाः योगः — उद्योगो रक्षायोगस्तस्मात् रक्षायोगात् — प्रजापरिपालनादित्यर्थः पक्षे शरीररक्षार्थं योगः अष्टाङ्गः । प्रागुक्तरूपस्तस्मात् — तदर्थम् । अयमपि — मुनिरिव । प्रत्यहं - प्रतिदिनम् । तपः — कृच्छ्रचान्द्रायणादि — पक्षे लोकोत्तरं धर्मञ्च । संचिनोति — अर्जयति । अस्य वशिनः अभी — संयमिनोऽपि । चारणद्वन्द्वगीतः — चारणानां स्तुतिपाठकानां, द्वन्द्वं स्त्रीपुंसयुगलं तेनगीतः कीर्त्तितः सन्नित्यर्थः । चारणास्तुकुशीलवा इत्यमरः । केवल — एकमात्रम् । राजपूर्वः — राजापूर्वं यस्य स राजपूर्वो मुनिः । इतिः । पुण्यः — पवित्रः, शब्दः एतादृशपवित्रा शब्दः । मुहुः — भूयः द्यां — स्वर्गम् । स्पृशति = प्रयाति । पक्षे ब्रह्मचारिभिश्चारितः पठनावसरे ब्रह्म-त्वादस्तथा मुनिशब्दो अन्तरिक्षपर्यन्तचरो भवति ।

अत्र श्लेषव्यतिरेकालंरौ । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥

नैतच्चित्रं ...... पौरुहूते च वज्रे ॥१५॥

यत् नगरपरिघं प्रांशुबाहुः = नगरस्य परिघ इव प्रांशू = प्रलम्बौ बाहू यस्यासौ पुरद्वारार्गलदीर्घभुजदण्डः, अयम् = दुष्यन्तः एकः = एकाकी, उदधिश्यामसीमाम् = उदधिना समुद्रेण श्यामा श्यामायमाना सीमा यस्याः सा ताम्, समुद्र मेखला-मित्याशयः, कृत्स्नां - समग्रां, धरित्रीम् = भुवम्. भुनक्ति = पालयति, एतद् चित्रम् = विचित्रम्. न = नैव, हि — यतः, दैत्यैः — दानवैः, बद्धवैराः — एकवैराः, सुरयुवतयः — देवाङ्गनाः अस्य दुष्यन्तस्य, अधिज्ये — मौर्वीयुक्ते, धनुषि — कोदण्डे,

पुरुहूते — इन्द्रसम्बन्धिनिवज्रे — कुलिशे च विजयं — जयं, आवां सत्रे — अभिलषन्ति । पर्यायोक्तकाव्यलिङ्गलुप्तोपमादीपकालङ्काराः, मन्दाक्रान्ताछन्द: ॥१५॥

अनुकारिणि ···पौरवाः ॥१६॥

पूर्वेषां — पूर्वपुरुषाणाम् ययाति पुरुप्रभृतिनृपतीनां । अनुकारिणि — सदृशे । त्वयि — दुष्यन्ते इदं — अस्मद् कथित करणम् । युक्तरूपं — अतिशयेन युक्तं । योग्यमेवेत्यर्थः । पौरवाः — पुरुवंशिनः । आपन्नाभयसत्रेषु — आपन्नाः आपत्प्राप्ताः तेषां यदभयानि तान्येव सत्राणि — यज्ञाः । सीदन्त्यति सत्रम् । 'आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्" इत्यमरः । दीक्षिताः — धृतव्रताः । खाल्वेति प्रसिद्धौ ।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः । श्लोको वृत्तम् ॥१६॥

कृत्ययो···स्रोतोवहो यथा ॥१७

कृत्ययोः — आश्रमपालन-मातृसम्भावनं रूप कार्ययोः. भिन्नदेशत्वात् — भिन्नो देशः स्थानं य योस्ते तयोर्भावस्तस्मात् स्थलभेदात्, मे मम दुष्यन्तस्य, मनः अन्तःकरणम्, पुरः — अग्रे, शैले — पर्वते, प्रतिहतं — व्याहतं, स्रोतोवहो — नद्याः, स्रोतः — प्रवाह, यथा इव, द्वैधी भवति — द्विधा विभक्तं भवति ।

अत्रोपमालंकारः । श्लोकोवृत्तम् ॥१७॥

क्व वयं···गृह्यतां वचः ॥१८॥

वयं — सकलकलाकोविदा नागरिका जनाः इत्यर्थः, क्व — कुत्र, मृगशावैः — हरिणशिशुभिः, समं — सार्धं, एधितः — वर्धितः, परोक्षमन्मथः — परोक्षः प्रत्यक्षं न यतो मन्मथः पुष्पधन्वा (कामः) यस्य स कामकलानभिज्ञः, शकुन्तलारूपं आरण्यको जनः, क्व — कुत्र, अत एव हे सखे ! परिहासविजल्पितं — परिहासेन — कौतुकेन विजल्पितं — विविधं संलापितं, वचः — शकुन्तलानुरागविषयकं पूर्वोक्तं वचनजातम्, परमार्थेन — यथार्थरूपेण, न गृह्यताम् — सत्यतया नावगम्यताम्, प्रायशः परिहास धर्मवचनजातस्यालीकत्वात् — इतिभावः ।

अत्र विषम काव्यलिङ्गालङ्कारौ । वियोगिनी वृत्तं ।

तल्लक्षणं यथा — 'विषमे ससजा गुरुः समे, सभरालोऽथ गुर्वियोगिनी ॥१८॥

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

अथ तृतीयोऽङ्कः

का कथा.....................................विघ्नानपोहति ॥१॥

बाणसन्धाने—बाणस्य संधाने—धनुषि बाणारोपणे। का कथा—किमुच्यते। शरसंधानं नापेक्षत इत्यभिप्रायः। स—दुष्यन्तः। हि—यतः। ज्याशब्देनैव—मौर्वीध्वनिनैव। धनुषः—कोदण्डस्य। हुङ्कारेणैव—'हुम्' इतिक्रोधशब्देनैव। विघ्नान्—उपद्रवान्। यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसानित्यर्थः। दूरतोऽपोहति—अपसारयति। अत्रोत्प्रेक्षोऽलंकारः। अनुष्टुप छन्दः ॥१॥

जाने तपसो वीर्यं..............................नेदं निवर्तयितुम् ॥२॥

तपसो—तपस्यायाः वीर्यं—सामर्थ्यं। जाने—अहमवगच्छामि। जाने इति विश्वासं द्योतयति। तथा च तस्या बलादपहरणे रहः सम्भोगे वा कदाचित्तदवगच्छन् मुनिस्तपसः प्रभावेण मां भस्मासत् करिष्यतीति बलादपहारो रहः सङ्गमो वा न कार्यं इति कार्यरूपः प्रस्तुतार्थः प्रतीयते। सा बाला—युवतिः शकुन्तला। परवती—परतन्त्रा। इति मे—मम विदितम्—अवगतम्। तथापि—पुनरपि। इद—शकुन्तलायामासक्तम्। हृदयं—चेतः। ततः निवर्त्तयितुं—पराधीनाया—अप्रगल्भायाश्च शकुन्तलाया निवारयितुं। अलं—समर्थः, नास्मि—नहि विद्ये।

अत्र आर्या छन्दः। उपमा—अप्रस्तुतप्रशंस चालङ्कारौ ॥२॥

अद्यापि..कथमेवमुष्णः ॥३॥

हे मन्मथ! हे काम! अम्बुराशौ—समुद्रे। और्वः—वाडवाग्निरिव। "और्वस्तु वाडवो वडवानलः" इत्यमरः। हरस्य—रुद्रस्य (शिवस्य) कोपवह्निः—क्रोधोद्भूतकपाललोचनाग्निः। अद्यापि—इदानीमपि, बहुतिथे काले गतेपीत्यर्थः। त्वयि—मन्मथे। ज्वलति—दीप्यते, न निर्वाणतां गत इत्यर्थः। इति नूनं—ध्रुवम्। अन्यथा—नो चेत। भस्मैव अवशेषः; चरमदशा यस्य तथा भूतो भस्ममात्रावशिष्ट इत्यर्थः। त्वं मन्मथः। मद्विधानां—मादृशानां, विरहविधुराणां कृते इति तात्पर्यम्। कथं—केन वा हेतुना। एवं—अनेन प्रकारेण। उष्णः—सन्तापको भवसीत्यर्थः।

अप्रस्तुतप्रशंसारूपकालङ्कारौ।

तव कुसुमशरत्वं..............................वज्रसारीकरोषि ॥४॥

तव—मन्मथस्य वञ्चकस्येत्यर्थः, कुसुमशरत्वं—कुसुमानि पुष्पाणि शराः शायकाः यस्यतस्य भावस्तत्त्वं पुष्पबाणसंज्ञत्वमित्यर्थः, इन्दोः—चन्द्रमसः, शीत-

रश्मित्वं--शीताः रश्मयः किरणा यस्य स शीतरश्मिस्तस्यभावः तत्त्वं हिमांशुसञ्ज्ञत्वमित्यर्थं, इति द्वय---एतदुभयम् । मद्विधेषु = मादृशेषु--विरहेषु विषये, अयथार्थं---विपरीतं दृश्यते, इन्दुः---चन्द्रमाः, हिमगर्भैः--हिमं गर्भेअभ्यन्तरे येषां तैस्तथोक्तैः---मयूखैः रश्मिभिः अग्नि---वह्नि, विसृजति---निशेषेणवर्षति, त्वमपि-मन्मथोऽपि, कुसुमबाणान्-कुसुमान्येव बाणाः शरास्तान्, वज्रसारी करोषि वज्राणां सार इव सारोबलं येषां ते वज्रसाराः तान् वज्रसारान्, अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषीति वज्रसारीकरोषि वज्राणामिव पुष्पाणां काठिन्यमाधाय प्रहरसीत्यभिप्रायः। अत्र काव्यलिङ्गः अप्रस्तुतप्रशंसा विरोधालङ्काराः मालिनी छन्दः । ४॥

शक्यमरविन्दसुरभिः·································पवनः ॥५॥

अनङ्गतप्तैः---अनङ्गेन स्मरेण तप्तैः संतप्तैः कामजनितदाहवद्भिरित्यर्थः। अङ्गैः---शरीरावयवैः, अरविन्दसुरभिः---अरविन्दैः---अम्भोरुहैः सुरभिः सुगन्धिः सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवद् सुरभिः स्मृतः इति विश्वः, मालिनीतरङ्गाणां मालिन्यानाम नद्यास्तरंगाणां वीचीनां, कणवाही---जलबिन्दुधारी, पवनः वनमारुतः, गाढं यथास्यात्तथा, आलिङ्गितुं - परिसेवितुं. शक्यम् - योग्यम् । अत्र "आलिङ्गितुं शक्यः" इति कर्मणो लिङ्गानुरोधात् 'शक्य' इति पुल्लिङ्ग प्रयोक्तव्ये महाभाष्यप्रयोगपद्धतिमनुसृत्य 'शक्यम्' इति समाम्ये नपुंसकम् ।

अत्र समाहितसमासोक्तिचालंकारो । आर्याछन्दः ॥५॥

अभ्युन्नमताः·······································अभिनवाः ॥६॥

अस्य---लतामण्डपस्य, पाण्डुसिकते--- पाण्डवो धवलाः सिकता यत्र तस्मिन्, द्वारे-प्रवेशपथि पुरस्तात्-अग्रभागे, अभ्युन्नता-समुन्नता, जघनगौरवात् कटिप्रदेशस्य गौरवात् पश्चात्---पृष्ठतः पार्ष्णिदेशे, अवगाढ़ा---निम्ना, अभिनवा सद्यः पतिता, पदपंक्ति---चरणचिह्नानां पंक्ति, दृश्यते---अवलोक्यते ।

अत्र स्वभावोक्तिरलंकारः आर्या छन्दः ॥६॥

स्तनन्यस्तोशीरं·················· ···युवतिषु ॥७॥

कामा---प्रियायाः = कान्तायाः शकुन्तलायाः । साबाधम् - आसमन्तातात् बाधया पीडया सहितम् । स्तनयस्तोशीरं-स्तनयोः कुचयोः न्यस्तं तापोपशमनाय दत्तं उशीरं नलदानुलेपां तत्राहृतम् । शिथिलितमृणालैकवलय --- शिथिलम् सजातं मृणालस्य कमलनालस्य पत्रवलयं यत्रतद् । इदं---पुरोऽवलोक्यमानम् । वपुः---शरीरम् । किमपि---लोकोत्तर चमत्कारकारि । कमनीयम् मनोहरम् । सोमपि त्वनुयतो । "निकामानुमतो कामम्" इत्यमरः । मनसिजनिदाघप्रसरयो---मननौयसिजः---स्मरः निदाघः---ग्रीष्मः तपोः प्रसरो वेगोः तपोः । समः---तुल्यः । ताप

—परिताप: । ग्रीष्मस्य तु—निदाघस्य तु । युवतिषु—समारूढयौवनासु तरुणीसु विषये एव—लावण्या विशेषतया परिदृश्यमानं, सुभगम्—सौन्दर्याधायकत्वात् तत्सम्भावकम्, अपराद्धं न—तापदुःखप्रदत्वादपराध: न भवति, तेन पुष्पधन्वाविहित एवाय परिताप इतिभाव:, "तु स्याद्भेदेऽवधारणे" इत्यमर: ।

व्यतिरेकोऽप्रस्तुतप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना विशेषोक्ति, अनुमानालङ्काराश्च । शिखरिणी वृत्तम् ।।७।।

क्षामक्षाम ....लता माधवी ।८।।

आननम्—शकुन्तलाया मुखम् । क्षामक्षामपोलम्–क्षामक्षामौ अतिशयेन क्षीणौ —कपोलौ—गण्डौ यस्य तत्तथाभूतम् । उर:–वक्ष: । काठिन्यमुक्तस्तनम्–काठिन्ये न दाढ्यन मुक्तौ स्तनौ यत्र तज्जातम् । मध्य: मध्यभाग: क्लान्ततर:—नितरां दुर्बल: । अंसौ स्कन्धौ । प्रकामविनतौ–प्रकाम-अत्यधिकं यथास्यत्तथा विनतौ-अवनतौ, जातौ । छवि:—देहद्युति:, पाण्डुरा—श्वेतवर्णा (अतएव) मदनकिलष्टा—मदनेन स्मरेण, क्लिष्टा बाधिता । इय –शकुन्तला । पत्राणां—पर्णानां, शोषणेन—शोषणकर्म-कारिणा । मरुता—पवनेन । स्पृष्टा: बधिता । माधवी लता इव—अतिमुक्तलतेव । शोच्या च शोचनीया च । प्रियदर्शना च—प्रियं मनोज्ञं दर्शनं यस्या सा तथा भूता च । आलक्ष्यते –परिदृश्यते ।

अत्रोपमानुप्रासकाव्यलिङ्गविरोधाभासश्चालंकारा: । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।८।।

पृष्टा जनेन...गतोऽस्मि ।।९।।

समदु:खसुखेन—समं तुल्यं दु:खसुखं यस्य तेन । जनेन—अनसूयाप्रियंवदा लक्षणेन सखीद्वयेन । इति । पृष्टा—आधिहेतुप्रकाशनाय जिज्ञासिता । इयं बाला-मुग्धा शकुन्तला । मनोगतं—चेतसि वर्त्तमानम् । आधिहेतुं – मनस्तापस्य निदानम् । "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमर: । न वक्ष्यति - वदिष्यतीति न । अपि तु वदिष्यत्येव । एतदर्थमेव न द्वयम् । किन्तु—अनया—बालया शकुन्तलया । बहुश:—असकृत् । विवृत्य -आननं परावृत्य । सतृष्णं – सस्पृहं यथा स्यात्तथा "तृष्णे स्पृहा पिपासे द्वे" इत्यमर: । दृष्टोऽपि—अवलोकितोऽपि । अत्र–सखीप्रश्ने । अन्तरे—अवसरे । श्रवणकातरतां — श्रवणे—श्रवणविषये, कातरतां — किमेषा वक्ष्यतीत्यधीरताम् । गतोऽस्मि —प्राप्तोऽस्मि । "निवृत्य" इति पाठेऽपि स एवार्थ: ।

अत्र काव्यलिङ्गालंकार: । वसन्ततिलका वृत्तम् ।।९।।

स्पर एव......... ....जीवलोकस्य ।।१०।।

तपात्यये - तपस्य-ग्रीष्मस्य, अत्यये–अपगमे, वर्षारम्भइत्यर्थ: । जीवलोकस्य–प्राणिवर्गस्य : अर्द्धश्याम:—अर्द्धे अपराह्णे अपराह्न इत्यर्थ: श्याम:—सच्छाय:, पूर्वार्द्धे

सातपत्वादिति भावः । दिवस इव । मे—मम । स्मरः एव—मन्मथः एव । तापहेतुः—सन्तापस्य उत्पादकः । स एव—स्मर एव । निर्वापयिता—तापस्य शमयिता । जात इति शेषः । अस्या अपि अनुरागमुत्पाद्य तच्छ्रावणेनेति भावः ।

अत्र विरोधाभासोपमा चालंकारौ । आर्या छन्दः ॥१०॥

इदमशिशिरैः ... ... प्रतिसार्यते ॥११॥

निशि निशि — प्रतिरात्रम् । भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः — भुजे न्यस्तः स्थापितो योऽपाङ्गो नेत्रप्रान्तस्तस्मात् । प्रसरतीति तैः । अन्तस्तापात्—हृदयस्थित तापात् । आशिशिरैः—अत्यन्तमुष्णैः । अश्रुभिः—नयनजलकणैः । विवर्णमणीकृतम् —विवर्ण—मलिना मणयो रत्ननिचयो यत्र तद् विवर्णमणि, अविवर्णमणि—विवर्णमणि कृतं—सम्पादितमिति विवर्णमणीकृतम् । अनभिलुलित ज्याघाताङ्कम् अनभिलुलितो—अस्पृष्टो ज्याघ्रा तस्य धनुर्गुणघर्षणस्य अङ्कश्चिह्नं येन तद् । इदं कनकवलयं—सुवर्णकटकम् । स्रस्तं स्रस्त—वारं वारम् स्खलितं सन् । मया दुष्यन्तेन । मणिबन्धनात्—मणेर्बन्धनं यत्र मणिबन्धनं तस्मात् । मुहुः—भूयोभूयः । प्रतिसार्यते—ऊर्ध्वं नीयते ।

अत्र स्वभावोक्तिरलंकारः । हरिणी वृत्तम् ॥११॥

अयं स ते ... ... भवेत् ॥१२॥

भीरु । वृथा भीतितरले, यतः—यस्मात् जनात्, अवधीरणाम्—अवहेलाम्, विशङ्कसे—वितर्कयसे, सोऽयं दुष्यन्तः । ते सङ्गमोत्सुकः—तव, सङ्गमे—सम्मेलने, उत्सुकः—उत्कण्ठितः सन्, तिष्ठति—त्वदाज्ञामत्रमपेक्षत इत्यर्थः । प्रार्थयिता—याचकः, श्रियं—लक्ष्मीं लभेत वा नवा—प्राप्नुयाद्वा न वा, श्रिया—लक्ष्म्या, ईप्सितः—आप्तुमिष्टः श्री कामो मनुष्यः, कथं दुरापः—दुर्लभः, भवेत्, कथमपि न भवेदित्यर्थः, ममैव त्वदुपलब्धौ शङ्कोचिता, न तु तव मदुपलब्धाविति भावः ।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः ; वंशस्थं वृत्तम् ॥१२॥

उन्नमितैक ... ... कपोलेन ॥१३॥

पदानि—मदनलेखयोग्यान् सुबन्तादिप्रयोगान्, रचयन्त्याः—ऊहापोहाभ्यां स्मरलेखे निवेशयन्त्याः, अस्याः शकुन्तलायाः, उन्नमितैकभ्रूलतम्—उन्नमितैका-उत्क्षिप्तैका, भ्रूलता यत्र तत्, आननम्—वदनम्, कण्टकितेन—रोमाञ्चितेन, कपोलेन—गण्डमण्डलेन, मयि—दुष्यन्ते, अनुरागं—प्रीतिम्, प्रथयति—कथनेनैव स्पष्टं प्रकाशयति ।

अत्र [illegible] ... अलंकारौ ॥१३॥

तव न जाने... .. .. अङ्गानि । १४।।

व्याख्या — निर्घृण, निष्कृप, घृणाजुगुप्सा—कृपयोः इति विश्वः। तव हृदयं= चेतः, न जाने—न अवगच्छामि, पुनस्त्वपि, वृत्तमनोरथानि—वृत्तः संजातः—मनोरथः—अभिलाषः येषां तानि, मम—मे, अङ्गानि—गात्राणि, कामः—मदनः, दिवाऽपि – दिवसेऽपि, रात्रौ अपि—निशिथेऽपि, अनवरतमित्यर्थः, बलीयं - अत्यधिकं, तपति—पीडयति ।

काव्यलिङ्गानुप्रास, समासोक्ति रूपकाश्चलङ्काराः । १४।।

तपति तनु......... ....दिवसः । १५।।

हे तनुगात्रि !—तनूनि कृशानि गात्राणि यस्या सा तत्सम्बुद्धौ, हे कृशाङ्गी ! मदनः—मन्मथः, त्वां—शकुन्तलां, अनिशं—अनवरतं, तपति—पीडयति, मां पुनः —मां तु, दहत्येव—भस्मीकरोति, दिवसो यथा शशाङ्कं—चन्द्रं, ग्लपयति—क्षीणं करोति, कुमुद्वतीं—कुमुदिनीं, न तथा—न हि तथा ।

अत्र दृष्टान्तोऽलंकारः; आर्या छन्दः ।।१५।।

संदष्ट.......... ....अर्हन्ति ।।१६।।

संदष्टकुसुमशयनानि—संदष्टं ग्लानतया स्वेदार्द्रतया च, संश्लिष्टं कुसुमशयनं —पुष्पशय्या येषु वा यैस्तानि, आशुक्लान्तविसभङ्गसुरभीणि—मनोज्ञानि—अ शुघ्रं क्लान्तैर्मलिनीकृतैर्बिसभङ्गैः, मृणालखण्डैः सुरभीणि मनोज्ञानि— गुरुतापानि —गुरुरधिकः परितापो येषां तानि, ते—तव, गात्राणि—अङ्गानि—उपचार— सत्कारं नार्हन्ति—कर्तुं नोचितानि भवन्तीत्यर्थः ।

अत्र काव्यलिङ्गपरिकरालङ्कारौ । आर्या छन्दः ।।१६।।

हृदयमन्य.. .....   हतः पुन ।।१७।। ।

हे हृदयसन्निहिते !—हृदये मम चेतसि सन्निहिते —स्थिते; यदि—हृदयसन्निहिताऽपि । त्वम् । अनन्यपरायणं—अन्यत परायणं आश्रयो यस्य तदन्यपरायणं न अन्यं परायणं अनन्यपरायणं=त्वदधीनं । मम इदं हृदयं, अन्यथा—अन्यनिष्ठं । समर्थयसे—कलयसि । तदाहे मदिरेक्षणे —मदिरे—मदयुते ईक्षणे नयने यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, मदनबाणहतः—मदनस्य स्मरस्य, बाणेनशरेण, हतः—बिद्ध (अहं) पुनर्हतोऽस्मि—सर्वथैवहतोऽस्मीत्यर्थः ।

अत्र काव्यलिङ्गपरिकाश्चालङ्कारौ। द्रुतविलम्बितं वृतम् ।।

परिग्रह .... युवयोरियम् ।।१८।।

परिग्रहबहुत्वेऽपि=परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः ललनाः तासां बहुत्वेऽपि 'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकार मूलयोः' इति विश्व; मे=मम, कुलस्य—वंशस्य;

द्वे—इमौ द्वौ परिग्रहावित्यर्थः, प्रतिष्ठे—प्रतिष्ठाहेतू समुद्रवसना—समुद्रः सागरः वसनः आच्छादनं यस्याः सा । उर्वी—पृथिवी । "वसनं छादनेऽशुंके" इति विश्वः; युवयोः इयं=एषा । सखि—शकुन्तला च ।

अत्र तुल्ययोगिताऽतिशयोक्तिश्चालंकारो, श्लोकोवृत्तम् ॥१८॥

किं ....पद्मताम्रौ ॥१९॥

हे करभोरु ! करभ इव ऊरु यस्या सा तत्सम्बुद्धौ । किं शीतलैः । क्लमविनोदिभिः=क्लम शरीरसन्तापं विशेषेणमर्दयितुं—हन्तुं शीलं येषां ते तैः । नलिनीदलतालवृन्तैः=नलिन्याः—पद्मलतायाः दलं पत्रमेव तालवृन्तं व्यजनम् तैः । आर्द्रवातान्=शीतलतरपवनान् । संचारयामि—आन्दोलयामि । किमितिप्रश्ने । उत अथवा ते तव । पद्मताम्रौ—पद्ममिवताम्रौ रक्तवर्णौ—चरणौ पादौ । अङ्के=क्रोडे t निधाय—संस्थाप्य । यथा—येन विधिना । ते=तव । सुखं—आनन्द । संवाहयामि—मर्दयामि 'संवाहनं मर्दनं स्यात्" इत्यमरः । मर्दनेन क्लेशमपनयामीत्यर्थः ।

अत्र काव्यलिङ्गं परिकरश्चालंकारौ । उपमापरिणामौचापि । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१९॥

उत्सृज्य··· ....परिबाधा पेलवैरङ्गैः ॥२०॥

नलिनीदलकल्पितस्तनावरणं—नलिनीदलैः—कमलिनीपत्रैः कल्पितं—सुष्ठु निर्मितं स्तनयोः कुचयोः आवरणं आच्छादनं यस्मिन् तत् । कुसुमशयनं=पुष्पशय्यां । उत्सृज्य=अपहाय । परिबाधापेलवैः=परिबाधा पीडा तया पेलवैः कोमलैः । अङ्गैः=अवयवैः । आतपे—घर्मे; कथं गमिष्यसि—असामर्थ्यात् कथमपि गन्तुं न शक्ष्यसीत्यर्थः ।

अत्र काव्यलिङ्ग परिकरश्चालंकारो; आर्या छन्दः ॥२०॥

गान्धर्वेण........ — ...... — .... — ...अभिनन्दिता ॥२१॥

बहव्यः=अनेकाः, न तु द्वित्राः, राजर्षिकन्यकाः=तापसकुमार्यः, गान्धर्वेण विवाहेन: गान्धर्वविवाहरीत्या, परिणीताः=पुरुषैः समूढा परिणीता, विवाहं प्राप्ता वा, श्रूयन्ते । ताः च=राजर्षिकन्याः, पितृभिः=तद्गुरुजनादिभिश्च, अभिनन्दिता=अनुमोदिता ।

'गान्धर्वो नाम विवाहो धर्मशास्त्रोद्दिष्टेष्वन्यतम' उक्तं च याज्ञवल्क्ये—गान्धर्वः समयान्मिथः । श्लोकोवृत्तम् ॥२१॥

अपरिक्षत .... रसोऽस्य ॥२२॥

हे सुन्दरि ! हे कान्ते ! यावत्=यावत्कालपर्यन्तं, षट्पदेन=भ्रमरेण, अपरिक्षतकोमलस्य – न परीक्षतं यस्य तदपरिक्षतम्, अपरिक्षतं च तत्कोमलं अपरिक्षतकोमलं तस्य, नवस्य=नूतनविकसितस्य, कुसुमस्य– पुष्पस्य, इव, पिपासिता= पातुमभिलषता, मया – दुष्यन्तेन, ते – तव, अस्याधरस्य – रतिसर्वस्वस्य, रसः= आस्वादः, सदयं – दययायुतं, मन्दं मन्दमित्यर्थः, गृह्यते=आदीयते, 'अपरिक्षतकोमलस्य' इति विशेषणमधुरपक्षेऽपिसंयोजनीयम्, अपरिक्षतश्चासौ कोमलश्च तस्य, केनाप्यनास्वादित पूर्वस्येत्यर्थः ।

अत्रोपमालंकारः ; मालभारिणी वृतम् ॥२२॥

मुहुरङ्गुलि .... न चुम्बितं तु ॥२३॥

पक्ष्मलाक्ष्याः – पक्ष्मले प्रशस्तपक्ष्मणी, अक्षिणी=नेत्रे यस्यास्तस्याः, मुहुः– बारम्बारम्, अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् – अङ्गुलिभिः संवृतः—मत्कर्तृक चुम्बनप्रतिषेधकरणाय आवृत्तः, अधरोष्ठः – निम्नोष्ठो यत्र तत्, प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामं – प्रतिषेधाक्षरैः 'मा' मा, इति चुम्बननिषेधबोधकोच्चरितवर्णैः ; विक्लवं – विह्वलं, तथापि अभिरामं – मनोज्ञम्, अंसविवर्त्ति–अंसे–स्कन्धोपरिभागे विवर्त्तते— चुम्बनातङ्कात् तद्रक्षणायैव लज्जयैव वा परावर्तत इति अंसविवर्त्ति, मुखं—वदनम्, कथमपि– कृच्छ्रेण उन्नमितं – नयनपरिष्करणापदेशेन चुम्बनार्थमुत्तोलितम् ऊर्ध्वीकृतं वेति, न तु चुम्बितम् – न तु चुम्बनं विहितम्, तु पश्चात्तापे ।

अत्र स्वभावोक्ति काव्यलिङ्गश्चालङ्कारौ; मालभारिणी वृत्तम् ॥२३॥

तस्यो .... शून्यादपि ॥२४।

इयं––पुरोदृश्यमाना । शिलायाम्––पाषाणपट्टे । तस्याः––प्रेयस्याः । शरीरलुलिता=शरीरेण देहेन लुलिता––मर्दिता । पुष्पमयी=पुष्पप्रस्तुता । शय्या= तल्पम् । एषः––पुरास्थितः । नलिनीपत्रे=पद्मलतापत्रे । नखैः—करजैः । अर्पितः= उत्कीर्णः । क्लान्तः=म्लानः । मन्मथलेखो=मदनलेखः । प्रणयपत्रमित्यर्थः : । इदं =पुरतो दृश्यमानं । हस्तात् भ्रष्टम्=पतितं । बिसाभरणम्=मृणालवलयं । इति =आसज्यमानेक्षणः=आसज्यमाने लग्ने ईक्षणे नेत्रे यस्य । शून्यात् अपि—तथा

विरहितादपि। वेतसगृहात्=लतामण्डपात्। सहसा – अकस्मात्, निर्गन्तुं=निर्यातु। न शक्नोमि=समर्थो नास्मि।

अत्र विभावना विशेषोक्तिश्चालंकारौ; शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२४॥

सायन्तने........ – .... – ......पिशिताशनानाम् ॥२५॥

सायन्तने=सायं सन्ध्यायां भवे सायन्तने सांध्ये। सवन कर्मणि=यजनकर्मणि, अग्निहोत्रे इत्यर्थः, संप्रवृत्ते=प्रारब्धे सति, हुताशनवतीं=अग्निहोत्राग्निव्याप्ताम्. इदं छायोपलक्ष्यर्थमिदम्, वेदीं परितः=यज्ञभूमेश्चतुर्षु पार्श्वेषु इत्यर्थः। "अभितः परितः समया" इति परितः शब्दयोगे द्वितीया। प्रयस्ताः=इतस्ततः=विकीर्णाः, सन्ध्यापयोदकपिशाः=सन्ध्यायां=सायं समये ये मेघास्तद्वतु कपिशाः पिङ्गलाः, भयमादधानाः भीतिं कुर्वाणाः। पिशिताशनानाम्–राक्षसानां छायाः=प्रतिबिम्बानि, बहुधा=अनेकशः, चरन्ति=इतस्ततोभ्रमन्ति गतागतं कुर्वन्तीति यावत्। राघवभट्टस्तु=छायाः पङ्क्तयः, इति व्याचष्टे।

काव्यलिङ्गमुपमाचालङ्कारौ। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२५॥

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

अथ चतुर्थोऽङ्कः

विचिन्तयन्ती ... ... कृतामिव ॥१॥

नास्ति अन्यस्मिन् दुष्यन्ताद्व्यतिरिक्ते विषये मानसं मनो यस्याः सा, अनन्य-मानसा=एकाग्रचित्ता, यं=पुरुषं, विचिन्तयन्ती—विशेषेण विविधं भावयन्ती सती, उपस्थितम्=आतिथ्यलाभाय स्वयमेवसमक्षमागतम्, तपोधनं=तप एव धनं यस्य तं, तपसामाधारभूतम्। मां—दुर्वाससम्, न वेत्सि=मयाप्रबोध्यमानाऽपि न अवगच्छसि, प्रमत्तः=प्रकृष्टोमत्तः, अनावधानोजनः, "प्रमादोऽनवधानता" इत्यमरः। प्रथमं पूर्वं कृताम्=उक्ताम्, कथाम् इव=वाचमिव, बोधितोऽपि=स्मारितोऽपि, त्वां=शकुन्तलां, न स्मरिष्यति=विहितसम्पर्कतया—नानुभविष्यति।

अत्र काव्यलिङ्गोपमाश्लेषा अलङ्काराः। वंशस्थं वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ॥१॥

यात्येकतोऽस्त ... ... दशान्तरेषु ॥२॥

एकतः—एकस्यां दिशि पश्चिमदिग्भागे इत्यर्थः। ओषधीनां पतिः=चन्द्रमा, अस्तशिखरं अस्तस्य-चरमाचलस्य शिखरं चूडाम्, "अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत" इत्यमरः, याति=व्रजति, एकतः—एकस्यां दिशि, पूर्वस्याम् इत्यर्थः। अरुणपुरः सरः=अरुणोऽनूरुः सूर्यसारथीः पुरः सरोऽग्रगामी यस्य सो, अर्कः=सूर्यं, आविष्कृतः—प्रकटीभूतः, तेजोद्वयस्य=चन्द्रसूर्ययोरित्यर्थः। युगपद=एकदा, समकालमेवेत्यर्थः, व्यसनोदयाभ्यां, अस्तोदये गमनाभ्याम्=विपत्सम्पद्भ्यां च। "व्यसनं विपदि भ्रंशे" इत्यमरः। लोकः—जनः, आत्मदशान्तरेषु=स्वदुःखसुखात्मकावस्थाविशेषेषु। नियम्यत इव=उपदिश्यत् इव। अत्र इवेत्युत्प्रेक्षायाम्, वसन्ततिलका वृत्तम्। समासोक्तिकाव्यलिङ्गार्थान्तरन्यासालङ्काराश्च ॥२॥

अन्तर्हिते ... ... सुदुःसहानि ॥३॥

शशिनि=सुधाकरे, अन्तर्हिते=व्यवहिते विदेशं प्रस्थितेसति, 'अन्तर्धा व्यवधा इत्यमरः', सा-एव=या पूर्वं विकसितकुसुमादर्शनीयशोभाऽऽसीत् सैवेत्यभिप्रायः, कुमुद्वती=कुमुदिनी, संस्मरणीयशोभा=केवलं स्मरणीया शोभा, सौन्दर्यं यस्या सा तादृशी, विनष्टकान्तिरित्यर्थः, तथा (सती) मे=मम तापसस्य, दृष्टिं=नेत्रम्, न नन्दयति=आत्मसौन्दर्येण न प्रीणयति नूनं=निश्चितम्, अबलाजनस्य=महिला-जनस्य, स्त्रीसमुदायस्येत्यर्थः, इष्टप्रवासजनितानि=इष्टस्य=वल्लभस्य, प्रवासेन=देशान्तरगत्या विरहेणेतियावत्, जनितानि=उत्पादितानि, दुःखानि=कष्टानि,

अतिमात्रदुःसहानि=अत्यन्तमेव दुरुद्वहानि, भवन्तीति शेषः।

अत्र पूर्वार्धे समासोक्ति, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास अलङ्काराः। वसन्ततिलकावृत्तम्। तल्लक्षणम्— 'उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौ गः ॥३॥

कर्कन्धू........ . .. —. ....आयच्छमानः ॥४॥

अग्रसंध्याः=अग्रया=प्राथमिकी चासौ संध्येतिविग्रहः, प्रातः संध्येत्यर्थः, कर्कन्धूनाम्=बदरीणाम् उपरिपतितत्वा स्थितमिति शेषः, तुहिनं=हिमम् रञ्जयति – आत्मनो रक्तवर्णत्वेन सरागी करोति, तथा विगता निद्रा यस्य येन वा स तथोक्तः, मयूरः=बर्ही, दार्वं=दर्वैः कुशैः निर्मितम्, उटजपटल – पर्णशालायाः पटलं, मुञ्चति त्यजति, तथा, खुरविलिखितात्=अल्पखनितात्, वेदिप्रान्तात् वेदिपरिसरप्रान्तदेशात्, उत्थितः एष हरिणश्च, सद्यः=उत्थानक्षणे, स्वाङ्गं=निजपृष्ठचरणाद्य आयच्छमानः प्रसारयन् सन्, पश्चात्=तदन्तरम्, उच्चैः=दीर्घदेहो भवति।

अत्र स्वभावोक्ति तद्गुणालङ्कारश्च। मंदाक्रान्ता वृत्तम्। तल्लक्षणम् यथा—
'मन्द्राक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौतौ ययुग्मम्' ॥४॥

दुष्यन्तेनाहितं — .... — — ...... — .... शमीमिव ॥५॥

हे ब्रह्मन्=विप्र, दुष्यन्तेन=राज्ञा, आहितम्=निषिक्तम्, तेजः=वीर्यम् भुवः भूतये=पृथिव्याः कल्याणाय, दधानाम्=धारयन्तीम्, तनयां=पुत्रीं शकुन्तलाम्, अग्निगर्भा=अग्निर्गर्भे अभ्यन्तरेयस्यास्तां तथोक्ताम् शमीमिव=तन्नाम्नीं लतामिव, अवेहि=जानीहि। अत्र श्रौतोपमालङ्कारः; अनुष्टुप् वृत्तम् ॥५॥

क्षौमं ...... — — ..... – ....प्रतिद्वन्द्विभिः" ॥६॥

केनचित्तरुणा=वृक्षेण, इन्दुपाण्डु=इन्दुवत्–चन्द्रमण्डलवत् पाण्डु-सितपीतम्, यद्वा इन्दुवत् चन्द्रवत् पाण्डु शुभ्रवर्णम्, अनेन नैर्मल्यातिशयः तेन मनोहरत्वं च व्यज्यते, माङ्गल्यं=मङ्गलकर्मणिसाधु, क्षौमं=दूकूलम्, आविष्कृतम्=स्वदेहान्निस्सार्य समर्पितम्, केनचित्=वृक्षेण, चरणोपभोगसुलभः = चरणयो पादयोः उपरागः, रञ्जनं तत्र सुभगः=सुन्दरः उचितो वा, लाक्षारसः=अलक्तकद्रवः, निष्ठ्यूतः=दत्तः, तथा अन्येभ्यः=वनदेवताधिष्ठितेभ्यो वृक्षान्तरेभ्यः सकाशात् आपर्वभागोत्थितैः=आपर्वं भागं – मणिबन्धपर्यन्तं मर्यादीकृत्य उत्थितैः उद्गतैः मणिबन्धपर्यन्तं बहिर्निस्सृतैरित्यर्थ, किसलयोद्भेद प्रतिद्वन्द्विभिः = किसलयानां – पल्लवानां–छायां कान्ति परिस्पर्द्धन्ते अनुकुर्वन्तीति तच्छीलैः, पल्लवशोभानुकारिभिरित्यर्थः वनदेवताकरतलैः=वनदेवतापाणिभिः, आभारणानि –नानाविधालङ्करणाणि,

दत्तानि = समर्पितानि, शकुन्तलार्थमिति भाव: ।

उपमालङ्कार:, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—
"सूर्याश्वैर्यदि म: सजौ सततगा:" ।

यास्यत्यद्य ········ · ······ – ··· ······ – – ···दुखैर्नवै: ।७।

अद्य–अस्मिन् दिवसे, शकुन्तलायास्यति, भर्तृगृहं गमिष्यति, इति हेतो:, हृदयम्—मम मन:, उत्कण्ठया = उन्मनस्कतया, संस्पृष्टम्–सम्यक् स्पृष्टम्, कण्ठ:— स्वर:, स्तम्भिता अवरुद्धा बाष्पाणामश्रूणां वृत्ति:— व्यापार: कलुष:— अस्वच्छ: अस्पष्ट इत्यर्थ:, दर्शनं = दृष्टि:, चिन्तया—शकुन्तलावियोगभावनया, जडं— विषयग्रहणाक्षमम्, अरण्योकस: = अरण्यं वनमेव ओक: आवासो यस्य तस्यापि, मम = कण्वस्य, तावत् स्नेहात् = प्रेम्ण: कारणादिदमनुभूयमानमीदृशमनिर्वचनीयम्, वैक्लव्यं = विह्वलता, तदा ग्रहिण: = गृहाश्रमिणो जना:, विषयासक्ता इत्यार्थ:, नवै:— नूतनै: तनयाया:— कन्याया:, विश्लेषदु:खै विच्छेदजकष्टै:, कथं न पीड्यन्ते = विडम्ब्यन्ते । व्यतिरेकालङ्कार: । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥७॥

ययातेरिव ······ · ··· ··· ·· ······ ······अवाप्नुहि ॥८॥

(वत्से) ययाते: = ययातिर्नाम सोमवंशीय: कश्चिद् राजा तस्य, शर्मिष्ठा— तन्महिषी वृषपर्वदुहिता, इव, भर्त्तु: = पत्यु:, बहुमता = अत्यादरपात्रीभूता, भव, सा = शर्मिष्ठा, पुरुं = पुरु नामानं पुत्रमिव, त्वमपि सम्राजं = चक्रवर्त्तिनं, सुतम् = पुत्रम्, अवाप्नुहि = प्राप्नुहि । अत्रोपमालंकार: । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥८॥

अमी वेदिं ················· ··· – ··· – ·······– पावयन्तु ॥९॥

अमी = समक्षेऽवलोक्यमाना, वेदिं परित: = यज्ञभूम्या: समन्तात्, क्लृप्तधिष्ण्याया = क्लृप्तानि-विर्मितानि, धिष्ण्यानि = स्थानानि, येषां यैर्वा ते तथोक्ता:, 'धिष्ण्यं स्थान गृहेभेग्नौ' इत्यमर:, समिद्वन्त: = ससमिध:, प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा: = प्रान्तेषु–अग्ने: समन्तात्, संस्तीर्णा = विकीर्णा:, दर्भा: = कुशा: येषां ते तथाभूता:, हव्यगन्धै: = देवतोद्देशेन प्रक्षिप्ताज्यादिगन्धै:, दुरितम् = पापम्, अपघ्नन्तो नाशयन्तो, वैताना = वितानस्य इमे इति वैताना, यज्ञसम्बन्धिन इत्यर्थ:, वह्नय: = गार्हपत्यादयस्त्रिविधा अग्नय:, त्वां पावयन्तु = पवित्रां कुर्वन्तु । अत्र परिकरालङ्कार: ॥९॥

पातुं न ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ······ ··· ··· सर्वैरनुज्ञायताम् ॥१०॥

या — शकुन्तला, युष्मासु-अपीतेषु = तपोवनतरुषु, न विद्यते पीतं = पानं येषां ते अपीता: तेषु, प्रथमं = आदौ, जलं पातुं न व्यवस्यति — न प्रवर्त्तते, या प्रियमण्डनाऽपि = प्रियं, प्रीतिकरं, मण्डनं = भूषणं यस्या: सा तथोक्ता अपि अलंकारप्रिया इत्यर्थ:, शकुन्तला, स्नेहेन = प्रीत्या, भवतां = तपोवनतरूणाम्, पल्लवं = नूतनं

किसलयम्, नादत्ते = न गृह्णाति, वः = युष्माकम्, आद्ये = आदौ, कुसुमप्रसूतिसमये = पुष्पोत्पत्तिकाले, यस्याः = शकुन्तलायाः, उत्सवः = आनन्दः, भवति, युष्मान्प्रति-स्नेहाधिक्यादितिभावः, सा — इयं शकुन्तला, पतिगृहं = स्वामीगेहम्, याति = गच्छति, सर्वैः = युष्माभिः सम्भूय, अनुज्ञायताम् = अनुमन्यताम्, पतिगृहयप्राणानुरूपं स्नेहा-नुरूपं चानुमनन क्रियतामित्याशयः ।

अत्र समासोक्ति काव्यलिङ्गाश्चालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥१०॥

अनुमतगमना .... ईदृशम् ॥११॥

वनवासबन्धुभिः = वने सहवासाद् बन्धुताप्राप्तै, तरुभिः = वृक्षैः, इयं = शकुन्तला, अनुमतगमना = अनुमतं – अनुज्ञातं गमनं = पतिगृहं प्रति प्रस्थानं यस्याः सा तथोक्ता – जाता, यथा = यतः, कलं = मनोहरं, परभृतविरुतम् = परभृतानां कोकिलानां, विरुतं = रवः एभिः = तरुभिः, ईदृशम् = प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानम्, प्रति-वचनीकृतम् = प्रत्युत्तरतां प्रापितम् ।

अत्र परिणामोऽलङ्कारः, अपरवक्त्रं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—

अयुजि ननरला गुरुः समे, तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ ॥११॥

रम्यान्तरः ... . शिवश्च पन्था ॥१२॥

अस्याः = शकुन्तलायाः, पन्था = मार्गः, कमलिनीहरितैः = कमलिनीभिः, हरितैः = श्यामलैः, सरोभिः = वापीभिः, तडागैर्वा, अन्तरः = मध्यदेशः, रम्यः = मनोहरम् यस्य स तथोक्तः, छायाद्रुमैः छायाप्रधाना, द्रुमाः छायाद्रुमास्तैः छायावद्भिर्वृक्षैरित्यर्थः, नियमितार्कमयूखतापः = नियमितः – निवारितः = अर्कमरीचीनां = रविकिरणानाम् तापो यत्र सः, "मयूखस्त्विट्करज्वालासु इत्यमरः । कुशेशयरजो मृदुरेणुः = कुशे जले शेरते इति कुशेशयानि, कमलानि तेषां रजोभिः परागैः = इव वा मृदवः = कोमलाः रेणवो यत्र स तादृशः । अनेन चरणानुपघातो व्यज्यते । तथा शान्तः = वेगराहित्यात् सौम्यः मन्द इत्यर्थः । अनुकूलः सुखप्रदः, गमनानुसारी वा पवनो वायुर्यस्मिन् सः । शिवः च — मङ्गलकरश्च, भूयात् ।

उपमा, तद्गुणालङ्कारौ, वसन्ततिलका वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—

"उक्तावसन्ततिलकातभजाजगौ गः" ॥१२॥

उद्गलित ... . लताः ॥१३॥

मृग्यः — हरिण्यः, उद्गलितदर्भकवलाः = उद्गीर्णः — शोकेनमुखान्निर्गलितः — दर्भकवलः — कुशग्रासो याभिस्तादृश्यः मयूराः = बर्हिणः, परित्यक्तनर्त्तनाः = परित्यक्तं वर्जितम् नर्त्तनं नृत्यं यैस्ते तथोक्ताः, लताः — ... अपसृतपाण्डुपत्राः = अपसृतानि,

पतितानि-पाण्डूनि-परिणततया पाण्डुवर्णानि पत्राणि यासां तास्तथा विधाः, सत्यः, अश्रूणि=बाष्पाणि, मुञ्चन्तीव=त्यजन्तीव । समुच्चयः, इवेत्युत्प्रेक्षायाम्, सखीजन व्यवहारसमारोपात् ।

समासोक्तिश्च, इत्येषामलङ्काराणां मिथोनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । आर्या वृत्तम् ॥१३॥

संकलित ······ ······ ··············· ···वीतचिन्तः ॥१४॥

प्रथमम्=यौवनारम्भात् परिणयाद्प्राग्, मया=तपोनिधिना । तवार्थे=त्वन्निमित्तम् एव—हि, संकल्पितम्=मनसा विभावितम्, आत्मसदृशं=स्वगुणानुरूपम्, भर्त्तारं=स्वामिनम्, त्वं=शकुन्तला, सुकृतैः-पुण्यैः, गता—प्राप्ता, इयं=सम्मुखोना, नवमालिका=वनज्योत्स्ना, चूतेन=रसालेन, संश्रितवती—मिलिता । सम्प्रति=इदानीम्, अहम्=कण्वः, अस्यां=नवमालिकायाम् । त्वयि च=त्वद्विषये च, वीतचिन्तः=वीता त्यक्ता चिन्ता—वरयोजनभावना, येन स तादृशः, अनुरूपवरलाभात्—निश्चिन्त इत्यर्थः । अत्र समासोक्तिस्तुल्ययोगिता चालङ्कारौ, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१४॥

यस्य त्वया······ ············ ·········· मृगस्ते ॥१५॥

यस्य=मृगस्य, कुशसूचिविद्धे=कुशानां सूचिभिः सूचिवत्तीक्ष्णाग्रदेशैः, मौग्ध्याद्दर्भाग्रं भक्षयितुं प्रवृत्ते सति—क्षतविक्षतीकृते, मुखे=आनने, व्रणविरोपणम्=क्षतनाशनम्; इङ्गुदीनाम्=तापसतरुफलानाम्, तैलं न्यषिच्यत=निषिक्तम्, दत्तम् इति यावत् । सोऽयं—सम्मुखे दृश्यमानः, श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः=श्यामकानां—तृणधान्यविशेषाणां मुन्यन्नरूपाणां मुष्टिभिः—मुष्टिगृहीतैर्ग्रासैः; परिवर्धितकः—सस्नेहं—पुत्रवत् परिपोषितः पुत्रकृतक—कृत्रिमः पुत्र इति पुत्रकृतक । ते—तव, पदवीं—भर्तृगृहगमनपथं; नजहाति = न परित्यजति । अत्र काव्यलिङ्गमलंकारः ।

वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१५॥

उत्पक्ष्मणोः यो: ·························· ··· विषमीभवन्ति ॥ १६॥

उत्पक्ष्मणोः—उत्—उद्गतानि पक्ष्माणि — रोमाणिययोस्तथाविधयोः; नयनयो=नेत्रयोः; उपरुद्धवृत्ति=प्रतिरुद्धा वृत्तिः दर्शनशक्तिर्येन ते तथोक्तम ; बाष्पं—अश्रु ; स्थिरतया—धैर्यावलम्बेन; विहितानुबन्धम्—विहितः दूरीकृतः; अनुबन्धः—उत्पत्तिः; अविश्रान्तवहनम् इति यावत् यस्य तथा भूतं; कुरु—मा रुदिहीतिभावः; अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे—न लक्षित—न दृष्टः—नतोन्नत-बन्धुरः नीचोच्च इत्यर्थः; भूमिभागः भूमिसन्निवेशो—यस्मि तस्मिन् तथाविधे अस्मिन्—

मार्गे; ते—तव, पदानि—चरणन्यासा खलु, विषमीभवन्ति—स्खलन्ति ।

काव्यालिङ्गमलंकारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१६।

एषा अपि .... साहयति ।।१७।।

एषा अपि=सम्मुखे दृश्यमानाचक्रवाक्यपि, प्रियेण=सहचरेण चक्रवाकेण, विना, विषाददीर्घतरां=विषादेन=दुःखेन दीर्घतरां, रजनीं=निशाम्, गमयति=यापयति, आशाबन्धः=आशया बन्धो, बन्धनम्=प्रियसमागमा इत्यर्थः, गुरु अपि=सुमहदपि, विरहदुःखं=वियोगबलेशम्, साहयति=सह्यं विदधाति।

अत्र अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । आर्यावृत्तम् ॥१७॥

अस्मान् .... वधूबन्धुभिः ॥१८॥

संयमधनान्=संयमः तपः एव धनं येषां तान् तथाभूतान् तपोधनान् इत्यभिप्रायः, अस्मान्=अस्याः अ तपीयान्, आत्मनः=आत्मीयस्य, उच्चैः कुलं च=महत् वंशं च, अस्याः=शकुन्तलायाः, त्वयि=त्वां दुष्यन्तं प्रति, कथमपि=केनापिप्रकारेण, अबान्धवकृतां बान्धवैः पित्रादि बन्धुजनैः कृतेति – बान्धवकृता न बान्धवकृता – अबान्धवकृता तां, शकुन्तलयास्वयमेव विहितामित्याशयः, तां=तादृशीम्, स्नेहप्रवृत्ति=अनुरागोत्पत्तिम्, प्रणयव्यापारं च, साधु=सम्यग्, विचिन्त्य=विचार्य, त्वया इयं=शकुन्तला, सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं=सामान्या–इतरदारसाधारणी या प्रतिपत्तिः=गौरवमतिः, तत्पूर्वकं=तत्पुरस्कारेण, अपरा भार्या यथा इयं शकुन्तलापि तथैवेति समानताज्ञानपूर्वकमित्याशयः, दारेषु=गृहीतासु=गृह्यमाणासु च पत्नीषु, दृश्या—अवलोकनीया, अतः परं अस्मादधिकम्, भाग्यायत्तम् – कन्यायाः भाग्याधीनम्, तद् - विशेषप्रतिपत्त्या, अवलोकनम्, वधू बन्धुभिः=वध्वा बन्धुभिः पारिवारिकैः, न खलु वाच्यं – न हि कथनीयम् ।

अत्र तुल्ययोगिता, काव्यलिङ्गम् अप्रस्तुतप्रशंसालंकाराः इव, एतेषामयलङ्काराणं परस्परं नैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । शार्दूल विक्रीडितम् वृत्तम् । १८॥

शुश्रूषस्व .... कुलस्याधयः ॥१६॥

गुरून्—श्वश्रू श्वसुरादिगुरुजनान्, शुश्रूषस्व—परिचर्यां कुरु; सपत्नीजने—समानः पतिः यस्याः सा एव जनः तस्मिन्; "नित्यसपत्न्यादिषु" इति निपातनात् नकारादेशः ङीप्; समानस्य सा देशश्च; प्रियसखीवृत्तिं कुरु—प्रियसख्याचरणं विधेहि, विप्रकृताऽपि तिरस्कृताऽपि; रोषणतया — कोपनतया; भर्त्तुः प्रतीपं—प्रतीकूलताम् ; मास्म गमः—न गच्छ; परिजने – परिवारवर्गे—दास-दास्यादि—सेवकवर्गे इति यावत्, भूयिष्ठं अतिशयेन दक्षिणाभव—छन्दानुवर्तिनी भव, भाग्येषु

—निजभाग्येषु; अनुत्सेकिनी—अगर्विताभव; एवम्—इत्थं प्रकारेण; युवतयः—तरुण्यः; गृहिणीपदं—गृहिणीतिव्यपदेशम्; गृहिण्यापदस्थानं वा; यान्ति — अधिगच्छन्ति; वामाः – विपरीतास्तुतरुण्यः; 'वामो वल्गुप्रतीपो वा, इत्यमरः, कुलस्य—पत्युः पित्रोश्च वंशस्य, आधयः—मनोव्यथाः—मनस्तापजनिका इत्याशयः। पुंस्याधिर्मानसी व्यथाः, इत्यमरः, तस्मादुक्त विपरीता मा भव इति।

अत्र ह्यर्थान्तरन्यासालङ्कारो। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥१९॥

अभिजनवतो — ... ... — ...शुचं गणयिष्यसि ।२०॥

वत्से=पुत्रि, त्वम् अभिजनवतः=कुलीनस्य, 'अभिजनान्वयो' इत्यमरः, भर्त्तुः=पत्युः, श्लाघ्ये — प्रशंसनीये, गृहिणीपदे=गृहिण्यापद तस्मिन्, गृहिणील, क्षणाधिकारे वा, स्थिता=प्रतिष्ठिता सती। तस्य विभवगुरुभिः=विभवेन सम्पदा गुरुभिः महद्भिः कृत्यैः कार्यैः, परिजनपरिपालनादिभिव्य पारैर्वा। प्रतिक्षणं=सर्वदा, आकुला=व्यग्रासती, प्राचीव=पूर्वा दिगिव। अर्कं=सूर्यम्, अचिरात्—शीघ्रमेव। पावनं=पवित्रताजनकम्, नानासत्कार्याणां प्रवर्त्तयिष्यमाणत्वात् इति भावः, तनयं=पुत्रम्, प्रसूयच=जनयित्वा च, मम विरहजां=मद्वियोगजनिताम्, शुचं=शोकं। न गणयिष्यसि=न ज्ञास्यसि।

अत्र पूर्णोपमालङ्कारः, हरिणी वृत्तम् ।२०॥

भूत्वा — .... — — —पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥२१॥

चिराय=दीर्घ कालं व्याप्य, एते न दीर्घायुष्यं द्योत्यते, चतुरन्त महीसपत्नी=चत्वारो, समुद्रा अन्ता—अवधयो यस्याः सा, चतुः समुद्रपर्यन्तेत्यर्थः, तथाविधाया मही तस्याः सपत्नी — समानभर्तृकाभूत्वा, अप्रतिरथं — अविद्यमानप्रतिरथः स्वसमानयोद्धा तस्य तादृशं प्रतियोगि-शून्यमित्याशयः। दौष्यन्तिदुष्यन्तस्यापत्यं पुमान् दौष्यन्तिस्तं तनयं = पुत्रम्, निवेश्य=राज्येस्थापयित्वा, तदर्पितकुटुम्बभरेण = तस्मिन् अर्पितो न्यस्तः, कुटुम्बस्य—परिवारस्य, भरो-भारो येन तेन, भर्त्रा — पत्या, सार्धं — सह, शान्ते — शान्तियुते, अस्मिन् आश्रमे—तपोवने, पुनः—भूयः, पदं – स्थानं करिष्यसि—विधास्यसि। मालादीपकालङ्कारः, वसन्ततिलकावृत्तम् ॥२१॥

शममेष्यति .... विलोकयत: ।।२२।।

हे वत्से ! हे जाते !—त्वया शकुन्तलया, पूर्वं रचितम्—विहंगमानां भक्षणाय पूर्वं निर्मितम्; उटजद्वारविरूढम्—उटजस्य पर्णशालाया द्वारे विरूढं जातं अंकुरमिति यावत्; निवारबलिं नीवाररूपं भूतबल्युपाहारम्; विलोकयत:—यातायातसमये मुहुः पश्यत:, मम—कण्वस्य; शोक:—विषाद:; कथं नु—केन प्रकारेण; शममेष्यति—शान्तोभविष्यति; न कथमपि शान्तिमेष्यति इति भाव: ।

काव्यलिङ्गमलङ्कार: । आर्या छन्द: ।।२२।।

अर्थो हि .... इवान्तरात्मा ।।२३।।

कन्या—दुहिता; हि—निश्चयेन; परकीय एव—परस्वामिक एव; अर्थ:—द्रव्यम् अस्ति; अद्य तां-शकुन्तलां; परिगृहीतु:-परिणेतु:; तद्वरस्य निकटे इत्यर्थ:; सम्प्रेष्य—विसर्ज्य; मम—कण्वस्य, अयमान्तरात्मा; प्रत्यर्पितन्यास इव—प्रत्यर्पित: स्वामिने समर्पित: न्यास: निक्षेप: येन स इव, प्रकामं—यथेच्छम् विशद:—निर्मल:, जातोऽस्मि ।

उत्प्रेक्षालङ्कार: । इन्द्रवज्रा तल्लक्षणम्— वृत्तम् । "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौग:" ।।२३।।

।। इति चतुर्थोऽङ्क: ।।

अथ पञ्चमोऽङ्कः

अभिनवमधु ....एनां कथम् ॥१॥

हे मधुकर—हे भ्रमर ! अभिनवमधुलोलुप—अभिनवं—नवीनं यद् मधु पुष्परसस्तस्य लोलुपः सतृष्णस्त्वं । चूतमञ्जरीं—रसालवल्लरीम्; "मञ्जरी वल्लरीस्त्रियाम्" इत्यमरः; तथा—तेन विधिना; परिचुम्बय—परितः समन्तात् परिष्वज्य; कमलवसतिमात्रनिर्वृतः—कमले सर्वथानुभूते पद्मे वसतिमात्रेण; न तु मध्वास्वादेन निर्वृतः आनन्दितः; एनां—रसालमञ्जरीम्; कथं-किमिव; विस्मृतोऽसि ।

अत्र काव्यलिङ्गमलंकारः । अपरवक्त्रं वृत्तम् ॥१॥

लक्षणन्तु चतुर्थाङ्के लिखितमेव ॥१॥

रम्याणि .... सौहृदानि ॥२॥

रम्याणि—चन्द्रोद्यानप्रमदादीनि सुन्दराणिवस्तूनि; वीक्ष्य—अवलोक्य; मधुरान्—प्रियान् श्रुतिसुखदान्; शब्दान् च निशम्य—गीतादीन् च आकर्ण्य; यत्—यस्मात्; सुखितः—सुखयुतः; अपि जन्तुः—प्राणी; पर्युत्सुकीभवति—उत्कण्ठी भवति; तत्—तस्मातः (स) नूनं—निश्चप्रचमेव; भावस्थिराणि—वासनारूपेण दृढमवस्थितानि, जननान्तर सौहृदानि—पूर्वजन्मानुभूतान् प्रणयादिसम्बन्धविशेषान्; अबोधपूर्वं—न बोधो ज्ञानं पूर्वं यथास्यात्तथा; चेतसा—हृदयेन; स्मरति ।

अत्र प्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२॥

आचारः........................ .. .. अवलम्बनार्था ॥३॥

राज्ञः—नृपतेः; अवरोधगृहेषु—अन्तःपुरेषु; मया—अशक्तेनापीत्यर्थः; आचार इति—अस्माकं कञ्चुकीनामयं व्यवहारः; अवहितेन—सावधानेन; या वेत्रयष्टिः—वेत्रदण्डः; गृहीता—पूर्वधृता, सैव—वेत्रयष्टिः, बहुतिथे—अत्यधिके; कालेगते—आयुस्समयेऽतीते; प्रस्थानविक्लवगतेः—प्रस्थाने गमने विक्लवा स्खलिता गतिः चरणक्षेपो यस्य-तस्य; मम अवलम्बनार्था—मम आश्रयार्था; जाता ।

अत्र काव्यलिङ्ग; विभावना; समाहिताश्चालङ्काराः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥३ ।

भानुः .... धर्म एषः ॥४॥

सकृत्—जीवने एकवारमेव, युक्ततुरङ्गः—युक्ताः रथे नियमिताः अपद्भ्रमणायेतिभावः, तुरङ्गाः—हयाः, ये न स तथाभूतः, भानुः—सूर्यः; एव; रात्रिन्दिवं—अहोरात्रमेव गन्धवहः—पवनः, प्रयाति—प्रवहति एव—न कदापि विश्रामं विदधातीत्यर्थः, सदैव—सर्वदैव, आहितभारः—आहितः अर्पितः भूमेः—पृथिव्याः भारो यत्र स तथोक्तः, शेषः—अनवसानः; (अस्ति) षष्ठांशवृत्तेः—प्रजाभिः

उपार्जितस्य द्रव्यस्य यः षष्ठोंऽशः भागः, स एव वृत्तिः जीविका यस्य तस्य तथोक्तस्यापि राज्ञः; अध्येषः--अनवरतरूपेण प्रजासंरक्षणरूपो धर्मः । (वर्त्तते)

अत्राप्रस्तुतप्रशंसा, परिसंख्या; मालाप्रतिवस्तूपमा, श्रुत्यानुप्रासाश्चालङ्काराः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥४॥

प्रजाः .... द्विपेन्द्रः ॥५॥

रविप्रतप्तः—भानुतप्तः । द्विपेन्द्रः—द्वाभ्यां पिबन्तीति – द्विपाः – गजास्तेषां इन्द्रो, हस्तिराजः, दिवा – दिवसे । यूथानि—गजसमुदायान् संचार्य— इतस्ततश्चारयित्वा । शीतं स्थान इव,—शीतलं स्थानमिव । (तथैव राजा) स्वा प्रजाः— स्वान्यपत्यानि इव, प्रजाः—जनताः, तन्त्रयित्वा—शासयित्वा, आशान्तमनाः— अशान्तमुद्विग्नंमनोचेतः यस्य सोऽयं दुष्यन्तः । विविक्तं – एकान्तं । निषेवते – आश्रयते । उपमायमकचालङ्कारौ । उपजातिवृत्तम् लक्षणम्—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौपादौ यदीयावुपजातयास्ताः । ५ ।

औत्सुक्य .... इवातपत्रम् ॥६॥

प्रतिष्ठा–गौरवम्, औत्सुक्यमात्रम्–अभिलषितप्राप्तिनिमित्तां एकमात्रमुत्कण्ठाम्, अवसाययति – समापयति । लब्धपरिपालनवृत्तिः – लब्धस्य-प्राप्तस्य, परिपालनवृत्तिः —अभिरक्षणव्यापारः, एनं – राजानं क्लिश्नाति – पीडयत्येव, राज्यं । आतपत्रं इव—आतपात् त्रायत इति आतपत्रं, छत्रमिव । स्वहस्तधृतदण्डम् – स्वहस्तेन धृतोदण्डो यस्य तत्तथा तम् । नातिश्रमापनयनाय — नात्यन्तं श्रमस्य अपनयनाय । विनाशाय भवति । न – नहि । यथा – इत्यम्भूताय । श्रमाय – भव तीत्यभिप्रायः । अत्र परिसंख्योपमाकाव्यलिङ्गालङ्काराः । वसन्ततिलकावृतम् ॥६॥

स्व सुख .... संश्रितानाम् ॥७॥

(त्वं) स्वसुखनिरभिलाषः — स्वस्य आत्मनो, यत्सुखं, सुखानुभवस्तत्रनिरभिलाषः — गतस्पृहः, (सन्), लोकहेतोः — सुखसाधनार्थम् । प्रतिदिनम्—दिनं प्रति प्रत्यहं सर्वदैवेतिभावः । खिद्यसे – खेदं करोषि । अथवा— नेदमद्भुतमित्यर्थः । ते—तव । एवं विधैव—लोकहितसाधनरूपैव । वृत्तिः—वर्तनम् । हि—यस्मात् । पादपः—तरुः । तीव्रम् – दुःसहम् । उष्णं—आतपम् । —मूर्ध्ना-शिरसा । अनुभवति—प्रत्यक्षीकरोति । छायया—छायादानेन । संश्रितानाम्—आत्मानमाश्रितानाम् परितापं—सन्तापं । शमयति—नाशयति । अत्र काव्यलिङ्गव्यतिरेकालङ्कारो । मालिनीवृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—"ननमयययुतेयं मालिनीभोगिलोकैः" ॥८॥

नियमयसि........ ....प्रजानाम् ।८।।

(त्वम्) आत्तदण्ड:— आत्त:— गृहीत: दण्डो येनस: तथाभूत:। कुमार्गप्रस्थितान्— कुमार्गे कुपथे अवहितकर्मणीत्यर्थ:। प्रस्थितान्— गच्छत:। प्रवृत्तानितियावत्, दुराचारानित्यभिप्राय:, नियमयसि— अपथान्निवर्त्तयसि। विवाद— कलहम्। प्रशमयसि— धर्मशास्त्र ज्ञातिभिस्सम व्यवहारदर्शनात् सद्विचारेणनिवारयसि रक्षणाय —प्रजानां पालनाय। कल्पसे— प्रभवसि। अतनुषु— प्रभूतेषु। विभवेषु— धनधान्यादिषुविषये इत्यर्थ:। ज्ञातय:— स्वजना:। सन्तु नाम— भवन्तु। तु प्रजानाम्— तु जनतानाम्। बन्धुकृत्यं— बन्धूचितकर्म। त्वयि— त्वय्येव। परिसमाप्तम्— सर्वतोभावेन सम्पन्नतां जायते। सर्वतोभावेन तेषां हितसाधनात् इतिभाव:

अत्र व्यतिरेक काव्यलिङ्ग दीपकालङ्कारा:। मालिनीनाम वृत्तम् ।।८।।

किं तावद्...... ....मे मन: ।९।।

उपोढतपसां— उपोढं— धृतं: तप:, दैधक्लेशकरं त्रिविधं कर्म, यैस्ते तेषां, व्रतिनांआरब्धयागानाम्, तप:— यागादि:, विघ्नै:— अन्तरायै:, किं तावद् दूषितम्— व्याहतम्, उत्— अथवा केनचित् धर्मारण्यचरेषु— केनचित् तपोवनविहारिषु, प्राणिषु— हरिणादिजीवेषु विषये, असत्— हिंसादि, चेष्टितम्— आचरितम्, आहोस्वित्— किं वा, मम अपरिचितै:, अजातपरिचयै: जनै: कर्त्तृभि:, वीरुधाम्— लतानाम् "लता प्रतानिनी वीरुत्" इत्यमर:, प्रसव:— पुष्पं फलं वा, विष्टम्भित:— प्रतिबन्धं प्रापित:, इत्यारूढबहुप्रतर्कं— इति-इत्थं, आरूढा— उद्भूता:, बहव: नानाविधा प्रतर्का: संशया: यस्मिन् तत् तथोक्तम्. मे— मम, मन: अन्त:करणम्; अपरिच्छेदाकुलम्— अपरिच्छेदेन— निश्चयाभावेन, आकुलं— तन्निश्चयार्थं विह्वलं भवतीति शेष:।

अत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। शार्दूलविक्रीडितम्।९।।

महाभाग:— .... गृहमिव ।।१०।।

अहो— इत्याश्चर्ये; अभिन्नस्थिति:— अभिन्ना— अव्याहता स्थिति: लोकमर्यादा येन स तथाभूत:, अनुल्लङ्घिताचारपद्धतिरित्यर्थ:, नरपति:— राजादुष्यन्त:, कामं— सम्यक् महाभाग:— महान् विपुलो, भाग: भागधेयं यस्य स, तल्लक्षणं यथा— आरभ्योत्पत्तिमामृत्यो: कलङ्को यस्य नो भवेत् स्याच्चैवानुपमा कीर्त्तिमहाभाग: स उच्यते, वर्णानाम्— ब्राह्मणक्षत्रियादीनाम्, "वर्णो द्विजादौ" इत्यमर:, अपकृष्ट: अपि— जात्या कर्मणा वा निकृष्टोऽपि, अधमेऽपि वा, कश्चिदपथम्— अमार्गम्, न भजते— न सेवते; तथापि— तदपि; इदं— पुरतो दृश्यमानम्; जनाकीर्णं— जनै: लोकै:, आकीर्णम्-संकुलम् शश्वत्— सर्वदा परिचितम्— आजन्मसेवितम् विविक्तम्-विजन-

स्थानं येन – शश्वत् परिचितः विविक्तेन मनसा – चेतसा; हुतवहपरीतं – हुतवहेन – अग्निना; परीतं – व्याप्तम्, गृहमिव मन्ये – जानामि ।

अत्र विभावना; विशेषोक्ति; उपमालङ्काराः । शिखरिणी वृत्तम् । तल्लक्षणं-

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" ॥१०॥

अभ्यक्तमिव ··· ···अवैमि ॥११॥

सुखसङ्गिनम्—जनम् – कृतस्नानतयैव प्राप्तपवित्र्यसुखं जनम्; इह – राजधान्याम्; अवैमि—अवगच्छामि; स्नातः – कृतस्नानः; अभ्यक्तमिव – तैलाक्तदेहमिव; शुचिः – पवित्रः; अशुचिमिव – दूषितमिव; प्रबुद्धः – जागरितः; सुप्तमिव—निद्राभिभूतमिव; स्वैरगतिः – स्वैरा स्वाधीना स्वच्छन्देतियावत् गतिर्यस्यसः बहुव्रीहिसमासः, बद्धम् – बन्धनप्राप्तम्; इव – समानम् (अहम्) ।

अत्र मालोपमालङ्कारः । आर्या जातिश्च ॥११॥

भवन्ति···परोपकारिणाम् ॥१२॥

तरवः—वृक्षाः; फलागमैः—फलानाम् आसमन्तात्; गमो—गमनं-प्राप्तिस्तै-नम्रा—अधोमुखा विनीताश्च; भवन्ति; घनाः—मेघाः निविडाश्च नवाम्बुभिः—नवजलसञ्चयैः; दूरविलम्बिनः—दूरात् विलम्बन्ते इति-अत्यन्तलम्बिता, अतिशयवर्षणशीलाश्च (भवन्ति) सत्पुरुषाः—सन्तः साधवश्च; ते पुरुषाश्चेति सज्जनाः; समृद्धिभिः—धनसम्पत्तिभिः; अनुद्धता—विनम्रा भवन्ति; परोपकारिणाम्—परानुपकर्तुंशीलं येषां तेषां—परहितनिरतानां, एषः—आनन्दः, स्वभाव एव—प्रकृतिरेव ।

अत्र अर्थान्तरन्यास मालाप्रतिवस्तूपमा; अप्रस्तुतप्रशंसा; अतिशयोक्ति; काव्यलिङ्गालङ्काराश्च; वंशस्थं वृतम् । तल्लक्षणम्—

"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" ॥१२॥

कास्विद्···पाण्डुपत्राणाम् ॥१३॥

पाण्डुपत्राणाम् – पाण्डूनि पाण्डुरवर्णानि यानि पत्राणि तेषां मध्ये, एतेन-तपोधनानामपि वयः परिणततया पाण्डुत्वं सूच्यते । किसलयमिव—नूतनपल्लवमिव; तपोधनानाम्—तपस्विनाम्, (मध्ये) अवगुण्ठनवती—शिरः प्रच्छादनवती; नातिपरिस्फुटशरीरलावण्यः—नातिपरिस्फुटं—अनतिव्यक्त गात्रावरणादेवेतिभावः; शरीरस्य लावण्यं—कान्तिविशेषो यस्यास्तथाभूताः बहुव्रीहिः । कास्वित्—का वा भवेत् । स्विदिति वितर्के । उपमा काव्यलिङ्गचालङ्कारौ, आर्या जातिः ॥१३॥

कुतो ··· ··· ··· ··· भविष्यति ॥१४॥

त्वयि—राज्ञे दुष्यन्ते; रक्षितरि—परिपालयितरि सति, सतां सज्जनानां, धर्मक्रियाविघ्नः—धर्मक्रियाणाम्—यागादिधर्मानुष्ठानानां विघ्नः-व्याघातः कुतः; न

कुतोऽपीत्यर्थः। घर्मांशौ – घर्माः – उष्णाः अंशवः—किरणा यस्य तस्मिन् घर्मांशौ — सूर्ये; तपति – जगत् सन्तापयति; तमः तिमिरः; कथम् आविर्भविष्यति–प्रसरिष्यति; न कथमपीत्यर्थः। तथा च निर्विघ्नेनास्माकम् तपः सम्पद्यत इति भावः।

दृष्टांतोऽलंकारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥१४॥

त्वमर्हतां ··· ·· प्रजापतिः ॥१५॥

त्वं दुष्यन्तः। अर्हतां—प्रशंसापात्राणाम् जनानाम्ः, प्राणसरः—अग्रगण्यः, स्मृतः असि–अभिमतोऽसि, (यत्) शकुन्तला च मूर्त्तिमती–शरीरधारिणी, (सत्क्रिया–सत्कारभूतेषु) प्रशंसेवेति यावत्। तुल्यगुणं—समानगुणं। वधूवर – वधूश्च वरश्चानयोः समाहारः "दम्पती" मिथुनमित्यर्थं, समानयन्—एकीकुर्वन् चिरस्य—चिरादारभ्य प्रवृत्तमित्यर्थः, प्रजापतिः – निन्दाम्, न गतः—न प्राप्तः, समानगुण शालित्वेन परस्परयोग्यत्वात्।

अत्र, काव्यालिङ्ग, उत्प्रेक्षालंकाराः; वंशस्थविलं वृत्तम् ॥१५॥

नापेक्षितो······························एकस्य ॥१६॥

अनया—शकुन्तलया, गुरुजनः—पित्रादिजनः, नापेक्षितः—अनुमतिप्राप्तये न पणितः, च (त्वया) बन्धुजनः — ज्ञातिवर्गो। न पृष्टः — 'शकुन्तलया पाणिग्रहणं विधातुं शक्नोमि वा न वा" इति न जिज्ञासितः। खलु—निश्चयेन। परस्परस्मिन्—अन्योन्यस्मिन्नेव। चरिते—अनुष्ठिते विषये। एकमेकस्य—परस्परस्य शकुन्तलाया तव चेत्यर्थः। किं भणामि—किं कथयामि।

अर्थापत्तिरलङ्कारः आर्या छन्दः ॥१६॥

सतीमपि ··· – स्वबन्धुभिः ॥१७॥

जनः—लोकः, जातिकुलैकसंश्रयां — जातिकुलं पितृगृहमेकं एकमात्रः संश्रयः आश्रयो यस्यास्तां। पितृगृहैकवासिनीमित्यर्थः. "ज्ञातिः सगोत्रेपितरि:" इति विश्वः। भर्तृमतीं – जीवद्भर्तृकाम्। सतीं—पतिव्रतां। अपि। अन्यथा—असतीत्वेनेत्यर्थः, विशङ्कते—विशेषेणशङ्कते। अतः—अस्मात्कारणात् स्व बन्धुभिः — प्रमदायाः पित्राद्यात्मीयजनैः, प्रिया—मनोहारिणी। अप्रिया—अमनोहरा वा। प्रमदा—प्रकृष्टो मदो यस्याः। सा—युवतिः। अनेनचापल्यस्य संभावनासूच्यते। परिणेतुः—पत्युः। समीपे—निकटे। इष्यते—अभिलष्यते।

अत्र प्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्गश्चालङ्कारौ। वंशस्थं वृत्तम् ॥१७॥

किं कृत··· ··· · —···मत्तेषु ॥१८॥

कृतकार्यद्वेषः—कृते स्वयमेवानुष्ठिते पित्रादेरननुमतावपीतिभावः; कार्ये—शकुन्तलापरिणयरूपव्यापारे, द्वेषतात् – केनापि कारणेन "मयानैतत्साधु विहितम्" :

इत्थबहि ताचारतया सम्यग् निश्चयात्; धर्मं प्रति—स्वकर्त्तव्यं प्रति; विमुखता—परिणयानङ्गीकारात् पराङ्मुखता; कृतावज्ञा—कृतस्य कार्यस्यावज्ञा तिरस्कारः; किम्; प्रायेण – बहुधा; ऐश्वर्यमत्तेषु—ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यं प्रभुत्वं तेनप्रमत्तेषु—उद्धतेषु; अमीविकाराः – एतेविकृतयो; मूर्च्छन्ति - वर्धन्ते ।

अत्रार्थान्तरन्यासालङ्कारः; आर्या वृत्तम् ॥१८॥

इदमुपनतमेवं ·········· हातुम् ॥१९॥

एवम् – अनायासम्; उपनतम् - समीपे–उपस्थितम्; अक्लिष्टकान्ति—अक्लिष्टा – अम्लाना कान्तिः – शोभा यस्य तथाभूतम्; इदं—पुरोवर्त्ति; रूपं - लावण्यम्; प्रथमपरिगृहीत—प्राक् गन्धर्वादिना विधिना मया परिणीतं; स्यात्—भवेत् – न वा इति व्यवस्यन् – अस्मिन् विषये; एकतरकोटिं निश्चेतुं; – व्यवस्यन्-विचारयन्; विभाते--प्रभाते; भ्रमरः—द्विरेफः; अन्तस्तुषार – अन्तर्मध्ये तुषारो हिमं यस्य तं; कुन्दम् – कुन्दपुष्पम्; इव; न च खलु परिभोक्तुं – न च खलु सेवितुम्; नैव च; हातुं – परित्यक्तुमपि; नैव शक्नोमि ।

अत्र उपमा सन्देहालंकारो । मालिनी वृत्तम् ।१९॥

कृताभि ······ ···········येन ॥२०॥

कृताभिमर्शाम्--कृतो-विहितो; अभिमर्शो बलाद्धर्षण स्पर्शादिलक्षणयुतं सुरतं यस्याः तादृशीम्; सुतां—पुत्रीं शकुन्तलाम्; अनुमन्यमानः - क्रोधादिकर्मकृतवो बानुमोदमानः, मुनिः—कण्वः; त्वया – ईदृशापराधकृतश तस्य स्मरणमपि अकुर्वता इत्यभिप्रायः; विमान्य—अवमाननीयः नाम—इत्यसम्भावनायाम्; मुष्ट—चोरितम्, येन – मुनिना; त्व स्वं—निजं; अर्थं – धनं; प्रति- ग्राह्यता—चोराधीनं विधता; दस्युः इव –चोर इव; पात्रीकृतः असि—त्वं सम्प्रदा-नीकृतः असि ।

अत्र सम. विषयोपमालंकारः उपजातिः वृत्तम् ॥२०॥

व्यपदेश ··· ··· ··· तटतरुं च ॥२१॥

कूलं तटं कषति भिनन्ति इति कूलङ्कषा—तटभङ्गकारिणी, सिन्धु–नदी 'सिन्धु समुद्रे नद्याश्च नदे देशे भदानयोः; इति विश्व ; प्रसन्नम् – निर्दोषं स्वच्छ च; अम्भः—जलम्; तटतरुं च—तीरस्यवृक्षञ्चैव, इव—यथा; व्यपदेशं—व्यापदिश्यते समाजे कीर्त्यतेऽनेनेति स तं व्यपदेशं—कुलम्, आविलयितुं—परस्त्रीरक्षणेन कलुषीकर्त्तुं; इमं जनं—दुष्यन्तं च, पातयितुं—परस्त्रीसंसर्गेण पतितं कर्त्तुं; किम्—कथं ईहसे—सम्यक् वाञ्छसि ।

अत्रोपमासमुच्चयालङ्कारो आर्या वृत्तम् ।

स्त्रीणाम् ··· ··· पोषयन्ति ॥२२॥

अमानुषीषु —मनुष्येतरासु; स्त्रीणाम्—नारीणाम्; विशेषतः पुंभिन्नानामिति

तात्पर्यम्; अशिक्षितपटुत्वम्—अनुपदिष्टवञ्चनाकौशलम्; शिक्षां विनापि स्वाभाविकं चातुर्यमित्यर्थः; सन्दृश्यते समवलोक्यते; या—स्त्रियः; प्रतिबोधवत्यः—सर्वतोभावेन ज्ञानवत्यः; किमुत—शिक्षितपटुत्वे किं वक्तव्याः; खलु—निश्चयेन; परभृताः कोकिलस्त्रियः; अन्तरिक्षगमनात्—आकाशगमनात्; उड्डयनात्; प्राक्—पूर्वं; स्वम्—स्वकीयम्; अपत्यजातम्—सन्तानसामान्यम्; अन्यैर्द्विजैः—अपरपक्षिभिः काकैरिति — यावत्; पोषयन्ति परिपालयन्ति। अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो अलङ्कारः, तथा शकुन्तला लक्षणेविशेषे प्रस्तुतेऽस्त्री सामान्यस्योक्तत्वात् अप्रस्तुतप्रशंसा च वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२२॥

मय्येवं ... ... समरस्य ॥२३॥

तथाहि-अनया—शकुन्तलया; विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ-विस्मरणेन-विस्मृत्या, दारुणाः कठोराः चित्तवृत्तिर्मनोवृत्तिः यस्य तस्मिन्; रहः—निर्जनेतपोवने; कृतम्—विहितम्; प्रणयं—प्रीतिम्; अप्रति- पद्यमाने—अस्वीकुर्वाणे; सति; मयि एव—दुष्यन्त एव अतिरुषा—अतिक्रोधेन; अतिलोहिताक्ष्या—अतिलोहिते—अत्यन्त रक्तवर्णे; अक्षिणीनयने यस्यास्तथाभूतयाऽनयाशकुन्तलया कुटिलयोः— वक्रयोः; भ्रुवोभेदात्—भङ्गात्; स्मरस्य मयि प्रहर्त्तुः कामदेवस्य शरासन— धनुः; भग्नमिव—खण्डितामिवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा।

अत्र उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्गालङ्कारौ। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२३॥

अतः ... ... सौहृदम् ॥२४॥

अतः—अस्माद्धेतोः; विशेषात्—विशेषतः; संगतं—गान्धर्वलक्षनम् पुरुष संगमनम्, रहः—एकान्ते, परीक्ष्य—कुलशीलादि साधुतां निर्धार्य, कर्त्तव्यम्—सम्पाद्यम् अज्ञातहृदयेषु—न ज्ञातं—साध्वसाधुतया नावगतं हृदयं मनो येषां तेषु तथाभूतेषु पुरुषेषु, एवं त्वयिवत वृत्तान्त इव, वैरी भवति—अवैरं वैरं भवति।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥२४॥

आजन्मनः ... ... किलाप्तवाचः ॥२५॥

यः—जनः; आजन्मनः—जन्मन आरभ्य; शाठ्यम्—धौर्त्यम्; अशिक्षितः—स्वेनान्येनवा नाध्यापितः; तस्य जनस्य—अशाठ्यवतो—जनस्य; शकुन्तलाया इत्यर्थः; वचनम्—वाक्यम्; अप्रमाणम्—प्रमीयतेऽनेनेतिप्रमाणं तन्न भवतीत्यप्रमाणं; अयथार्थं ज्ञानजनकम्; यैः—नृपैः दुष्यन्तसदृशैः; परातिसन्धानम्—परप्रतारणं विद्या इव—विद्यारूपेण; अधीयते—सनियमं; पठ्यते; ते किलेति शठतामिति यावत्;

संभावनायाम्; आप्तवाचः—आप्ताः विश्वासयोग्याः वाचः वाक्यानि येषां ते—तादृशाः; भ्रमप्रमादशून्यवचनाः; सन्तु—भवन्तु।

अप्रस्तुतप्रशंसा, रूपकं चालंकारौ। उपजातिवृत्तम् ॥२५॥

तदेषा.................सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

तदित्युपसंहारः; एषा – शकुन्तला; भवतः कान्ता—दुष्यन्तस्य पत्नी; एनां—पुरोवर्त्तमानाम्; शकुन्तलाम्; त्यज वा गृहाण वा – स्वीकुरु वा। दारेषु—पत्नीषु सर्वतोमुखी – सर्वप्रकारा; प्रभुता। कर्त्तृत्वं वर्तते इति शेषः; उपपन्ना—युक्ता; अस्मिन् विषये त्वं यथेच्छमाचर इत्यभिप्रायः।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलंकारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥२६॥

यदि .... क्षमम् ॥ २७॥

यदि त्वं – शकुन्तला; तथा असि –अनेनापरिणीतैव विद्यसे, यथा क्षितिपः—यद् राजा, वदति–ब्रवीति, त्वया – शकुन्तलया पितुः उत्कुलया–जनकस्य; उल्लङ्घित कुलाचारपद्धत्या पांसुलयेत्यर्थः, किम् – न किमपि फलम् इत्यर्थः, अथ तु चात्मनः—स्वस्य; व्रतं—नियमं पातिव्रत्यम्; शुचि–पवित्रं, अन्य पुरुषसंसर्गाभावान्निष्पापमिति यावत्, वेत्सि—अवगच्छसि; पतिकुले—भर्त्तृगेहे; तव—शकुन्तलायाः; दास्यं—परिणयसन्देहात् – दासीभागेऽपि, क्षमम् – उचितम्।

अत्र काव्यलिङ्गालंकारः। द्रुतविलम्बितवृत्तम्। तल्लक्षणम् — "द्रुतविलम्बितमाहनभौभरौ" ॥२७॥

कुमुदान्येव .... वृत्ति ॥२८॥

शशांकः – चन्द्रमाः; कुमुदानि एव – कैरवाण्येव, सविता–सूर्यः; पङ्कजानि—कमलानि; एव; बोधयति – प्रकाशयति; हि – यतः, वशिनां – जितेन्द्रियाणाम्, धार्मिकाणामिति यावत्; वृत्तिः–मनोवृत्तिः, परपरिगृहसंश्लेषपराङ्मुखी—परस्य अन्यस्य यः परिगृहः कलत्रं तस्य संश्लेषात् – आश्लेषात्, पराङ्मुखी – विमुखी भवति; 'परिग्रहः परिजने पत्न्याम्। इति विश्वः।

अत्राप्रस्तुतप्रशंसामालादृष्टान्तालङ्कारः, आर्या छन्दः ॥२८॥

मूढः स्याम् .... पांसुलः ॥२९॥

अहं—दुष्यन्तः, मूढः—प्राप्तमोहः, स्यां—भवेयम्, वा—अथवा, एषा—शकुन्तला, मिथ्या—अनृतम्, वदेत्—कथयेत्, इति संशये – संदेहे, अहं दारत्यागी–मूढः सन् धर्मपत्नी परित्यागी भवामि, आहो—किं वा, परस्त्रीस्पर्शपांसुलः –परस्त्रीस्पर्शेण शकुन्तलावाक्यस्य मिथ्यात्वे परदारग्रहणेन, पांसुलः – कलङ्कितो भवामि।

अनयोः कतरल्लघीयः इति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥२९॥

सा निन्दन्ती ... ... ज्योतिरेकं जगाम ॥३०॥

सा – पत्या बन्धुभिश्च परित्यक्तत्वात् अशरणेत्यर्थः, बाला – शकुन्तला, स्वानि– स्वकीयानि, भाग्यानि – भागधेयानि, निन्दन्ती – अधिक्षिपन्ती सती, बाहूत्क्षेपं – "द्वितीयायां चेति, णमुल, क्रन्दितुं – रोदितुम्, प्रवृत्ता च – आरब्धवती च, अप्सरस्तीर्थम् आरात् – अप्सरस्तीर्थंस्यनामस्थानस्य समीप एव, स्त्रीसंस्थानम् – स्त्रियाः संस्थानमाकार इव संस्थानं यस्य, तदेकं ज्योतिः – तेजः, एनाम् – शकुन्तलाम् (अङ्के) उत्क्षिप्य – उत्थाय, जगाम च – तिरोबभूव च, द्वौ चकारौ क्रिययोः समकालत्वस्यावबोधार्थम् ।

उपमालङ्कारः । शालिनीवृत्तम् । तल्लक्षणम्––

"मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः ।" ॥३०॥

कामं ... ... मे हृदयम् ॥३१॥

कामम् इत्यनुमतौ । प्रत्यादिष्टां – सम्प्रत्येवनिराकृताम्, मुनेः – कण्वस्य, तनयां – शकुन्तलाम्, परिग्रहं – परिणीतां स्वां पत्नीम्, न स्मरामि – परिग्रहत्त्वेन पर्याप्तं न स्मरामीत्यर्थः, तु – किन्तु, बलवत् – अत्यर्थमेव, दूयमानं –पीड्यमानं, मे हृदयं – मम चेतः, प्रत्यायमति इव – परिग्रहत्वेन विश्वासमुत्पादयतीव ।

इवेत्युत्प्रेक्षायाम् ।

"अत्र विभावनानुमानमुत्प्रेक्षालङ्काराः ।" आर्या जातिः ।

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

अथ षष्ठोऽङ्कः

सहजं ... ... श्रोत्रियः ॥१॥

सहजं – स्वाभाविकं, वंशपरम्परागतमित्यर्थः, यत्कर्मकार्यं विनिन्दितं – लोकेषु विगर्हितमपि, किल, तत्खलु तदपि कर्म, न विवर्जनीयम् – नैव परित्याज्यम्, पशुमारणदारुणः – पशूनां यज्ञीयपशूनां यन्मारणं हननम् तेन दारुणो निष्ठुर अपि, श्रोत्रियः – वेदविद् ब्राह्मणः, अनुकम्पामृदुरेव – अनुकम्पया दयया मृदुः कोमल एव, भवति ।

अप्रस्तुतप्रशंसाऽर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारः सुन्दरी वृत्तम् । तल्लक्षणम् –

"अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी मता" ॥१॥

आताम्र ... ... प्रसादयामि ॥२॥

आताम्र हरितपाण्डुर – ताम्रो लोहितो हरितो हरिद्वर्णः पाण्डुरः – पीत-शुक्ल इति ताम्र हरित पाण्डुरः आ ईषत् ताम्रहरित पाण्डुरस्तत्सम्बुद्धौ, सत्यमिति वसन्तमासस्य – मधुमासस्य, जीवित: – प्राण, ऋतुमङ्गलचूतकारेक – ऋतु मङ्गल ऋतौ बसंतकालस्य, मङ्गल ! मङ्गलस्वरूप । चूतकारेकरसालकलिके (मया) दृष्टः असि—अवलोकित असि, त्वां प्रसादयामि —अहं भवत्याः प्रसादनं विदधामि । अत्र रूपकमलङ्कारः, आर्या जातिः ॥२॥

त्वमसि ... ... शरो भव ॥३॥

चूताङ्कुरः—आम्रमञ्जरि, मया—मधुरिकया, = त्वं-आम्रमञ्जरी, गृहीतधनुषे गृहीतं धृतं धनुर्येन तस्मै—धृतधनुषे, कामाय— मदनाय, दत्तोऽसि— कामदेवमुद्दि-श्योत्सृष्टोऽसि, पथिकजनयुवतिलक्ष्य—पथिकजनानां प्रवस्तां-युवतयस्तरुण्यो लक्ष्यं शरव्यं यस्य स, पञ्चाभ्यधिकः—पञ्चानाम्—एतत् संख्यकानाम् + बाणानाम्— शराणाम्, अत्यधिकः श्रेष्ठः, शरोभव चापस्स्याः ।

कामस्य पञ्चसायकाः प्रसिद्धा ।
समोहनोन्मादनो च शोषणस्तापनस्तथा ।
स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्त्तिताः ।
अरविन्दमशोकञ्च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्यसायकाः ॥
आर्याछन्दः ॥१॥

चूतानां ... ... शरम् ॥४॥

चूतानां—आम्राणाम्, चिरनिर्गता अपि – बहुकालपूर्वबहिर्गतापि, कलि[illegible] – मञ्जरी, स्वं [illegible] [illegible] न [illegible]मेव धारयति, यदपि कुरबकं –

शोणकुरण्टकपुष्पमुकुलम्, सन्नद्धं=बहिर्निर्गतम्, तत् कोरकावस्थया स्थितम्=तत्कलिकारूपेणैवस्थितम्, शिशिरे गते अपि—शीतर्तौ अतीतेऽपि पुंस्कोकिलानाम् =पुमांस: कोकिला: पुंस्कोकिला: पिका: तेषां = रुतं=कूजितम्, कण्ठेषु—गलबिलेष्वेव, स्खलितम्—निर्गमनकालेलीनम्, शङ्के—मन्ये, स्मर: अपि—काम: अपि, चकित:—राजशासनात् भीत: सन्, तूर्णाधिकृष्टं—तूणत् तूणीरात्—अर्धकृष्टम् अंशतोनिष्कासितम्, शरं—बाणं, संहरति—पुनस्तूणीरे एव स्थापयति ।

शङ्कइत्युत्प्रेक्षाणाम् । अत्र विशेषोक्ति: काव्यलिङ्गमुत्प्रेक्षाचालङ्कारा: ।

शार्दूल विक्रीडितम् वृत्तम् ।

रम्यं .... व्रीडाविलक्षश्चिरम् ।।५।।

(राजा दुष्यन्त:) रम्यं – रमणीय वस्तु; द्वेष्टि – नाभिनन्दति; पुरायथा – पूर्ववत्; प्रकृतिभि: – प्रधानपुरुषै:, अमात्यादिभि:, प्रत्यहं – अनुदिनम् , न सेव्यते–राजकार्यसम्पादनार्थं नोयास्यते । उन्निद्र – उत्सृष्टा निद्रायेन स तथाभूत: – जागरित इत्यर्थ:, शय्याप्रान्तविवर्त्तनै: – शय्यायां-आस्तरणे प्रान्तविवर्त्तनै: – परिलुण्ठनै:, पार्श्वपरिवर्त्तनैरित्यर्थ:, क्षपा:—निशा, विगमयति—नयति, यदा च-यस्मिन् काले च । दाक्षिण्येन—दक्षिण उदार: सर्वानुकूलो वा तस्य भावो दाक्षिण्यं तेन, औदार्येण न तु रागाभिनिवेशेनेत्यर्थ: अथवा सकलवनितासु समानानुरागित्वेन हेतुना, एषु त्वनेक महिलासु समरागो दक्षिण: कथित: इति दर्पणोक्ते:, अन्त: पुरेभ्य:– अन्त:पुरवासिनीभ्य: वनिताभ्य , उचितां—तत्कालयोग्यां, वाच—वाक्यम्. ददाति—प्रयच्छति, तदा गोत्रेषु – नामसु, गोत्र नाम्नि तथान्वये, इति हलायुध: । स्खलित:—भ्रष्ट:, यस्या: कस्याश्चिन्नाम्नि उच्चारयितव्ये भावना कलात्विहित शकुन्तलाभिधान प्रयोग: सन्नित्यर्थ:, चिरं—बहुकालम् व्याप्य, व्रीडया—त्रप-।, लज्जयेत्यर्थ: विलक्ष:–विकल: भवति । पर्यायोक्त, काव्यलिङ्गचालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।५।

प्रत्यादिष्ट ....क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ।।६।।

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि:—प्रत्यादिष्ट:—परित्यक्त:; विशेषेण—मुख्यतया मण्डनस्य प्रसाधनस्यविधि: धारणविधि:, येन स तथाभूत:, वामप्रकोष्ठ र्पितं—वामे दक्षिणेतरे—प्रकोष्ठे वाम कूर्परस्याधोभागे 'प्रकोष्ठ' विस्तृतकरे रूपकक्षान्तरेऽपि च कूर्पराधरे चापि, इति विश्व:, अर्पितं न्यस्तमेकमेव, काञ्चनं – कञ्चनस्येदं, हिरण्मयम् वलयं—कटकम्, बिभ्रत्—धारयन्, काञ्चनवलय धारणं शैत्योपचारार्थं बोध्यम् । श्वासोपरक्ताधर:—श्वासै: निश्वासमारुतै:, उपरक्तो मलिन:, अधरो-अधरोष्ठो यस्य स तथाभूत: चिन्ताजागरणप्रतान्तनयन:—चिन्तया—शकुन्तलाध्यानगतया चिन्तया यज्जागरणं—जागरितं, निद्राच्छेदो वा प्रकर्षेण तान्ते म्लाने नयने यस्य तथाभूत: महाराजो दुष्यन्त:, आत्मन:—स्वीयस्य तेजोगुणात् दीप्तिलक्षणत्क्षीणोऽपि, संस्का-

रोल्लिखितः—संस्कारार्थं—परिष्कारार्थं, उल्लिखितः – शाणघषणादिनामलापकरणेन तनूकृतः, महामणिरिव – अमूल्यरत्नमिव, क्षीणोऽपि — शकुन्तलागतचिन्तया कृशोऽपि । मणिपक्षे घर्षणवशात् क्षययुक्तोऽपि, न आलक्ष्यते—क्षीणत्वेन नावधार्यते, अस्मिन् पद्ये ।

चिन्तेति संकल्पः जागरेति निद्राच्छेदः क्षीणेति तनुता प्रत्यादिष्टेति-विषयनिवृत्ति इति कामदशा. चतुष्टयम् ।

अत्र श्रोतोपमा, स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥६॥

प्रथमं ·· ··· ··· ···विबुद्धम् ॥७॥

प्रथमं—पूर्वम् । सारङ्गाक्ष्या—सारङ्गो हरिणस्तस्येक्षणे इवेक्षणे यस्यास्तया, प्रियया—अतीवहृद्यया शकुन्तलया । प्रतिबोध्यमानं—ज्ञाप्यमानम्, अपीति । सुप्तं—निद्रित वदविदितसर्ववृतान्तं मोहाभिभूतमिति यावत्, इदं—मदीयम्, हतहृदयं—दुष्टहृदयम् । सम्प्रति—इदानीम् । प्रियाया दुर्लभदशाया वेत्यर्थः, अनुशयदुखाय—पश्चात्तापदुखानुभवाय । विबुद्धम् —जागरितम् ।

अत्र पूर्वार्धे विशेषोक्तिः, उत्तरार्धेविभावना । तथा सारङ्गाक्ष्या इत्यत्र लुप्तोपमा । आर्या जातिः ।७॥

मुनि··· ··· ··· ··· चूतशरश्च निवेशितः ॥८॥

सखे ! मित्र ! मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना—मुनिसुतायाः — कण्वपुत्रिशकुन्तलायाः । प्रणयस्य—परिचयस्य । प्रम्णो वा स्मृति—रुणद्धि प्रतिवध्नाति इति तेन, तमसा—मोहेन । मम इद मनः—चेतः, मुक्तञ्च—परित्यक्तञ्च । प्रहरिष्यता—प्रहारं करिष्यता, मनसिजेन—मन्मथेन, कामेनेत्यर्थः, धनुषि—स्वपुष्पचापे, चूतशरः—आम्रमुकुललक्षणो बाणः, निवेशितश्च — मयि निक्षेपार्थं नियोजितश्च । मम तद्वियोगे, वसन्तकालश्च प्रादुरभूत्—इत्यर्थः, चानेक कालं द्योतयतः । अत्र समुच्चयालंकारः, द्रुतविलम्बितम् वृत्तम् ॥८॥

इतः प्रत्यादेशात्··· ··· ··· शल्यं दहति माम् ॥९॥

इतः - मत्पाश्वात् , प्रत्यादेशात्—निराकरणाद् हेतोः, स्वजन —शार्ङ्गरवादिकस्य बन्धुवर्गम्, अनुगन्तुम्—अनुसर्तुम्. व्यवसिता—प्रयत्नं कुर्वाणा । गुरुसमे—पितृसदृशे, गुरुशिष्ये — पितुरन्तेवासिनिशार्ङ्गरवे, तिष्ठ — अनुगमनाद्विरम् । इति उच्चैः—उच्चस्वरेण, वदति सति । स्थिता—गमनात् विरता, बाष्पप्रसर-

कलुषाम् — बाष्पाणां — अश्रूणां, प्रसरेण प्रवाहेण, कलुषां मालिनां, दृष्टि —लोचनं, अर्पितवती—दत्तवती। (इति) यद् तद् — सविषम्—विषेणसहितं सविषं—विषाक्तं, शल्यमिव – बाणाग्रभागइव, मां – दुष्यन्तम्, दहति—तापयति, पीडयतीत्यर्थ। अत्रोपमालङ्कारः, शिखरिणी वृत्तम् ॥९॥

स्वप्नो नु ··· ··· ··· बाम तटप्रपाताः ॥१०॥

तत्—शकुन्तला लक्षणं वस्तु तत्सङ्गमनतन्निबन्धनं सुखं वा, स्वप्नोनु—स्वाप्न वस्तु किम्। त्विति वितर्के, माया नु इन्द्रजालं किम्। मतिभ्रमो नु—बुद्धेर्भ्रान्तिः किम्। तावत्फलम् एव – तन्मात्रं फलं एव। क्लिष्टं—खण्डितं पुण्य नु सुकृतं किम्। असन्निवृत्त्यै—अपुनरावर्त्तनाय, अतीतम्—गतमेव न पुनरावर्त्तिष्यत इत्यर्थः। एते—इमे त्वया कथ्यमाना शकुन्तलायाः पुनः प्राप्तिरूपाः। मनोरथाः —अभिलाषाः, नायं इतिप्रसिद्धः। तटप्रपाताः—तटस्य प्रपातः पतनमिव प्रपातो येषां तादृशाः, यथा वर्षासमये गङ्गादेस्तटा ओघेन पीड्यमाना अहमहमिकया पतन्ति। एकः गिरति तदुपर्यन्यस्तदुपरीताः। इत्थमेव मनोरथानामेके विलीयन्तोऽन्य उत्पद्यन्ते तेऽपि विलीयन्ते तदितो उत्पद्यन्ते इत्यर्थः। 'प्रपातस्त्वतटोभृगुः' इति कोषः। अत्र सन्देह, काव्यलिङ्गालङ्कारौ। उपजाति वृत्तम् ॥१०॥

तव सु··· ··· ··· ··· लब्धपदं यदङ्गुलीषु ॥११॥

हे अङ्गुलीय—हे मुद्रिके। तव सुचरितं—तादृशफलनिदानभूतं पुण्यम्। मम इव—दुष्यन्तस्य इव। नूनं—निश्चितम्, प्रतनु—प्रकृष्टं तनु—स्वल्प। फलेन —क्षुद्रफलदर्शनेनेत्यर्थः। विभाव्यते—इतिमयाऽनुमीयते। यत्—यस्मात्। अरुणनखमनोहरासु—अरुणैः रक्तवर्णैः नखैः मनोहरासु। तस्याः-शकुन्तलायाः, अङ्गुलीषु— रमणीयास्वङ्गुलीषु। लब्धपदम्—लब्धं प्राप्तं पदेस्थान येन तत्सदपि। च्युतम्— भ्रष्टमसि। अत्र—अनुमान काव्यलिङ्गानुप्रासालङ्काराः; पुष्पिताग्रा वृत्तम्।

अयुजि नयुगरेफतोयकारोयुजि च नजौजरगाश्च पुष्पिताग्रा ॥११॥

एकैकमत्र ··· ··· ···समीपमुपैष्यतीति ॥१२॥

हे प्रिये! शकुन्तले! दिवसे-दिवसे—प्रतिदिनम्। एकैकम्—एकमेकमित्येकैकं, मदीयं—मम, नामाक्षरं—नाम्नोऽक्षरं 'दुष्यन्त' इति यथाश्रुतं वर्णं गणयगणितं कुरु, यावद्—यस्मिन्नेव काले, अन्तं—गणनाया अन्तम्, गच्छसि, तावद् —तदा, तस्मिन्नेव समये वा, मदवरोधगृहं—ममान्तः पुरं तत्रप्रवेशं—द्वारम्, नेता —प्रापकः जनः, तवसमीपं—तवान्तिकम्, उपैष्यति—आगमिष्यति, इति अस्मिन् पद्ये— विभावनार्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ। वसन्त वृत्तम्॥१२॥

कथं नु··· ··· ··· ···कस्मादवधीरिता प्रिया ॥१३॥

बन्धुरकोमलाङ्गुलिम्—बन्धुरा सुन्दराः कोमलाः मृदवश्चाङ्गुलयो यत्र तादृशम्, 'बन्धुरं सुन्दरं रम्ये' इति विश्वः, तं करं—हस्तं, विहाय—अपहाय, कथं नु—केन प्रकारेण। अम्भसि—जले, निमग्नमसि, अथवा—अचेतनम् चेतनारहित, वस्तुगुणं नाम—सौन्दर्यादिकं प्रेमादिकं वा। न लक्षयेत्, मया एव—दुष्यन्तेनैव। कस्मात्—केन। निमित्तेन। प्रिया—हृदयसर्वस्वभूताशकुन्तला। अवधीरिता—तिरस्कृता। न तु त्यक्ता। अचेतनेन तु गुणवतोवस्तुन कथमपि उपेक्षा न क्षम्य, न तु चेतनेनेत्यर्थः। अत्र विभावनार्थान्तरन्यासश्चालङ्कारौ। वंशस्थं वृत्तम् ॥१३॥

यद्यत्साधु ··· ··· किंचिदन्वितम् ॥१४॥

चित्रे—आलेख्ये। यद् यत साधु शोभनं कृतं न स्यात्—न भवेत्। तत् तत्—अङ्गं संस्थानं वा। अन्यथा क्रियते—वस्तुस्थिति विपरीतं कृतं—अवगन्तव्यम् तथापि—एव चित्रकारपद्धतौ सत्यामपि। तस्याः—शकुन्तलाया। लावण्यं—सर्वाङ्गव्यापि सौन्दर्यम्। रेखया—सद्विहितचित्रेण। किञ्चिद्—ईषदेव। अन्वितं—सम्बद्धम्। अत्र पथ्यावक्त्रं वृत्तम्।

"युजोश्चतुर्थतोजेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्" ॥१४॥

स्विन्नाङ्गुलि ··· ··· ··· वर्तिकोच्छ्वासात् ॥१५॥

रेखाप्रान्तेषु—रेखाणां चित्रस्य, प्रान्तेषु पर्यन्तभागेषु, मलिनः—कृष्णवर्णः, स्विन्नाङ्गुलिनिवेशः—स्विन्नाया: प्रिया—प्रकृतिःचित्रणकाले कामविकाराविर्भावात् श्रुतस्वेदार्द्रयाः, अंगुले निवेषः स्थापनं तस्मात्; दृश्यते—अवलोक्यते, अनेन स्वेदो नाम सात्विकभावोलक्षितः, इदम् च एनच्च, कपोलपतितम्—कपोले-शकुन्तलायाः कपोले, पतितम्, अश्रु-बाष्पं वर्णस्योच्छ्वासात्, स्फोतत्वात्; दृश्यम्—लक्ष्यम्।

अनुमानालङ्कारः, आर्याछन्दः ॥१५॥

साक्षात्प्रिया ··· ··· ··· मृगतृष्णिकायाम् ॥१६॥

हे सखे!—हे मित्र!, पूर्वं—प्रथमम्, साक्षात् प्रत्यक्षेण; उपगताम्—उप समीपे गतां प्राप्ताम्; प्रियां—शकुन्तलां; अपहाय—अवगणय्य न तु त्यक्त्वा; पुनः चित्रार्पितां—परमधुना; चित्रार्पितां—आलिखितां प्राणादिशून्यामित्याशयः; इमां—पुरतो दृश्यमानाम्; बहुमन्यमानः—अत्यादरेणावलोक्यमानः सन्; (अहम्) पथि मार्गे; निकामजला—निकामं-प्रभूत जलं यस्यां तादृशीं; स्रोतोवहाम्—नदीं; अतीत्य—अतिक्रम्य, मृगतृष्णिकायाम्—मृगमरीचिकायाम्, प्रणयवान्—प्रीतिमान् साभिलाषो वा, जातः संवृत्तोऽस्मि।

अत्र निदर्शनालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥१६॥

कार्या .... मृगीम् ॥१७॥

सैकतलीनहंसमिथुना—सैकते बालुकामयतटे लीनानि सुखोपविष्टानि हंसानाम् मिथुनानि—द्वन्द्वानियस्याः सा, मालिनी—तन्नाम्नी, स्रोतोवहा—नदी, कार्या—कर्त्तव्या चित्रयितव्येत्यर्थः, तां—मालिनीं, अभितः—पार्श्वतः निषण्णहरिणाः—निषण्णा—उपविष्टा हरिणा मृगाः येषु ते, गौरीगुरोः—हिमालयस्य, पावनाः—पवित्राः, पादाः=चरणाः, शाखावलम्बित वल्कलस्य—शाखासुअवलम्बितान्यवसक्तानि वल्कलानि वृक्ष-त्वचो यस्य तस्य, तरोः अधः—कस्यचित् वृक्षस्य तले, कृष्णमृगस्य—कृष्णसाराख्यहरिणस्य, शृङ्गे—विषाणे, वामनयनम्—सव्यं नेत्रम्, कण्डूयमानाम्—घर्षयन्तीं, मृगीं च—हरिणीं च, निर्मातुं—चित्रयितुं, इच्छामि—अभिलषामि।

तुल्ययोगिता स्वभावोक्तिश्चालङ्कारौ। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१७॥

कृतं न .... स्तनान्तरे ॥१८॥

हे सखे ! हे मित्र ! कर्णार्पितबन्धनं=कर्णयोः श्रोत्रयोः=अर्पितं—निवेशितम् बन्धनं वृत्तं यस्य तत्, आगण्डविलम्बिकेसरम्—आगण्डलं—कपोलपर्यन्तं, विलम्बिनः लम्बमानाः केसरा, किञ्जल्काः यस्य तत् तथोक्तम्, शिरीषम्=शिरीषपुष्पं, न कृतं=न लिखितम्, स्तनान्तरे=कुचयोरभ्यन्तरे, शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् =शरच्चन्द्रस्य=शरदिन्दोः, मरीचिवत्कोमलं=सुकुमारं, मृणालसूत्रम्=बिसतन्तुः, न वा रचितम्=विस्मरणाद्वा चित्रितम्। अत्र समुच्चय लुप्तोपमालङ्कारौ। वंशस्थविलं वृत्तम् ॥१८॥

एषा .... त्वया पिबति ॥१९॥

अनुरक्ता=अनुरागवती, एषा=पुरोदृश्यमाना, मधुकरी=भ्रमरी, तृषिता =पिपासिता सत्यपि, कुसुमनिषण्णा=पुष्पोपविष्टा, सती अपि भवन्तीं=त्वां, प्रतिपालयति=प्रतीक्षते, त्वया=भ्रमरेण, विना-विरहिता खलु=यस्मात् मधु= पुष्परसं, न पिबति = नास्वादयति। अत्र समासोक्तिरतिशयोक्तिश्चालंकारौ। आर्या छन्दः ॥१९॥

अक्लिष्टः .... कमलोदरबन्धनस्थम् ॥२०॥

हे भ्रमर ! हे मधुकर ! अक्लिष्टबालतरु=अक्लिष्टः=भङ्गाद्यभावेनामृदित अशुष्क इति वा, बालः अभिनवोद्गतः यः तरुपल्लवस्तमिव लोभनीयं=लोभजनकम्, मया=दुष्यन्तेन, रतोत्सवेषु=प्रेमोत्सवेषु सदयम्=दयया-सहितम्, एव, पीतम्= चुम्बितम्, प्रियायाः=शकुन्तलायाः, बिम्बाधर=पक्वबिम्बफलसदृशमोष्ठम्, चेत् यदि, स्पृशसि=दन्तक्षतं करोसि, त्वाम्, कमलोदरबन्धनस्थम् कमलस्योदरेमध्ये बन्धनस्थ बद्धंकारयामि।

अत्रातिशयोक्तिः समासोक्तिश्चालङ्कारौ। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२०॥

दर्शन ...... - ... -.. .... - चित्रीकृता कान्ता ॥२१॥

तन्मयेन=कान्तामयेन, हृदयेन=चेतसा, साक्षात् इव=प्रत्यक्षत इव, "साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इत्यमरः, दर्शनसुखम्=प्रियावलोकनानन्दम् अनुभवतः= उपलभमानस्य, मे=मम स्मृतिकारिणा=चित्रमिदमितिस्मरणं कारयता, त्वया; कान्ता=मनोरमा, पुनः अपि=भूयोऽपि, चित्रीकृता अनुभववशाद् चित्रमयी स्थिता अथवा चित्रीकृता साश्चर्याकृतेत्यर्थः, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्, इत्यमरः; इवेत्युत्प्रेक्षायाम्। अत्रोत्प्रेक्षालंकारः, आर्या जातिः ॥२१॥

प्रजागरात् ... ... चित्रगतामपि ॥२२॥

प्रजागरात्—अत्यधिकं जागरणात्, हेतो, तस्याः—शकुन्तलायाः, स्वप्ने—स्वप्नावस्थायाम्, समागमः—सङ्गमः, खिलीभूतः—निरुद्धः, बाष्पः—नयनजलम्, तु—पुनः, चित्रगततामपि चित्रलिखितामपि, एनां—शकुन्तलाम्, द्रष्टुं—अवलोकयितुं, न ददाति—न करोति, नयनावरणादितिभावः। 'बाष्पनेत्र जलोष्मणोः' इति विश्वः। हेतुरलंकारः, पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥२२॥

येन येन... ... ...इति घुष्यताम् ॥२३॥

प्रजाः—राज्यस्थाः जनाः 'प्रजास्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः। येन येन स्निग्धेन—स्नेहवता 'स्निग्धं स्नेहयुते चिक्कणोऽपिस्यात्' इति मेदिनी। बन्धुना—सुतादिबान्धवजनेन। वियुज्यन्ते—वियुक्ता भवन्ति। पापात् ऋते—पाप बिना। दुष्यन्तः—राजा। तासां—प्रजानाम्। सः सः—तत्तदबन्धुस्थानीयोऽस्तीति घुष्यन्तां—घोषणां क्रियताम्।

पथ्यावक्त्र वृत्तम्। अत्र सहाय्यनामको नाट्यालंकारः ॥२१॥

संरोपिते... ... ...इवोप्तबीजा ॥२४॥

काले—योग्यसमये। उप्त बीजः—उप्तं रोपितं—बीजं यस्याः सा तथा भूता कृतबीजवपनेत्यर्थं। अतएव - महते फलाय—प्रभूतायशस्याय कल्पिष्यमाणा—प्रभविष्यन्ती, प्रसूतं शस्यं जनयतीत्यर्थः। वसुन्धरा इव—भूमिः इव। कुलप्रतिष्ठा—कुलस्य, वंशस्य; प्रतिष्ठा स्थितिर्यया सा। धर्मपत्नी—धर्मानुसारेण परिगृहीता स्त्री-शकुन्तला। आत्मनि—स्वस्मिन्। संरोपितेऽपि—पुत्रगर्भरूपेणात्मनि स्थापितेऽपि। मया—दुष्यन्तेन। त्यक्ता नाम—अवधीरिता। नामेति कुत्सायाम्। एतन्मया निन्दितमाचरितमित्यर्थः; अतएव धिङ् मामेति भावः।

अत्रोपमा काव्यलिङ्गालङ्कारौ। उपजाति वृत्तम्।

अस्मात्परं ... ... पितरः पिबन्ति ॥२५॥

बतेति खेदे। अस्मात्—दुष्यन्तात्। परं—पश्चात्। कुले—वंशे। यथाश्रुति—श्रुतिमनतिक्रम्य यथाश्रुति—वेदोक्तविधानेन। अनतिक्रमार्थेऽव्ययीभावः। संभृतानि—

सम्यग्योजितानि निवपनानि—तर्पणप्रभृतीनि । कः—पुरुषः । नियच्छति—प्रददाति । इति—हेतोः नूनं—निश्चयेन । पितरः—मम पूर्वपुरुषाः, प्रसूतिविकलेन—सन्तत्या-रहितेन तनयहीनेनेत्यर्थः । मया—दुष्यन्तेन । प्रसिक्तं—तेभ्योदत्तम् । उदकं—तर्पणजलम् । धौताश्रुशेषम्—धौतः क्षालितः अश्रुसेकः—बाष्पबिन्दुर्येन तद्यथास्यात्तथा । पिबन्ति—आचमन्ति ।

अत्रोत्प्रेक्षा काव्यलिङ्गालङ्कारौ । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२५॥

अहन्यहन्यात्मन ... ... शक्तिः ॥२६॥

अहनि अहनि—प्रतिदिनम् । आत्मन एव स्वस्यैव । प्रमादस्खलितं—प्रमादेन अनवधानतया जातं, स्खलितं—दुराचरण त्रुटितमिति यावत् । तावत्—तावत्कालपर्यन्तम् । ज्ञातुं—अवगन्तुं । न शक्यं—न सम्भाव्यते, प्रजासु—प्रकृतिषु, स्वराज्यवासिनिजजनेष्विति यावत् । कः केनपथा—केन मार्गेण । प्रयाति—व्रजति । इति अशेषतः—समग्रं । वेदितुं—ज्ञातुं । शक्तिः अस्ति—सामर्थ्यं वर्त्तते । का कथा नास्तीत्यभिप्रायः ।

अत्रा प्रस्तुतप्रशंसालंकारः । उपजातिः वृत्तम् ॥२६॥

एष ... ...भवत्विदानीम् ॥२७॥

अभिनवकण्ठशोणितार्थी—अभिनवं—तस्य अर्थीकामी, नूतनं, यत् कण्ठ—शोणितं गलरुधिरं शार्दूलः—व्याघ्रः शार्दूलद्वीपिनौव्याघ्र, इत्यमरः । पशुमिव—मृगादिकमिव । चेष्टमानम्—इतस्तत आत्मरक्षणाय पलायमानम्, त्वां—माढव्यं एष—अहम्, हन्मि—व्यापादयामि—नाशयामीत्यर्थः । आर्त्तानाम्—पीडितानाम् । भयं—भीतिः, अपनेतुं—दूरीकर्त्तुं, आत्तधन्वा—आत्तं गृहीतं, धन्वा—धनुर्येन स तथा भूतः, दुष्यन्तः, इदानीम्—अस्मिन्नवसरे, तव शरणं—रक्षकः, भवतु ।

अत्रोपमालंकारः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥२७॥

यो हनिष्यति... ... ...वर्जयत्यपः ॥२८॥

यः—इषु, वध्यं—वधयोग्यं । त्वां, हनिष्याति—प्रहरिष्यति, रक्ष्यं—निरपराधत्वेनावश्यम् रक्षायोग्यम्, द्विजं—माढव्यब्राह्मणं । रक्षति—रक्षां विदधाति । हि—निश्चयेन, हंसः—तदाख्यपक्षिविशेषः, क्षीरं—दुग्धम्, आदत्ते—जलमध्याद्गृह्णाति । तान्मिश्राः—क्षीरसम्पृक्ताः, अपः—जलानि । वर्जयति—त्यजति । तथाव स्वभाव एवयमित्यर्थः । दृष्टान्तोऽलङ्कारः, श्लोको वृत्तम् ॥२८॥

कृताः ... ... दारुणाः शराः ॥२९॥

हरिणा—इन्द्रेण । असुराः—राक्षसाः, तव—दुष्यन्तस्य । शरण्यं—लक्ष्य । कृताः—विहिताः, तेषु—दैत्येषु, इद—एतद् । शरासनं—धनुः,

विकृष्यताम्—आकृष्यताम् । सतां—प्रशस्तपुरुषाणाम् । सुहृज्जने—मित्रजने । प्रसादसौम्यानि—प्रसादेनप्रसन्नतया—सौम्यानि—सुन्दराणि "सौम्यन्तु सुन्दरे सोमदैवत" इत्यमरः, चक्षूंषि—नेत्राणि । पतन्ति+दारुणाः—भीषणाः, शराः—बाणाः, न—नहि, पतन्तीति भावः, अत्रार्थान्तरन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा काव्यलिङ्गश्चालङ्काराः, वंशस्थ वृत्तम् ॥२९॥

सख्युस्ते··· ··· ··· ··· —चन्द्रः ॥३०॥

स—दानवगणः, विलेति प्रसिद्धौ । ते=तव, सख्युः=मित्रस्य, शतक्रतोः=इन्द्रस्य, अजय्यः=जेतुमशक्यः, त्वं=दुष्यन्तः । रणशिरसि=युद्धाग्रे, तस्य=दानवगणस्य, निहन्ता=नाशयिता, स्मृतोऽसि=शतक्रतुनैव निर्णीतः, सप्तसप्तिः=सप्ताश्ववाहनः सूर्यइतियावत् । यतः नैशं—निशा भवम्; तिमिरम्—अन्धकारम् । उच्छेत्तुं=विनाशयितु, न प्रभवति=न शक्नोति, तत् चन्द्रः अन्धकारं, अपाकरोतिः=विध्वंसयति ।

अत्र दृष्टान्तोऽलंकारः, प्रहर्षिणी वृत्तम्, ॥३०॥

ज्वलति ··· ··· ··· ··· ··· ··· हि जनः ॥३१॥

अग्निः=वह्निः; चलितेन्धनः=चलितं प्राप्तचालनं चुल्ल्यादौ पुनर्निक्षेपात् सञ्चारितमिति यावत्; इन्धनं=काष्ठं यस्मिन् स तादृशः सन् । ज्वलति=दहति । पन्नगः=सर्पः । विप्रकृतः=तिरस्कृतः । फणांकुरुते=दर्शयति । 'करोतिसर्वधात्वर्थं वक्तीत्यभियुक्तोक्ते ।' फणोत्तोलनपूर्वकं स्वपराक्रममाविष्करोतीतितात्पर्यम् । हि=यतः । जनः=सकलोलोकः । प्रायः=प्रायेण । क्षोभात्=उत्तेजनात् । स्वं=स्वीयम् । महिमानं=पराक्रमम् । प्रतिपद्यते=आसादयति, आविष्करोतीतिभावः ।

अत्राप्रस्तुतप्रशंसार्थान्तरन्यास, दृष्टान्तश्चालंकाराः । आर्या छन्दः ।

त्वन्मतिः केवला ··· ··· ··· ··· व्यापृतं धनुः ॥३२॥

केवला=एकाकिनी; त्वन्मतिः—तवबुद्धिः । तावत्—सम्प्रति; प्रजाः राज्यस्थितान् जनान्; पालयतु—अवतु—परिरक्षत्वित्यभिप्रायः; इदं—मदीयम्; अधिज्यं—अध्यारूढाज्यायत्र तत्; युक्तमौर्वीकञ्च; धनुः—कार्मुकम् । अन्यस्मिन्—दानवधरूपे; कर्मणि=कार्ये व्यापृतम्-नियुक्तम् ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥३२॥

॥ इति षष्ठोऽङ्कः ॥

अथ सप्तमोऽङ्कः

प्रथमोपकृतं ... ... सत्क्रियागुणान् ॥ १ ॥

भवान्–दुष्यन्तः; मरुत्वतः–इन्द्रस्य; प्रतिपत्त्या पश्चात् कृतेन गौरवेणेत्यर्थः; प्रथमोपकृतम् – प्रथमं पूर्वं मपकृतं–उपकारं; लघु – स्वल्पं – मन्यते – विचारयति; सोऽपि – इन्द्रोऽपि; भवत. अवदानेन––शुद्धकर्मणा विस्मयः – जाताश्चर्यः; सत्क्रियागुणान् – स्वकृतसम्मानायां यत्नातिशयादीन्; न गणयति – न साधु मन्यते।

विभावना विशेषोक्तिश्चालङ्कारौ ॥१॥

अन्तर्गत ... ... हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

अन्तिकस्थं – समीपवर्त्तिनं न तु दूरस्थं। अन्तर्गतप्रार्थनम्–अन्तर्गता–हृद्गता न पुनर्वाचा प्रकाशिता प्रार्थना–मन्दारमाला विषयिणी याच्ञा यस्यतम्; जयंतम् जयन्ताभिधानं स्वसुतं=''जयन्तः पाकशासनिः'' इत्यमरः। उद्वीक्ष्य अधिकं दृष्ट्वा; कृतस्मितेन—कृतं स्मितं मन्दहासो येन तेन, हरिणा—इन्द्रेण, आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का– आमृष्टं-स्पष्टं यद् वक्षस उरसो हरि चन्दनानुलेपस्तस्यांकचिह्नं यस्या सा; मन्दारमाला—मन्दारपुष्पाणां स्रग्; पिनद्धा—मम कण्ठे परिधापिता न तु दत्ता; । अत्र उदात्तालङ्कारः। उपजाति वृत्ति ॥२॥

सुखपरस्य ... ... पुरा नखैः ॥३॥

अधुना सम्प्रति नतपर्वभिः नतानि पर्वाणि; ग्रंथयो येषां तैस्तथा विधैः; तवशरैः–दुष्यन्तस्य बाणैः; पुरा च–पूर्वस्मिन् काले च; (नतपर्वभि-नतानि-किञ्चित् कुञ्चितानि कुञ्चितानि पर्वाणि अङ्गुलिपर्वभागा येषां तैः) पुरुषकेसरिणः—पुरुषश्चासौ—केसरीचेति तस्य नृसिंहस्य भगवतः; नखैः—नखरैश्च; उभयैः–कर्त्तृभिः; सुखपरस्य—सुखं परं प्रधानं यस्य तस्य—भोगेष्वसक्तस्य हरेः—इन्द्रस्य; त्रिदिवम्—स्वर्गं; उद्धृतदानवकण्टकं—उद्धृताः समूलमुत्पाटिता दानवा·राक्षसा एव कण्टका यस्या-तथाविधं विहितम्।

दीपकमलङ्कारः। द्रुतविलम्बितम् वृत्तम् ॥३॥

सिध्यन्ति -- ... ... धुरि नाकरिष्यत् ॥४॥

महत्सु—गुरुतरेषु+अपि कर्मसु; नियोज्याः—नियोक्तुं योग्याः। सिध्यन्ति—कृतकार्या भवन्ति; यत्सम् ईश्वराणां – प्रभूणां; सम्भावनायाः—बहुमानस्य·नियोज्येभ्योबहुमानकरणस्येति यावत्। गुणम्—अङ्गम्; अवेहि=अवगच्छ; किम् वा –अरुणः—सूर्यसारथिः; तमसां विभेत्ता तिमिराणां नाशकः; अभविष्यत्—चेत्तर्हि;

सहस्रकिरण:—सहस्रं किरणा यस्य स: सूर्य:; तं—अरुणं; धुरि—अग्रे; न अकरिष्यत् कथमपि नैवेत्यर्थ: ।

अत्राप्रस्तुतप्रशंसा अर्थान्तरन्यासालङ्कारौ । वसन्ततिलका—छन्द: ।।४।।

विच्छित्तिशेषै: ... ... त्वच्चरितं लिखन्ति ।।५।।

अमी—एते, दिवौकस:—देवा:, गीतक्षमम्—सङ्गीतयोग्यम्, अर्थजातम्—अर्थसमूहं विचिन्त्य—विचार्य सुरसुन्दरीणां—देवाङ्गनानाम्, विच्छित्तिशेषै: अङ्गरागावशिष्टै:, वर्णै:=रञ्जनसाधनै रक्तपीतादिभिर्वर्णकै:, कल्पलतांशुकेषु=कल्पतरुसमुद्भूतवसनेषु त्वच्चरितं=परोपकारप्रदिरूपं भवत: चरितम्, लिखन्ति=अत्रोदात्तालङ्कार: परिणामालङ्कारश्च । उपजाति वृत्तम् ।।५।।

त्रिस्रोतसं ... ... वदन्ति मार्गम् ।।६।।

गगनप्रतिष्ठां=गगने आकाशे प्रतिष्ठा स्थिति, यस्यास्ताम्, त्रिस्रोतसम्=गङ्गां, मन्दाकिनीमिति यावत् । वहति—धारयति । प्रविभक्तरश्मि:—प्रविभक्ता रश्मयो नक्षत्राणां किरणा यस्मिन् कर्मणि ज्योतींषि—ग्रहनक्षत्रादीनि । वर्त्तयति—चालयति धारयति वा । च तस्य—तादृशगुणोपेतस्य । परिवहस्य—नाम । वायो—पवनस्य । द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्—द्वितीयेन, हरे:—वामनस्य, विक्रमेण पादक्षेपेण निस्तमस्क—पापरहितं शोकरहितं च इमम्—एनं । मार्गं—पन्थानं वदन्ति—कथयन्ति । अत्र—उदात्तालङ्कार: वसन्ततिलकं वृत्तम् ।।६।।

अयमरविवरेभ्य .... सीकरक्लिन्ननेमि: ।।७।।

सीकरक्लिन्ननेमि:—सीकरै: जलकणै:, क्लिन्ना:—आर्द्रीकृता: नेमय:—चक्रप्रान्ता: यस्य स तादृश:, अयं—एष, ते रथ:—स्यन्दन:; अरविवरेभ्य:—अराणि—चक्राङ्गानि तेषां विवरेभ्यश्छिद्रेभ्यो: निष्पतद्भि:—निर्गच्छद्भि:; चातकै:—पक्षिविशेषै; अचिरभासाम् अचिरं अचिरस्थायिन्य:—भास: दीप्तयो, यासां तासाम् विद्युताम्; तेजसा—प्रकाशेन; अनुलिप्तै:—व्याप्तै:; हरिभि:—वाजिभि:; च—वारिगर्भोदराणाम्—वारीणि-जलानि; गर्भे-मध्ये येषां तानि तथोक्तानि च उदराणी—अभ्यन्तरावकाशा येषां तेषां । तादृशानाम्; घनानाम्—मेघानाम्; उपरिगतम्—ऊर्ध्वं भागे गमनम्; पिशुनयति—सूचयति; "पिशुनौ खलसूचकौ" इत्यमर: । मालिनी वृत्तम् ।।७।।

शैलानामवरोहतीव ... . सत्पार्श्वमानीयते ।।८।।

मेदिनी—क्षिति:; उन्मज्जम्—उन्नमताम् । शैलानाम्; शिखरात्—शृङ्गात्; अवरोहतीव—अधोगच्छतीव; पादपा:—वृक्षा:; स्कन्धोदयात्—मूलाच्छाखावधिदेशानाम्; नयात्—...... स्यात् मूलाच्छाखा-

पवेस्तरोः।" इत्यमरः; पर्णाभ्यन्तरलीनतां—पर्णषु पत्रेषु अभ्यात्मनोऽन्तरे मध्ये लीनतां-निगूढत्वं; विजहति — त्यजन्ति; तनुभावनष्टसलिलाः—तनुभावेन—क्षीणत्वेन नष्टं अदृश्यम्—सलिलं यासां ताः; आपगाः—नद्यः; सन्तानैः—विस्तारैः; 'सन्तानो विस्तृतौ देववृक्षे चापत्यगोत्रयोः" इति धरणिः; व्यक्ति—प्रकट्यताम्; भजन्ति व्रजन्ति; गच्छन्तीत्यर्थः; पश्य—अवलोकय; उत्क्षिपता—ऊर्ध्वं कुर्वता; केनापि; भुवनम—भूलोकौ+महार्णवं—मम समीपम्; आनीयते—प्राप्यते—इव; अत्रोत्प्रेक्षा; स्वभावोक्ति, काव्यलिङ्गालंकाराः। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥८॥

स्वायम्भुवात् ········ ········ ···तपस्यति ॥९॥

स्वायम्भुवात्—स्वयं आत्मना भवतीति स्वयम्भूर्ब्रह्मा तस्यापत्यम् इति स्वायम्भुवः यस्तस्मात्। मरीचेः—मरीचिनाम्नो मुनेः। यः प्रजापतिः=कश्यपः। बभूव सुरासुरगुरुः—सुराणां देवानाम्; असुराणां दैत्यानाम् च गुरुः पिता; सः—कश्यपः; सपत्नीकः—पत्न्या—देवजनन्या आदित्यासह वर्त्तत इति स तथाभूतः सन्; अत्र—अस्मिन् हेमकूटपर्वते; तपस्यति—तपस्यामाचरति। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥९॥

उपोढशब्दा ··············· ······ रथो न लक्ष्यते ॥१०॥

अभूतलस्पर्शतया—भूतलस्पर्शऽभावात् रथाङ्गनेमयः—रथचक्र—प्रान्तभागः; उपोढशब्दाः—उपोढः शब्दः याभिस्ताः कृत—ध्वनय इत्याशयः न—नैव, रजः—धूलिः, च प्रवर्तमानम्—उद्गच्छत् न—नहि; दृश्यते—अवलोक्यते, अनिरुद्धतः=निरोधाभावात् तव रथः अवतीर्णः—पृथ्वीतलमवतीर्णः न लक्ष्यते—न ज्ञायते।

विशेषोक्ति-काव्यलिङ्गालङ्कारौ। वंशस्थं वृत्तम् ॥१०॥

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिः ··· ··· ··· ··· ··· ··· स्थितः ॥११॥

वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्तिः=वल्मीकस्य अग्रे अग्रभागे निमग्ना मूर्तिर्यस्यासौ संदष्टसर्पत्वचा—संदष्टाः सर्पाणां त्वचः यत्र सः तेन उरसा=उरस्थलेन उपलक्षित इत्यर्थः, जीर्णलताप्रतानवलयेन=जीर्णानां लतानां प्रतानं समूहः तदेव वलयं तेन जीर्णलतामण्डपेनेत्याशयः, कण्ठे—कण्ठभागे, अत्यर्थसंपीडितः=अत्यर्थं अत्यन्तं संपीडितः संलग्नः अंसव्यापि,=स्कन्धप्रसृतं शकुन्तनीडनिचितम्=शकुन्तानां पक्षिणां, नीडैः कुलायैः, निचितम् व्याप्तम् जटामण्डलम्=जटाजूटम् बिभ्रत्=दधत्, स्थाणुः=शाखाविहीनशुष्कवृक्षः, इव=समानं, अचलः=स्थिरः, असौ मुनिः=महर्षि, यत्र=यस्मिन् प्रदेशे, अर्क- बिम्बम्=सूर्यबिम्बम् इव अभिलक्ष्यीकृत्य स्थितः।

श्लेषोपमापरिकरालङ्काराः, शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥११॥

प्राणानाम् ··· ········ ··· ······अमी ॥१२॥

सत्कल्पवृक्षे=सन्तः कल्पवृक्षाः यत्र तस्मिन् कल्पपादपशोभिते, इतिभावः,

वने = अरण्ये, अनिलेन = वायुना, प्राणानाम् वृत्तिः — प्राणाधारणवृत्तिः, उचिता अवश्यकर्त्तव्या काञ्चनपद्मरेणुकपिशे-काञ्चनपद्मानां = सुवर्णकमलानां रेणुभिः परागैः कपिशं पिङ्गलवर्णं तस्मिन् स्वर्णपद्मपरागपिङ्गले इत्याशयः, तोये = जले, धर्माभिषेकक्रिया = धर्मार्थं न तु कामोपभोगार्थम् अभिषेकक्रियाः, स्नानक्रिया, रत्नशिलातलेषु = रत्नशिलाफलकेषु, ध्यानं = ध्यानक्रिया न तु विहारक्रिया, विबुधस्त्रीसंनिधौ = देवाङ्गनासामीप्ये, संयमः = इन्द्रियनिग्रहः, अयमुनयः = अथ तपस्विनः; तपोभिः = तपश्चर्याभि यत् कांक्षन्ति = इच्छन्ति तस्मिन् अमी = मुनयः, तपस्यन्ति = तपश्चरन्ति ।

विशेषोक्ति काव्यलिङ्ग लङ्कारो, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१२॥

मनोरथाय ... ... परिवर्तते ॥१३॥

हे बाहो ! मनोरथाय = शकुन्तलाप्राप्त्यै, न = नहि, आशंकसे = आशां हृदये धारयसि, वृथा = मुधा, किम् = किमर्थम्, स्पन्दसे = स्फुरसि, हि = यतः, पूर्वावधीरितं = पूर्वम् अवधारितं, तिरस्कृतं श्रेयः = कल्याणं दुःखम् = यथा स्यात्तथा क्लेशेनैव परिवर्तते यद्वा दुःखरूपेण परिणमति ।

अतिशयोक्तिऽर्थान्तरन्यासालङ्कारौ । अनुष्टुप् छन्दः ।

अर्धपीतस्तन ... ... कर्षति ॥ १४ ॥

मातुः = सिंह्याः, अर्धपीतस्तनं = अर्धं पीतः स्तनः येन सः तम् किञ्चित् पीतस्तनमित्याशयः । आमर्दक्लिष्टकेसरम्-आमर्देन आकर्षणेन क्लिष्टाः स्रस्ताः केसराः यस्यासौ तम्, सिंहशिशुं-सिंहबालकम्, प्रक्रीडितुम् — क्रीडानिमित्तम् बलात्कारेण — प्रसह्य, कर्षति — स्वाभिमुखं समाकर्षति ।

स्वभावोक्त्युदात्तालङ्कारौ, अनुष्टुब्वृत्तम् ॥१४॥

महतस्तेजसो ... — ... ... स्थितः ॥१५ ।

महतः — वृहतः, तेजसः बीजम् — तेजो निदानम् अयम् — एष बालः — बालकः, स्फुलिङ्गावस्थया अग्निकणावस्थया, एधापेक्षः — इन्धनापेक्षः, वह्निः — अग्निः, इव समान ये — मम, प्रतिभाति — प्रतीयते ।

अत्रोपमाऽलङ्कारः, अनुष्टुप् छन्दः ॥१५॥

प्रलोभ्यवस्तु प्रणयप्रसारितो ... ... एकपङ्कजम् ॥ १६ ॥

वस्तुनः प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः — प्रलोभयस्य लोभोत्पादकस्य क्रीडनकस्य प्रणयेण लोभेन प्रसारितः, जातग्रथिताङ्गुलि — जालबद्ग्रथिता अङ्गुलयः यस्यासौ बालवत्सं क्लिष्टाङ्गुलिरित्याशयः; (अस्य) — करः — हस्तः; इद्धरागया — समृद्धलोहित्यया; नवोषसा — नूतनप्रभातसन्ध्ययाः भिन्नम् — किञ्चिद्विकसितम्; अलक्ष्य पत्रान्तरम् — अप्रकटितपत्रसन्धि; एकं पङ्कजम् — श्रेष्ठकमलम्; इव — सदृशं; विभाति — शोभते । उपमाकाव्यलिङ्गालङ्कारौ, वंशस्थं वृत्तम् ॥१६॥

आलक्ष्यदन्तमुकुलान्''' '' '''मलिनीभवन्ति । १७।।

अनिमित्तहासैः – अकारणप्रहासैः; आलक्ष्य दन्तमुकुलाम् – ईषद्विकसित-दन्तकुड्मलान्; अव्यक्तवर्णा रमणीयवचः प्रवृत्तीन् अथवा वर्णं यासु ताः अथवा वर्णाः; अत एव रमणीया वचसां प्रवृत्तयः येषाम् तान्; अङ्काश्रय प्रणयिनः – अङ्क उत्सङ्गे च आश्रयः स्थितिः तत्र प्रणयः प्रेम येषान्तान्; तनयान्--पुत्रान्; वहन्तः – धारयन्तः धन्याः-- भाग्यशालिनः; तदङ्गरजसा – तेषामङ्गानां रजसा पांसुना मलिनी भवन्ति कलुषी भवन्ति । स्वभावोक्तप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारो । वसन्ततिलका छन्दः ।।१७।।

एवम् ''''' ''''''''' — ' ''' ''''''''' '' चन्दनम् ।।१८।।

एवम् आश्रमविरुद्धवृत्तिना—आश्रमविरुद्धाचारेण, त्वया जन्मतः—जन्म-कालात्, सत्त्वसंश्रयसुखः—सत्त्वानां जीवानां संश्रयेण रक्षणेन सुखः सुखकरः अपि संयमः—अहिंसादिनियमः, कृष्णसर्पशिशुना = कृष्णे भुजङ्गबालेन, चन्दनम्—चन्दनवृक्षम् इव किमिति —कुतो नु दूष्यते—विहन्यते ।

उपमालङ्कारः । रथोद्धता छन्दः ।।१८।।

अनेन ''' ''' — '' — — '''— ''' ''' — ''' — '''प्ररूढः ।।१९।।

कस्यापि कुलाङ्कुरेण--वंशाङ्कुरेण अनेन—बालकेन स्पष्टस्य—आलिङ्गि-तस्य मम—दुष्यन्तस्य गात्रेषु—अङ्गेषु एवं सुखम् (भवति) यस्य कृतिनः—भाग्य-शालिनः अङ्कात्—उत्तमाङ्गात् अयम् प्ररूढः प्रसूतः तस्य चेतसि—चित्ते, काम् निवृत्तिम् – शान्तिम् कुर्यात् ।

रूपकालङ्कारः, उपजातिश्च छन्दः ।

भवनेषु ''' ''' — ''' — — ''' तेषाम् ।।२०।।

ये—पुरुवंशिनो राजानः, पूर्वम्—यौवने, क्षितिरक्षार्थम्—पृथ्वीरक्षणार्थम्, रसाधिकेषु--रसबहुलेषु, भवनेषु—प्रासादेषु, निवासम्—निवासनम्, उशन्ति—वाञ्छन्ति ।

परिणामालङ्कारः, मालभारिणी च छन्दः । तल्लक्षणम्—

विषमे ससजा गुरु समे चेत् सभरायेन तु मालभारणीयम् ।।२०।।

वसने '''''' '' ''' — ''' ''''''''''' ''' विभर्ति ।।२१।।

परिधूसरे— परि परितः धूसरे मलिने, वसने—वस्त्रे वस्त्रयुगलामित्याशयः वसाना—दधाना, नियमक्षाममुखी—नियमैः व्रतादिभिः क्षामं दुर्बलं मुखं वदनं यस्याः सा, धृतैकवेणिः–धृता एकावेणिः यया सा, शुद्धशीला-शुद्धं पवित्रं शीलं स्वभावो यस्याः सा, अति निष्करुणस्य—अति कठोर चेतसः मम—दुष्यन्तस्य, दीर्घं=बहुकाल

व्यापि विरहव्रतं विरहनियमपरिपालनव्रतं बिभर्ति = धत्ते ।

रूपक-काव्यलिङ्गस्वभावोक्त्यालङ्काराः मालभारिणी छन्दः ।

लक्षणन्तु पूर्वश्लोक व्याख्यायामुक्तम् ॥२१॥

स्मृति भिन्नमोहतमसो ··· ··· योगम् ॥२२॥

हे सुमुखि ! = हे सुवदने ! दिष्टया = सौभाग्येन, स्मृति-भिन्नमोहतमसः = स्मृत्या भिन्न मोह एवतमो मोहतमो यस्य तस्य, स्मरणापगत मोहान्धकारस्य मे = मम, प्रमुखे = संमुखे, स्थिता असि, तन्नूनम उपरागान्ते = ग्रहणान्ते रोहिणी = नक्षत्रविशेषः, शशिनः = चन्द्रमसः योगम् = संयोगम्, उपगता = प्राप्ता । निदर्शना दृष्टान्तालङ्कारो । आर्याछन्दः ॥२२॥

बाष्पेण ··· ··· — ··· ··· मुखम् ॥२३॥

बाष्पेण हर्षाश्रुभिः, जयशब्दे = जयतु, जयतु, इति शब्दे प्रतिषिद्धेऽपि = अवरुद्धेऽपि, मया जितम्, विजय एव मे जात यत् असंस्कारपाटलोष्ठ पुटम् = असंस्कारे प्रसाधनाभावे पाटलः = श्वेतरक्तः ओष्ठपुटः यस्य तादृशं ते = तव मुखं — वदनं, दृष्टं = अवलोकितम् ॥

विरोधाभासकाव्यलिङ्गालङ्कारो । अनुष्टुप छन्दः ॥२३॥

सुतनु ··· ··· ··· ··· ··· अहिशङ्कया ॥२४॥

हे सुतनु = शोभनगात्रसम्पन्ने, ते = तव, हृदयात् मनसः प्रत्यादेशव्यलीकम् = प्रत्यादेशेन प्रत्याख्यानेन व्यलीकं पीडा मन्युर्वा अपैतु = गच्छतु तदा = तत्काले, मे = मम, किम्, बलवान् = प्रबलः, मनसः संमोहः = अज्ञानम् अभूत् = सञ्जातः हि = यतः, शुभेषु = शुभप्रदेष्वपिवस्तुषु, प्रबलतमसाम् = प्रबलदज्ञानावृतचेतसाम्, वृत्तयः = प्रवृत्तयः एव प्रायाः = एवं विधाः, अन्धः शिरसी क्षिप्ताम् = निहितां, स्रज-मपि = मालामपि, अहिशङ्कया = सर्पभ्रान्त्या, धुनोति = तिरस्करोति ।

काव्यलिङ्गभ्रान्तिमानालङ्कारो । हरिणी छन्दः । २४॥

मोहात् ··· ··· ··· — ··· ··· ··· भवेयम् ॥२५॥

हे सुतनु, यः बाष्पबिन्दुः = अश्रुबिन्दुः, ते = तव, अधरम् = अधरोष्ठ्यं, परिबाधमानः = आविलयन्, मया दुष्यन्तेन, मोहात् = अज्ञानेन, पूर्वम् उपेक्षितः = न वणितः, आकुटिलपक्ष्मविलग्नम् = आईषत् कुटिलेषु विलग्नं संलग्नं तम् बाष्पं प्रमृज = अपनीय विषतानुशयः = व्ययगत सन्तापः भवेयम् तावत् ।

काव्यलिङ्गालङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२५॥

पुत्रस्य ते ··· ··· ··· ··· ··· — मघोनः ॥२६॥

अयं दुष्यन्त इत्यभिहितः = दुष्यन्त इति नाम्ना विदितः, भुवनस्य = भूमण्डलस्य भर्ता = रक्षकः, ते = तव, पुत्रस्य = इन्द्रस्य रणशिरसि = युद्धभूमौ, अग्रयायी =

अग्रेसरः यस्य चापेन=धनुषा, विनिवर्तितकर्म=विनिर्वर्तितं समापितं कर्म कार्यं यस्य तादृशं सत् कोटिमत्=शतकोटि, तत् कुलिशं—वज्रं मघोनः=इन्द्रस्य, आभरणम्=भूषणम्, जातम्=भूषण तमेव केवलं वज्रमिन्द्र हस्ते तिष्ठति। उदात्त-रूपकालङ्कारौ। वसन्ततिलका छन्दः ॥२६॥

प्राहुः ········ ···· ··· ·· ··· ··· एकान्तरम् ॥२७॥

मुनयः=ऋषयः, यत् द्वादशधा=द्वादशप्रकारेणस्थितस्य, तेजसः=आदित्यस्य सूर्यस्य, कारणं=निदानं, प्राहुः=प्रोचुः, यत् भुवनत्रयस्य=लोकत्रयस्य, भर्तारं=पालयितारं, यज्ञभागेश्वरम्=देवराजमिन्द्रं, सुषुवे=जनयामास, यस्मिन्=द्वन्द्वे, आत्मभुवः=ब्रह्मणः परः=श्रेष्ठः पुरुषः=विष्णुः, अपि, भवाय=लोकश्रेयसे, आस्पदम्=प्रतिष्ठां, चक्रे=चकार, दक्षमरीचिसम्भवं=दक्षमरीचिजात, स्रष्टुः=ब्रह्मणः, एकान्तरम्=एकं एकपुरुषमात्रं अन्तरं व्यधानं यस्य तत्तथा तत् इदं द्वन्द्वम्-मिथुनम्। उदात्तालङ्कारः, शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥२७॥

आखण्डलसमो ········· — ··· ···· ··· · · भव ॥२८॥

भर्ता=पतिः, आखण्डलसमः=इन्द्रसदृशः, सुतः=पुत्रः, जयन्तः प्रतिमः=इन्द्रपुत्रजयन्तसदृशः, पौलोमी सदृशी=इन्द्राणी तुल्या भव, अन्या आशीः=आशीर्वादः, ते—तव योग्या न—नास्ति ॥२८॥

दिष्ट्या······ ······ ········· तत्समागतम् ॥२९॥

साध्वी—पतिव्रता, शकुन्तला, इदम् सत् अपत्यम्—अयं शोभन पुत्री भरतः, भवान्—दुष्यन्तः, दिष्ट्या—सौभाग्येन, श्रद्धा—शुद्धाभावः, वित्तं—धनं, विधि—युक्तो मार्गः च इति तत् त्रितयम् समागतम्—सम्मिलितम्।

समनिदर्शनालङ्कारौ। अनुष्टुप् छन्दः ॥२९॥

उदेति ··· ··· — ··· ·· ··· ··· ···संपदः ॥३०॥

पूर्वं—प्रथमं, कुसुमं—पुष्पं, उदेति—उद्गच्छति ततः—कुसुमानन्तरं, फलं पूर्वं, घनोदयः—मेघोदयः (भवति)तदनन्तर-तत्पश्चात्, पयः—जलं, निमित्तनैमित्तकयोः—कार्य-कारणयोः अयं क्रमः, तव—भवतः, प्रसादस्य—अनुग्रहस्य, तु पुरः—पूर्वमेव, सम्पदः—फलसम्पदः।

अतिशयोक्त्याप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारौ। वंशस्थ छन्दः ॥३०॥

यथा गजः········ ········ — ········ · विकारः ॥३१॥

यथा—येन प्रकारेण, समक्षरूपे—प्रत्यक्षरूपे, गज—हस्ती, न इति भ्रान्तिः स्यात् तस्मिन्—गजे, अपक्रामति—गच्छति सति, संशयः—सन्देहः, (अयं गजो न वेति

सन्देहः) स्यात्, पदानि--हस्तिपदचिह्नानि, द्रष्ट्वा--अवलोक्य, तु प्रतीतिः—गज एवायमासीदिति विश्वासः, भवेत्--स्यात्, तथाविधः--तादृशः, मे--मम, मनसः--चेतसः विकारः--चित्तविभ्रमः आसीत्।

निदर्शनालङ्कारः, उपजातिश्च छन्दः ॥३१॥

शापात् .... सुलभावकाशा ॥३२॥

शापात् दुर्वाससः शापात्, स्मृति रोधरुक्षे--स्मृतेः स्मरणशक्तेः रोधात् भ्रंशात् रुक्षे क्रूरे, भर्तरि पत्यौ, प्रतिहता--निराकृता, अपि, अपेततमसि--पूरीभूत-मोहे, तवैव प्रभुता-प्रभुत्वं, मलोहतप्रसादे-मलविनष्टनैर्मल्ये, दर्पणतले-मुकुरे; छाया-प्रतिबिम्ब, न मूर्च्छति--न प्रकाशेत, शुद्धे--निर्मले, दर्पणतले तु सुलभावकाशा--सुलभोऽवकाशो यस्याः सा स्पष्टा भवति।

अत्रालङ्कारौ हेतुदृष्टान्तौ। छन्दश्च वसन्ततिलका ॥३२॥

रथेन ... ... भरणात् ॥३३॥

अप्रतिरथः=प्रतिद्वन्द्विरहितः, अयं = तव पुत्रः, अनुद्घातस्तिमितगतिना =अनुद्घाता अस्खलिता स्तिमिता निश्चला च गतिर्यस्य तेन रथेन--स्यन्दनेन, तीर्णजलधिः—तीर्णाः उत्तीर्णाः जलधयो येनासौ पुरा—पूर्वं सप्तद्वीपां—सप्तद्वीपयुक्तां वसुधां—पृथ्वीं जयति। इह—अस्मिन् आश्रमे, सत्त्वानां—जीवानां, प्रसभदमनात्—प्रसभेन बलेन दमनात् पीडनात् सर्वदमनः—एतन्नामकस्तव पुत्रः, पुनः—भूयः, लोकस्य—जगतः, भरणात् — पालनात्, भरतः, इत्याख्यां, इति संज्ञां यास्यति—गमिष्यति। भाविक काव्यलिङ्गालङ्कारौ। शिखरिणी छन्दः ॥३३॥

प्रवर्त्ततां ... ... — ... ... आत्मभूः ॥३४॥

पार्थिवः—राजा, प्रकृतिहिताय—प्रजाहिताय, प्रवर्त्तताम्—प्रवृत्तो भवतु, श्रुतमहतां — श्रुतेन शास्त्रवश्रणेन महतां — गरीयसां महीयसां — उत्कृष्टानां सरस्वती-वाणी (प्रवर्त्तताम्) परिगतशक्तिः-शक्तिसंवलितः, आत्मभूः—स्वयंप्रकाशः, नीललोहितः-शिवः ममापि-सूत्रधारस्य, कालिदासस्येति निगूढोऽर्थः, पुनर्भवं-पुनर्जन्म क्षपयतु-नाशयतु। क्रियादीपकालङ्कारः, रुचिरा च छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः" ॥३४॥

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

हमारे उपयोगी प्रकाशन